

Printed by Ramchandra Yeshu Sledge, at the 'Nirnaya-sagar'  
Press, 23 Ko'hat Lane, Bombay.

---

Edited by Shri Retalankar Jagajeevan Javeri Hon. Vyasarajpal  
Shree Paramashrota Prabhavak Mandal, Javeri Pozar,  
Kharakusa, Bombay. No 2.



## प्रस्तावना.

आज मैं मोक्षके इच्छुक पाठकोके सम्मुख इस यथार्थ गुणवाले परमात्मप्रकाश ग्रंथको दो टीकाओंसहित उपस्थित करता हूँ । यह ग्रंथ साक्षात् मोक्षमार्गका प्रतिपादक है । जिस तरह श्रीधुंदकुंदाचार्यकी प्रसिद्ध नाटकप्रथी है उसी तरह यह भी अध्यात्मविषयकी परम सीमा है क्योंकि ग्रंथकर्ताने स्वयं इस ग्रंथके पढ़नेका फल लिखा है कि इसके हमेशा अभ्यास करनेवालोंको मोक्ष कर्म दूर होकर फेवलज्ञानपूर्वक मोक्ष अवश्य ही होसकती है परंतु इन ग्रंथके पात्र बनकर अभ्यास करना चाहिये अन्यथा यगलाभक्तिसे इच्छित फल नहीं मिल सकता । इसका आनंद ये ही भव्यजीव जान सकेंगे जो इसका शुद्ध मनसे स्वाध्याय और इसके अनुसार आचरण करेंगे । वचनसे इसकी प्रशंसा नहीं होसकती । कविधर बनारसीदासजीने भी अपने नाटकसमयसारमें कहा है कि 'हे जीव यदि तू असली आत्मीकमुसका खाद चखने चाहता है तो जैसे विषयभोगादिमें हमेशा चिच लगाता है वैसे आत्माके स्वरूपके विचारमें छह महीना कमसे कम अभ्यास करके देस ले तो तुझे स्वयं उम परमानंदके रसका अनुभव होजाइगा' इत्यादि । इसलिये इसका पठन मनन करनेसे इसका आनंद व फल उनको अवश्य मिल सकेगा ।

इस आत्माकी अनंत शक्ति है यह धान आजकलके मिजली आदि अचेतन पदार्थोंको देखनेवाले व्यवहारी जीवोंको झूठी मादम पड़ती होगी परंतु जिसका "आत्मा अनंत शक्तिवाला है" ऐसा वचन है उसीने यह भी कह दिया है "ब्रगज्जेवं जयेत् सरं अर्थात् जगतको जीतनेवाले कामदेवको जिसने जीतलिया है" इस वचनकी तरफ किसीकी भी दृष्टि नहीं पड़ती । अतएव ब्रह्मचर्यपालनेवाला ही इसका पात्र हो सकता है ।

इस ग्रंथके मूलकर्ता श्री योगीन्द्रदेव हैं । उन्होंने अपने 'प्रभाकरमठ'के प्रभू करनेपर जगतके सब भव्यजीवोंके कल्याण होनेका विचार रस कर उत्तररूप उपदेश प्राकृतभाषामें तीनसौ पैंतालीस दोहा छंदोंमें दिया है । ये आचार्य इनकी कृति देसनेसे तो बहुत प्राचीन मादम होते हैं परंतु इनका जन्मसंघत् तथा जन्मभूमि हमें निश्चित नहीं हुई है । इन प्राकृतदोहा गृधोपर श्री ब्रह्मदेवजीने संस्कृतटीका रची ।

ब्रह्मदेवके समयनिर्णयके लिये शृङ्खलसंग्रहमें मुद्रित हो चुका है कि विक्रमकी १६ वीं शताब्दिके मध्यमें किसीसमय श्री ब्रह्मदेवजीने अपने अवतारसे भारतवर्षको पवित्र किया था । विशेष शृङ्खलसंग्रहमें देखलेना ।

इस संस्कृत टीकाके अनुसार ही पंडित दौलतरामजीने प्रजभाषा बनाई । यद्यपि उक्त पंडितजीकृत भाषा प्राचीनपद्धतिसे बहुत ठीक है परंतु आजकलके नवीन प्रचलित हिंदी-भाषाके संस्कारकमहाशयोंकी दृष्टिमें वह भाषा सर्वदेशीय नहीं समझी जाती है । इस कारण मैंने पंडित दौलतरामजीकृत भाषानुवादके अनुसार ही नवीन सरल हिंदीभाषामें अतिकल अनुवाद किया है । इतना फेरफार अवश्य हुआ है कि उस भाषाको अन्वय तथा भावार्थरूपमें बांट दिया है । अन्य कुछभी न्यूनाधिकता नहीं की है । कहीं लेखकोंकी भूलसे कुछ छूटगया है उसको भी मैंने संस्कृतटीकाके अनुसार संभाल दिया है ।

इस ग्रंथका जो उद्धार स्वर्गिय तत्त्वज्ञानी श्रीमान् रायचंद्रजी द्वारा स्थापित श्रीपरमधुन-प्रभावकमंडलकी तरफसे हुआ है इसलिये उक्त मंडलके उत्साही प्रबंधकर्त्ताओंको कोटिंगः धन्यवाद देता हूँ कि जिन्होंने अत्यंत उत्साहित होकर ग्रंथ प्रकाशित कराके मध्य जीवोंको महान् उपकार पहुंचाया है । और श्रीजीसे प्रार्थना करता हूँ कि वीतरागप्रणीत उच्च श्रेणीके तत्त्वज्ञानका इच्छित प्रसार करनेमें उक्तमंडल कृतकार्य होवे ।

द्वितीय धन्यवाद श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीको दिया जाना है कि जिन्होंने इस ग्रंथकी संस्कृतटीकाकी प्राचीन प्रति लाकर प्रकाशित करनेकी अत्यंत प्रेरणा की । उन्हींके उत्साह दिलानेसे यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ है ।

अब मेरी अंतमें यह प्रार्थना है कि जो प्रमादवश दृष्टिदोषसे तथा बुद्धिकी न्यूनतासे कहीं अशुद्धियां रह गई हों तो पाठकगण मेरे ऊपर क्षमा करके शुद्ध करते हुए पढ़ें क्योंकि इस आध्यात्मिक ग्रंथमें अशुद्धियोंका रहजाना संभव है । इस तरह धन्यवादपूर्वक प्रार्थना करता हुआ इस प्रस्तावनाको समाप्त करता हूँ । अर्ल विज्ञेपु ।

खतरगली हौदावाड़ी

पो० गिरगांव—बंबई

वैशाख वदि ३ बी० सं० १४४२

जैनसमाजका सेवक

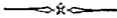
मनोहरलाल

पादम ( मैनपुरी ) निवासी ।

श्री धीतरागाय नमः ।

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालाद्वारा प्रकाशित ग्रन्थोंका

## सूचीपत्र ।



१ पुरुपार्थसिद्धशुपाय भाषाटीका यह धी अमृतचन्द्रस्वामी विरचित प्रसिद्ध शास्त्र है । इसमें आचारसंबन्धी बड़े २ गूढ रहस्य हैं विशेष कर हिंसाका स्वरूप बहुत सूचीके-साथ दरसाया गया है, यह एक बार छपकर विक्रमयाथा इसकारण फिरसे संशोधन कराके दूसरीबार छपाया गया है । न्यो. १ रु.

२ पञ्चास्तिकाय संस्कृत. भा. टी. यह धीकुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल और श्रीअमृतचन्द्रगूरीकृत संस्कृतटीकासहित पहले छपा था । अबकी बार इसकी दूसरी आवृत्तिमें एक संस्कृतटीका तात्पर्यवृत्ति नामकी जो कि श्रीजयसेनाचार्यने बनाई है अर्धकी सरलताके-लिये लगादी गई है तथा पहली संस्कृतटीकाके सूक्ष्म अक्षरोंको मोटा करादिया है और गाथासूची व विषयसूची भी देखनेकी सुगमताके लिये लगादी हैं । इसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म और आकाश इन पांच द्रव्योंका तो उत्तम रीतिसे वर्णन है तथा कालद्रव्यका भी संक्षेपसे वर्णन किया गया है । इसकी भाषा टीका स्वर्गीय पांडे हेमराजजीकी भाषा-टीकाके अनुसार नवीन सरल भाषाटीकामें परिवर्तन कीगई है । इसपर भी न्यो. २ रु.

३ ज्ञानार्णव भा. टी. इसके कर्ता श्रीशुभचन्द्रस्वामीने ध्यानका वर्णन बहुत ही उत्तमतासे किया है । प्रकरणवश प्रश्नार्थव्रतका वर्णन भी बहुत दिखलाया है यह एक-बार छपकर विक्रमया था अब द्वितीयवार संशोधनकराके छपाया गया है । न्यो. ४ रु.

४ सप्तभंगीतरंगिणी भा. टी. यह न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है इसमें ग्रंथकर्ता श्रीविमलदासजीने स्वादन्ति, स्वात्सलि आदि सप्तभंगी नयका विवेचन नव्यन्यायकी रीतिसे किया है । स्वाद्वादमत क्या है यह जाननेकेलिये यह ग्रंथ अवश्य पढ़ना चाहिये । इसकी पहली आवृत्तिमेंकी एक भी प्रति नहीं रही, अब दूसरी आवृत्ति छपकर प्रकाशित हुई है । न्यो. १ रु.

५ बृहद्रव्यसंग्रह संस्कृत भा. टी. धीनेमिचन्द्रस्वामीकृत मूल और श्रीब्रह्मदेवजीकृत संस्कृतटीका तथा उसपर उत्तम बनाई गई भाषाटीका सहित है । इसमें छह द्रव्योंका स्वरूप अतिस्पष्टरीतिसे दिखाया गया है । न्यो. २ रु.

६ द्रव्यानुयोगतर्कणा इस ग्रंथमें शास्त्रकार श्रीमद्गोत्रगागरजीने गुग्गुलुनाम मन्दबुद्धि-जीवोंको द्रव्यज्ञान होनेकेलिये 'अथ, "गुणपर्यवचयम्" इस महाशास्त्र नत्त्वार्थमूत्रके अनुकूल द्रव्य—गुण तथा अन्य पदार्थोंका भी विशेष वर्णन किया है और प्रमगण 'स्यादस्ति' आदि सप्तमंगोंका और दिगंवरान्चार्यवर्य श्रीदेवमेनस्वामीविरचित नयनकके आ-धारसे नय, उपनय तथा मूलनयोंका भी विस्तारसे वर्णन किया है । न्यो. २ रु.

७ सभाष्यतत्त्वार्थाधिगममूत्र इसका दूसरा नाम तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र भी है । जैनियोंका यह परमान्य और मुख्य ग्रन्थ है । इसमें जैनधर्मके संपूर्णसिद्धान्त आचार्यवर्य श्रीउमास्वाति ( मी ) जीने बड़े लाघवसे संग्रह किये हैं । ऐसा कोई भी जैनसिद्धान्त नहीं है जो इसके सूत्रोंमें गमित न हो । सिद्धान्तसागरको एक अत्यन्त छोटेसे तत्त्वार्थरूपी घटमें भरदेना यह कार्य अनुपमसामर्थ्यवाले इसके रचयिताका ही था । तत्त्वार्थके छोटे २ सूत्रोंके अर्थगाम्भीर्यको देखकर विद्वानोंको विस्मित होना पड़ता है । न्यो. २ रु.

८ स्वाद्वादभंजरी संस्कृत भा. टी. इसमें छहों मतोंका विवेचनकरके टीका कर्ता विद्वद्भर्य श्रीमहिषेणसूरीजीने स्वाद्वादको पूर्णरूपसे सिद्ध किया है । न्यो. ४ रु.

९ गोम्मटसार ( कर्मकाण्ड ) संस्कृतछाया और संक्षिप्त भाषाटीका सहित । यह महान् ग्रन्थ श्रीनेमिचन्द्राचार्यसिद्धान्तचक्रवर्तीका बनाया हुआ है । इसमें जैनतत्त्वोंका स्वरूप कहते हुए जीव तथा कर्मका स्वरूप इतना विस्तारसे है कि बचनद्वारा प्रशंसा नहीं होसकती देखनेसेही माखस होसकता है, और जो कुछ संसारका शृंगार है वह इन्हीं दोनों ( जीव-कर्म ) के संबन्धसे है सो इनदोनोंका स्वरूप दिखानेकेलिये अपूर्व सूर्य है । न्यो. २ रु.

१० गोम्मटसार ( जीवकांड )—यह पहले मूलमात्र तो दूसरी जगह छप चुका था और इसका कर्मकांड भी छाया तथा संक्षिप्तभाषाटीका सहित पहले इसी मंडलसे प्रकाशित हो चुका है । अब इसका 'जीवकांड' भी छाया भाषाटीका सहित छप गया है । केवल गाथा सूची विषयसूची आदि परिशिष्टके दो तीन फारम छपना बाकी हैं सो शीघ्र ही तयार कराकर पाठकोंकी सेवामें पहुंचाया जादगा । न्योछावर लगभग पैंने तीन २॥॥ ) रु० के होगी ।

११ प्रवचनसार श्रीअमृतचन्द्रसुरिकृत तत्त्वप्रदीपिका सं. टी., "जो कि यूनिवर्सिटीके फोर्समें दाखिल है" तथा श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति सं. टी. और बालावबोधिनी भाषाटीका इन तीन टीकाओं सहित छपाया गया है । इसके मूलकर्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य हैं । यह अध्यात्मिक ग्रन्थ है । न्यो. ३ रु.

१२ परमात्मप्रकाश यह ग्रंथ श्रीयोगीन्द्रदेव रचित प्राकृतदोहाओंमें है । इसकी संस्कृत-टीका श्रीब्रह्मदेवकृत है तथा भाषाटीका पं० दौलतरामजीने की है उसके आधारसे नवीन

प्रचलित हिंदीभाषा अन्यार्थ भावार्थ पृथक् करके बनाई गई है। इसतरह दो टीकाओं सहित छपकर तयार है। ये अध्यात्मग्रन्थ निश्चयमोक्षमार्गका साधक होनेसे बहुत उपयोगी है। न्योछावर तीन ३ ) रु० है।

१३ मोक्षमाळा—कर्ता भरहुमसचावधानी कवी श्रीमद्राजचंद्र छे. आ एक साद्-  
वाद तत्वावबोधवृक्षनुं बीज छे. आ ग्रंथ तत्व पामवानी जिज्ञासा उत्पत्त करीशके एवं  
एमां कंड अंशे पण दीवत रसुं छे. आ पुस्तक प्रसिद्ध करवानो मुख्य हेतु उछरता बाळ  
युवानी अविवेकी विधापामी जे आत्मसिद्धीधी भट थाय छे ते भटता अटकाववानो छे.  
आ मोक्षमाळा मोक्षमेळववानां कारण रूप छे. आ पुस्तकनी वे वे आवृतिओ खलास यइ  
गइछे अने प्राहकोनी बहोळी मागणी थी आ श्रीजी आवृति छपावी छे. कीमत बार ।।। )  
आना.

१४ भावनाबोध—आ ग्रंथना कर्ता पण उक्त महापुरुपज छे. वैराग्य ए आ ग्रंथनो  
मुख्यविषय छे. पात्रना पामवानुं अने कषायमल दूर करवानुं आ ग्रंथ उत्तम साधन छे.  
आत्मगवेषिओने आ ग्रंथ आनंदोल्लाम आपनार छे. आ ग्रंथनी पण वे आवृतिओ खपी  
जवाधी अने प्राहकोनी बहोळी मागणी थी आ श्रीजी आवृति छपावी छे. कीमत चार आना.  
आबंने ग्रंथो रास करीने प्रभावना करवामारु अने पाठशाळा, ज्ञानशाळा ते मज  
स्कूलोमां विद्यार्थीओने विद्याभ्यास करवामाटे अति उत्तम छे. अने तेथी सर्व कोई  
लग्न लइ शके तेमाटे गुजराती भाषामां अने बालबोध टाइपमां छपावेल छे.

## आवश्यक सूचना ।

इस समय अपूर्व और अति उपयोगी दो महान् ग्रंथोंका प्रकाशन होरहा है ।

१ पोटशक प्रकरण—यह ग्रंथ श्वेताम्बराचार्य श्री हरिमद्रसूरिका बनाया हुआ सं-  
स्कृत आर्याछंदोंमें है इसमें सोलह धर्मोपदेशके प्रकरण है । इसका संस्कृत टीका तथा  
हिंदीभाषाटीका सहित प्रकाशन होरहा है । एक वर्षके लगभग तयार होजाइगा ।

२ लब्धिसार ( क्षणसार गर्भित )—यह ग्रंथ भी श्री नेमिचंद्राचार्यसिद्धांतचक्रव-  
र्त्ताका बनाया हुआ है और गोमटसारका परिशिष्ट भाग है । इसीसे गोमटसारके स्वा-  
ध्याय करनेकी सफलता होती है । इसमें मोक्षका मूलकारण सत्यत्वके प्राप्त होनेकी  
पांच लब्धियोंका वर्णन है फिर सम्यक्त्वहोनेके बाद कर्मके नाश होनेका बहुत अच्छा  
क्रम बतलाया गया है कि भव्यजीव शीघ्र ही कर्मोंसे छूट अनंतसुखको प्राप्त होकर अवि-  
नाशी पदको प्राप्त करते हैं । यह भी मूल गाथा छाया तथा संक्षिप्त भाषा टीका सहित  
छपाया जा रहा है । छह महीनेके लग भग तयार होजाइगा ।

## सादर निवेदन ।

आत्मकल्याणके इच्छुक मध्यजीवोंसे प्रार्थना है कि इस पवित्र शास्त्रमालाके ग्रन्थोंके ग्राहक बनकर अपनी चललक्ष्मीको अचल करें और तत्त्वज्ञानपूर्ण जैनसिद्धान्तोंका पठन पाठन द्वारा प्रचार कर हमारी इस परमार्थयोजनाके परिश्रमको सकल करें । तथा प्रत्येक सरस्वतीभण्डार, समा और पाठशालाओंमें इनका संग्रह अवश्य करना चाहिये ॥

इस शास्त्रमालाकी प्रशंसा मुनिमहाराजोंने तथा विद्वानोंने बहुत की है उसको हम स्वानुभावसे लिख नहीं सकते । और यह संज्ञा किसी स्वार्थकेलिये नहीं है केवल परी-पकारकेवास्ते है । जो द्रव्य आता है वह इसी शास्त्रमालामें उत्तमग्रन्थोंके उद्धारकेवास्ते उगाया जाता है ॥ इति शम् ॥ ता० २०।१।१६ ई०

ग्रंथोंके मिलनेका पता—

शा. रेवासंकर जगजीवन जौहरी,  
ऑनरैरी व्यवस्थापक श्रीपरमश्रुतप्रभावकर्मंडल,  
जौहरीबाजार-स्वाराकुवा. पो० नं. २ बंधई. ।



श्रीपरमात्मने नमः ।

श्रीमद्योगीन्द्रदेवविरचितः

## परमात्मप्रकाशः ।

( टीकाद्वयोपेतः )

श्रीमद्ब्रह्मदेवकृतसंस्कृतटीका ।

चिदानन्दैकरूपाय जिनाय परमात्मने ।

परमात्मप्रकाशाय नित्यं सिद्धात्मने नमः ॥ १ ॥

इदानीं प्रथमपातनिकाभिप्रायेण व्याख्याने क्रियमाणे ग्रन्थकारो ग्रन्थस्तादौ मंगलार्थ-  
मिष्टदेवतानमस्कारं कुर्वाणः सन् दोहकमूत्रमेकं प्रतिपादयति;—

जे जाया झाणग्गियण, कम्मकलंक डहेवि ।

णिघणिरंजणणाणमय, ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥

श्रीपंडित दौलतरामजीकृत भाषाटीका ।

दोहा—चिदानंद चिद्रूप जो, जिनपरमात्मदेव ।

सिद्धरूप मुचिशुद्ध जो, नमों ताहि करि सेव ॥ १ ॥

परमात्म निजवस्तु जो, गुण अनंतमय सुद्ध ।

ताहि प्रकासनके निमित्त, चंद्र देव प्रपुद्ध ॥ २ ॥

‘चिदानंद’ इत्यादि श्लोकका अर्थ—श्रीजिनेश्वर देव शुद्ध परमात्मा आनंदरूप  
चिदानंद चिद्रूप जो हैं उनकेलिये मेरा सदाकाल नमस्कार होवै । किसलिये । परमात्माके  
स्वरूपके प्रकाशनेके लिये । कैसे हैं वो भगवान् । शुद्ध परमात्मस्वरूपके प्रकाशक हैं  
अर्थात् निज और पर सबके स्वरूपको प्रकाशते हैं । फिर कैसे हैं । ‘सिद्धात्मने’ जिनका  
आत्मा श्रुतकृत्य है । सारांश यह है कि नमस्कार करनेयोग्य परमात्मा ही है इसलिये  
परमात्माको नमस्कारकर परमात्मप्रकाशनामा ग्रंथका व्याख्यान करता हूँ ॥



ये जाता ध्यानामिना कर्मकलङ्कानि दग्ध्वा ।

नित्यनिरञ्जनज्ञानमयास्तान् परमात्मनः नत्वा ॥ १ ॥

जे जाया ये केचन कर्तारो महात्मानो जाता उत्पन्नाः । केन कारणभूतेन । ज्ञान-  
गिगयए ध्यानामिना । किञ्चत्वा पूर्वं । कम्मकलंक डहेयि कर्मकलंकमलान् दग्ध्वा  
भग्नीकृत्वा । कथंभूताः जाताः । णिचणिरंजणणाणमय नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः ते परमप  
णवेवि तान्परमात्मनः कर्मतापन्नात्रत्वा प्रणम्येति तात्पर्यार्थेव्याख्यानं समुदायकथनं संपि-  
ण्डितार्थनिरूपणमुपोद्घातः संपह्वाक्यं वार्तिकमिति यावन् । इतो विशेषः । तथा—ये  
जाता उत्पन्ना मेघपटलविनिर्गतदिनकरकिरणप्रभाववत्कर्मपटलविघटनसमये सकलविमल-  
केवलज्ञानागनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपेण लोका लोकप्रकाशनममर्थेन सर्वप्रकारोपादेयभूतेन कार्य-  
ममयमारूपपरिणताः । कया नयविवक्षया जाताः । सिद्धपर्यायपरिणतिव्यक्तरूपतया  
धातुरागने सुवर्णपर्यायपरिणतिव्यक्तिवन् । तथाचोक्तं पंचास्तिकाये । पर्यायार्थिकनयेन  
“अभूदपुत्रो ह्वदि मिटो” इत्यार्थिकनयेन पुनः शतशोपेक्षया पूर्वमेव शुद्धबुद्धैकस्वभावा-

अब प्रथमरातनिकाके अभिप्रायसे व्याख्यान किया जाता है उसमें ग्रंथकर्ता श्री-  
योगान्द्राचार्य ग्रंथके आदिमें मंगलकेलिये इष्टदेवता श्रीभगवानको नमस्कार करते  
हुए एक दोहाउंठ कहते हैं;—[ ये ] जो भगवान [ ध्यानामिना ] ध्यानरूपी अगिसे  
[ कर्मकलङ्कानि ] पहले कर्मरूपी मेलोंको [ दग्ध्वा ] भसाकरके [ नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः  
जाताः ] नित्य, निरञ्जन और ज्ञानमयी सिद्ध परमात्मा हुए हैं [ तान् ] उन  
[ परमात्मनः ] मिटोंको [ नत्वा ] नमस्कारकरके मैं परमात्मप्रकाशका व्याख्यान करता  
हूँ । यह मीमांसा व्याख्यान किया । इसके बाद विशेष व्याख्यान करते हैं—जैसे मेघप-  
टलमें बादर निकली हुई सूर्यकी किरणोंकी प्रभा प्रकट होती है उगीतरह कर्मरूप  
मेघपटलके विघटन होनेपर अत्यंत निर्मल केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयकी प्रगटतात्पर्यरूप  
परमात्म परिणत हुए हैं । अनंतचतुष्टय अर्थात् अनंतज्ञान अनंतदर्शन अनंतगुण अनंतरीधे  
ये अनंतचतुष्टय स्वयंकार अंगीकार करने योग्य हैं तथा लोकालोकके प्रकाशनेको समर्थ  
हैं । अब सिद्धपर्यायपरिणतिव्यक्तिरूप परिणते तत्र कार्यमयगार हुए । अनंतरात्मभव-  
सत्ते कागलनमयमय ये । तत्र कार्यमयगार हुए तत्र सिद्ध पर्याय परिणतिकी प्रगटतात्पर्यरूप  
शुद्ध परमात्म हुए । जैसे मीमांसा अन्वधानुक्त मित्रागमे रक्षित हुआ अपने सोदृशानरूप  
प्रगट होता है उसीतरह कर्म के दग्धकरके सिद्धपर्यायपरिणते । तथा पंचास्तिकायमें  
भी कहा है—ये पर्यायार्थिकनयकर “अभूदपुत्रो ह्वदि मिटो” अर्थात् जो पहले  
निर्दूतपरिणत कर्मी नहीं करते थे वह कर्मदग्धके विनाशमें पाएँ । यह पर्यायार्थिकनयकी  
सुदृशतासे कथन है, और इत्यार्थिकनयकर शक्ति की अंगेता यह जीव सारा ही शुद्ध बुद्ध

निष्ठानि धातुपापाणे सुवर्णशक्तिवत् । तथाचोक्तं द्रव्यसंग्रहे । शुद्धद्रव्याधिकनयेन “सर्वे शुद्धा हु शुद्धण्या” सर्वे जीवाः शुद्धसुद्वैक्यभावाः । फेन जाताः । ध्यानाग्निना करण-भूतेन ध्यानशब्देन आगमापेक्षया धीतरागनिर्विकल्पशुद्धध्यानं, अध्यात्मापेक्षया धीतराग-निर्विकल्परूपातीतध्यानं । तथाचोक्तं । “पदस्यं मन्त्रवाक्यस्यं पिण्डस्यं स्वात्मचिन्तनं । रूपस्यं सर्वेष्विदं रूपार्तलं निरंजनम् ॥” तत्र ध्यानं वस्तुवृत्त्या शुद्धालाराम्यशु-भदानमानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयालकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नीतरागपरमानन्दसमरसीभा-वसुखररागादरूपमिति शालक्यम् । किं कृत्वा जाताः । कर्ममलकलङ्कान् दग्ध्वा कर्ममल-शब्देन द्रव्यकर्मभावकर्माणि गृह्यन्ते । पुद्गलपिण्डरूपाणि हागावरणारीन्यष्टौ द्रव्यकर्माणि, रागादिसंकल्पविकल्परूपाणि पुनर्भावरकर्माणि । द्रव्यकर्मदहनमुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन भावकर्मदहनं पुनरशुद्धनिश्चयेन, शुद्धनिश्चयेन घन्धमोक्षौ न सतः । इत्थंभूतकर्ममलकलङ्कान् दग्ध्वा कर्मभूता जाताः । नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः । क्षणिककान्तवादिसौगतमतानुसारि-

( ज्ञान ) स्वभाव तिष्ठता है । जैसे धातुपापाणके मेलमें भी शक्तिरूप सुवर्ण मौजूद ही है क्योंकि सुवर्णशक्ति सुवर्णमें सदाही रहती है जब पर वस्तुका संयोगदूर होजाता है तब वह व्यक्तिरूप होता है । सारांश यह है कि शक्तिरूप तो पहले ही था लेकिन व्यक्तिरूप सिद्धपर्याय पानेसे हुआ ॥ शुद्ध द्रव्याधिकनयकर सभी जीव सदा शुद्ध ही हैं । ऐसा ही द्रव्यसंग्रह में कहा है “सर्वे शुद्धा हु शुद्धण्या” अर्थात् शुद्ध नयकर सभी जीव शक्ति-रूप शुद्ध हैं और पर्यायाधिकनयसे व्यक्तिरूप शुद्ध हुए । किस कारणसे ! ध्यानाग्निना अर्थात् ध्यानरूपी अग्निकर कर्मरूपी कलंकोंको भस्म किया तब सिद्धपरमात्मा हुए । वह ध्यान कौनसा है ! आगमकी अपेक्षा तो धीतराग निर्विकल्प शुद्धध्यान है और अध्यात्म-की अपेक्षा धीतराग निर्विकल्प रूपातीत ध्यान है । तथा दूसरी जगह भी कहा है— “पदस्यं” इत्यादि, उसका अर्थ यह है कि जमोकार मंत्र आदिका जो ध्यान है वह पदस्य कहलाता है, पिंड ( शरीर ) में ठहरा हुआ जो निज आत्मा है उसका चिंतवन वह पिंडव्य है, सर्व चिद्रूप ( सकल परमात्मा ) जो अरहंतदेव उनका ध्यान वह रूपस्य है और निरंजन ( सिद्ध भगवान ) का ध्यान रूपानीत कहा जाता है । वस्तुके स्वभावसे विचारा जावे तो शुद्ध आत्माका सम्बन्धदर्शन सम्बन्धज्ञान सम्बन्ध चरित्ररूप अभेद रसप्रयमई जो निर्विकल्प समाधि है उससे उत्पन्न हुआ धीतराग परमानंद समरसी भाव सुखरसका आस्वाद वही जिसका स्वरूप है ऐसा ध्यानका लक्षण जानना चाहिये । इसी ध्यानके प्रभावसे कर्मरूपी मेल सौई हुए कलंक उनको भस्मकर सिद्ध हुए । कर्मकलंक अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म इनमेंसे जो पुद्गलपिंडरूप ज्ञानावरणादि आठ कर्म थे द्रव्यकर्म हैं और रागादिक सकल्प विकल्परूप परिणाम भावकर्म कहेजाते हैं । वही भावकर्म का दहन

शिष्यं प्रति द्रव्यार्थिकनयेन नित्यदङ्कोत्कीर्णज्ञापकस्वभावपरमानन्दद्रव्यव्यवस्थापनार्थं नित्यविशेषणं कृतं, अथ कल्पमते मते जगत् शून्यं भवति पञ्चात्मदाशिवे जगत्करणविषये चिन्ता भवन्ति तदनन्तरं मुक्तिगमनां जीवानां कर्माञ्जनमयोगं कृत्वा संसारे पतनं करोतीति नैयायिका वदन्ति तन्मतानुमारिशिष्यं प्रति भावकर्मद्रव्यकर्मनोक्कर्मञ्जननिषेधार्थं मुक्तजीवानां निरञ्जनविशेषणं कृतं । मुक्तात्मनां मुनावस्थाद्रहिर्ज्ञेयविषये परिष्ठानं नास्तीति सांख्ये वदन्ति तन्मतानुमारिशिष्यं प्रति जगत्प्रयत्नकालत्रयवर्तिमवंपदार्थयुगात्परिच्छित्तिरूपकेवलज्ञानम्यापनार्थं ज्ञानमय-विशेषणं कृतमिति । तानित्यंभूतान् परमात्मनो ज्ञत्वा प्रणम्य नमस्कृत्येति क्रियाकारकमवन्धः । अत्र नत्वेति शब्दरूपो वाचनिको द्रव्यनमस्कारो प्राह्ममद्रूतव्यवहारनयेन ज्ञानव्यः, केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारः पुनरगुदनिश्चयनयनेति, गुदनिश्चयनयेन वन्धवन्धकभावो नास्तीति । एवं पदस्वण्डनारूपेण शब्दार्थः कथितः, नयविभागकथनरूपेण

अगुद निश्चयनयकर हुआ, तथा द्रव्यकर्मका देहन असद्रूत अनुपचरितव्यवहार नयकर हुआ । और गुदनिश्चयकर तो जीवके बंधमोक्ष दोनों ही नहीं है । इसप्रकार कर्मरूपम-लोको भस्कर जो भगवान हुए वे कैसे हैं ? वे भगवान् सिद्ध परमेष्ठी नित्य निरञ्जन ज्ञानमई हैं । यहां पर नित्य जो विशेषण किया है वह एकांनवादी बौद्ध जो कि आत्माको नित्य नहीं मानता क्षणिक मानता है उसके समझानेके लिये है । द्रव्यार्थिकनयकर आत्माको नित्य कहा है टंकोत्कीर्ण अर्थात् टांकीकासा घडवा सुघट ज्ञापक एकरस्वभाव परम द्रव्य है ऐमा निश्चय करनेके लिये नित्यपनेका निरूपण किया है । इसके बाद निरञ्जनपनेका कथन करते हैं । जो नैयायिकमती हैं वे ऐमा कहते हैं "सौ कल्प काल चले जानेपर जगत् शून्य हो जाता है । सब जीव उससमय मुक्त होजाते हैं । नव सदाशिवको जगतके करनेकी चिंता होती है । उसके बाद जो मुक्त हुए थे उन मषके कर्मरूप अंजनका संयोगकरके संसारमें पुनः डाल देता है" ऐसी नैयायिकोंके श्रद्धा है । उनके संयोपनेके लिये निरञ्जनपनेका वर्णन किया कि भावकर्म द्रव्यकर्म नोक्कर्मरूप अंजनका संसर्ग सिद्धोंके कभी नहीं होता । इसीलिये सिद्धोंको निरञ्जन ऐमा विशेषण कहा है । अथ सांख्यमती कहते हैं— "जैमे सोनेकी अवन्नामें सोने हुए पुरुषको बाध पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता वैसे ही मुक्त-जीवोंको बाध पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता है" ऐसे सिद्धदर्शाने ज्ञानका अभाव मानते हैं उनके प्रतिबोध करनेके लिये तीन जगत् तीनकालवर्ती मष पदार्थोंका एक समयमें ही जानना है अर्थात् त्रिसमें समस्त लोकालोकके जाननेकी शक्ति है ऐमे ज्ञापकत्वरूप केवल ज्ञानके स्वरूप करनेके लिये सिद्धोंका ज्ञानमय विशेषण किया । वे भगवान नित्य हैं निरञ्जन हैं और ज्ञानमय है ऐमे सिद्ध परमात्माओंको नमस्कारकरके मंधका व्याख्यान करता हं । यह

तयोर्भक्तिः, धीऽदिस्वरूपकथनप्रत्याये मतार्थोपि निरूपितः, एवंगुणवितिष्टाः  
 ज्ञा दुःखाः शर्मात्यागमाथः प्रगित्तः, भयं नित्यनिरञ्जनज्ञानमयत्वं परमात्मद्रव्य-  
 तर्कमिति भावार्थः । अनेन प्रचारेण शब्दनयमतागमभाषार्थो व्याख्यानकाले यथासंभवं  
 एव शक्य इति ॥ १ ॥

अथ संसारगुप्तोक्तोपायभूतं धीऽदिस्वरूपकथनप्रत्याये मतार्थं ये शिवमयनि-  
 रूपमज्ञानमया भक्तिरन्वये तानहं नमस्कारोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा प्रथमकारः सूत्रमाह,  
 तेन क्रमेण पातनिष्ठापरूपं सर्वत्र ज्ञानव्ययः—

ते षंडं सिरिसिद्धगण, होसहिं जेपि अणंत ।

सिपमयणिरुपमजाणमय, परमसमाहि भजंत ॥ २ ॥

तान् वन्दे धीसिद्धगणान् भविष्यन्ति येपि अनन्ताः ।

शिवमयनिरुपमज्ञानमया, परमसमाधिं भजन्तः ॥ २ ॥

ते षंडं तान् वन्दे । तान् वान् । सिरिसिद्धगण धीसिद्धगणान् । ये किं करिष्यन्ति ।  
 महिं जेपि अणंत भविष्यन्त्ये येप्यनन्ताः । कथंभूता भविष्यन्ति । शिवमयणिरुप-  
 मजाणमय शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः । किं भजन्तः सन्तः इत्थंभूता भविष्यन्ति ।  
 परमसमाहि भजंत सागारिविकल्परहितममाधिं भजन्तः सेवमानाः । इतो विशेषः ।

नमस्कारशब्दरूप वचन द्रव्यनमस्कार है और केवलज्ञानादि अनंतगुणस्वरूपरूप भावनमस्कार  
 राजाना है । यह द्रव्य भावरूप नमस्कार व्यवहारनयकर साधकदत्तामें कहा है शुद्ध  
 ध्याननयकर संबन्धक भाव नहीं है । ऐसे पदसंज्ञानरूप शब्दार्थ कहा और नयविभाग-  
 प कथनकर नयार्थ भी कहा तथा बौद्ध नैयायिक सांख्यदिमतके कथनकरनेसे मतार्थ  
 हा, इसप्रकार अनंत गुणालक सिद्धपरमेष्ठी संसारसे मुक्त हुए हैं यह सिद्धांतका अर्थ  
 सिद्ध ही है और निरंजन ज्ञानमई परमात्माद्रव्य आदरने योग्य है उपादेय है यह  
 वार्थ है । इसीतरह शब्दनयमतागमभाषार्थ व्याख्यानके अथसरपर सबजगह जानलेना ।  
 ह पहले दोहाका अर्थ कहा ॥ १ ॥ अब संसार सगुप्तके तरनेका उपाय जो  
 सागारनिर्विकल्परूपसमाधिरूप विहाज है उसपर पढ़के जो आगामी कालमें कल्याणमय  
 अनुपमज्ञानमई होंगे उनको मैं नमस्कार करता हूं;—[ "अहं" ] मैं [ तान् ] उन  
 सिद्धगणान् ] सिद्धसमूहोंको [ वन्दे ] नमस्कार करता हूं [ येपि ] जो [ अनन्ताः ]  
 आगामीकालमें अनंत [ भविष्यन्ति ] होंगे । कैसे होंगे ! [ शिवमयनिरुपमज्ञानम-  
 याः ] परमकल्याणमय, अनुपम और ज्ञानमय होंगे । क्या करते हुए ? [ परमसमाधिं ]  
 सागारिविकल्परहित जो परमसमाधि उसको [ भजन्तः ] सेवते हुए ॥ अब विशेष कहते  
 —जो सिद्ध होंगे उनको मैं वंदना हूं । कैसे होंगे आगामी कालमें सिद्ध ! केवल-

तथाहि—तान् सिद्धगणान् कर्मतापन्नान् अहं वन्दे । कथंभूतान् । केवलज्ञानादिमोक्ष-  
लक्ष्मीसहितान् सम्यक्त्वाद्यष्टगुणविभूतिसहितान् अनन्तान् । किं करिष्यन्ति । ये वीतराग-  
सर्वज्ञप्रणीतमार्गेण दुर्लभयोधिं लब्ध्वा भविष्यन्त्यप्रे श्रेणिकादयः । किंविशिष्टा भविष्यन्ति ।  
शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः । अत्र शिवशब्देन स्वशुद्धालसभावनोत्पन्नवीतरागपरमानन्दमुच्यं  
प्राहं, निरुपमशब्देन समस्योपमानरहितं प्राहं, ज्ञानशब्देन केवलज्ञानं प्राहं । किं कुर्वाणाः  
सन्त इत्थंभूता भविष्यन्ति । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धालसत्त्वसम्यक्ज्ञानज्ञानानुचर-  
णरूपामूस्यरत्नत्रयभारपूर्णं मिथ्यात्वविषयकपायादिरूपममस्तविभावजलप्रवेशरहितं शुद्धा-  
लभावनोत्थसहजानन्दैकरूपमुखाशृतविपरीतनरकादिदुःस्वरूपेण क्षारजलेन पूर्णस्य संसार-  
समुद्रस्य तरणोपायभूतं समाधिपोतं भजन्तः सेवमानास्तदाधारेण गच्छन्त इत्यर्थः ।  
अत्र शिवमयनिरुपमज्ञानमयशुद्धालस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ २ ॥

अद्यानन्तरं परमसमाध्यमिना कर्मन्वनहोमं कुर्वाणान् वर्तमानान् सिद्धान्तं  
नमस्करोमि;—

तेहउ वंदउं सिद्धगण, अत्यहिं जेवि हवंत ।

परमसमाहिमहग्गियए, कम्मिघणइ हुणंत ॥ ३ ॥

तान् वन्दे सिद्धगणान्, तिष्ठन्ति येषि भवन्तः ।

परमसमाधिमहामिना, कर्मन्वनानि होमयन्तः ॥ ३ ॥

तेहउ वंदउं सिद्धगण तानहं सिद्धगणान् वन्दे । ये कथंभूताः । अत्यहिं जेवि हवंत

ज्ञानादि मोक्षलक्ष्मी सहित और सम्यक्त्वादि आठगुणों सहित अनन्ते होंगे । कहा करके  
सिद्ध होंगे ? वीतराग सर्वज्ञदेवकर प्ररूपित मार्गकर दुर्लभ ज्ञानको पाके राजा श्रेणिक  
आदिकके जीव सिद्ध होंगे । पुनः कैसे होंगे ? शिव अर्थात् निज शुद्धात्माकी भावना  
उसकर उपजा जो वीतराग परमानन्द सुख उम स्वरूप होंगे, समस्त उपमारहित अनुपम  
होंगे और केवलज्ञानमई होंगे । क्याकरते हुए ऐसे होंगे ? निर्मलज्ञानदर्शनस्वभाव जो  
शुद्धात्मा है उसके यथार्थ श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अमौलिक रत्नत्रयकर पूर्ण और  
मिथ्यात्व विषयकपायादिरूप समस्त विभावरूप जलके प्रवेशसे रहित शुद्धात्माकी भावनासे  
उत्पन्न हुआ जो सहजानन्दैकरूप मुखाशृत उसमे विपरीत जो नारकादि दुःस्व वे ही हुए  
क्षारजल उनकर पूर्ण हम ममारूपी समुद्रके तरनेका उपाय जो परम समाधिरूप जिज्ञा  
उनको सेवन हुए उसके आधारमे चलने हुए अनन्त सिद्ध होंगे । इस व्याख्यानका यह  
भावार्थ हुआ कि जो शिवमय अनुपम ज्ञानमय शुद्धात्मस्वरूप है वही उपादेय है ॥ २ ॥  
यइ दूसरे दोहेका अर्थ हुआ । आगे परमसमाधिरूप अग्निमे कर्मरूप ईधनका होम करते  
हुए वर्तमानकालमें पहाविदेह क्षेत्रमें सीमंपरस्वामी आदि तिष्ठने हैं उनको नमस्कार

इदानीं तिष्ठन्ति ये भवन्तः संतः । किं कुर्यान्नाग्निष्ठन्ति । परमसमाहिमहमिगियए  
 फर्मिभषपाहि हुणंत परमगमाध्यप्रिना कर्मन्धनानि होमयन्तः । अतो विशेषः । तत्रथा-  
 तान् सिद्धमगृह्णानं वन्दे पीतरागनिर्विकल्पममवेदनज्ञानलक्षणपारमार्थिकसिद्धभक्त्या  
 नमस्करोमि । ये किंविशिष्टाः । इदानीं पञ्चमहाविदेहेषु भवन्तस्तिष्ठन्ति भीतीमन्धरस्वामि-  
 प्रभृतयः । किं कुर्यन्तस्तिष्ठन्ति । पीतरागपरमसामाधिकभावनाविनाभूतनिर्दोषपरमात्म-  
 राग्यभ्रजानज्ञानानुपरणरूपाभेदरत्नप्रयात्नरुनिर्विकल्पममाधिबैधानरे कर्मन्धनाहुतिभिः  
 कृत्या होमं कुर्यन्त इति । अत्र शुद्धात्मद्रव्यस्योपादेयभूतस्व प्राप्नुयायभूतत्वाभिर्विकल्पममा-  
 धिरेवोपादेय इति भावार्थः ॥ ३ ॥

अथ स्वरूपं प्राप्यापि तेन संबंधानुष्ठानबलेन ये सिद्धा भूत्वा निर्वाणे वसन्ति  
 तानहं वन्दे;—

ते पुणु वंदउं सिद्धगण, जे णिठ्याणि वसंति ।  
 णाणि तिहुयणिगरूपायि, भवसापरि ण पडंति ॥ ४ ॥  
 तान् पुनः वन्दे सिद्धगणान्, ये निर्वाणे वसन्ति ।  
 ज्ञानेन त्रिभुवनगुरुका अपि, भवसागरे न पतन्ति ॥ ४ ॥

ते पुणु वंदउं सिद्धगण तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् । किं विशिष्टान् । जे णिठ्याणि  
 वसंति ये निर्वाणे मोक्षपदे वसन्ति तिष्ठन्ति । पुनरपि कथंभूता ये । णाणि तिहुयणि-

करता हं;—[ 'अहं' ] में [ तान् ] उन [ सिद्धगणान् ] सिद्ध समूहोंको [ वन्दे ]  
 नमस्कार करता हं [ येपि ] जो [ भवन्तः तिष्ठन्ति ] वर्तमान समयमें विराज रहे हैं ।  
 क्या करते हुए ! [ परमसमाधिमहाप्रिना ] परम समाधिरूप महा अमिकर [ कर्मन्ध-  
 नानि ] कर्मरूप ईधनको [ होमयन्तः ] भस्मकरते हुए । अब विशेष व्याख्यान है—  
 उन सिद्धोंको मैं पीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानरूप परमार्थ सिद्धभक्तिकर नमस्कार  
 करता हं । कैसे हैं ये ! अब वर्तमान समयमें पंच महाविदेह क्षेत्रोंमें श्रीमंपरस्वामी आदि  
 विराजमान हैं । क्या करते हुए ! पीतराग परमसामाधिक चारित्रकी भावनाकर संयुक्त जो  
 निर्दोष परमात्माका यथार्थ भ्रदान ज्ञान आचरणरूप अभेद रत्नत्रय उसमई निर्विकल्पसमा-  
 धिरूपी अग्निमें कर्मरूप ईधनको होम करते हुए तिष्ठ रहे हैं । इस कथनमें शुद्धात्मद्रव्यकी  
 प्राप्ति उपाय भूत निर्विकल्प समाधि उपादेय ( आदर्श योग्य ) है यह भावार्थ हुआ  
 ॥ ३ ॥ यह तीसरे दोहेका अर्थ कथा । आगे जो महामुनि होकर शुद्धात्मस्वरूपको पाके  
 राग्यज्ञानके बलसे कर्मोंका क्षयकर सिद्ध हुए निर्वाणमें वस रहे हैं उनको मैं वन्दता  
 हं;—[ पुनः ] फिर [ "अहं" ] मैं [ तान् ] उन [ सिद्धगणान् ] सिद्धोंको [ वन्दे ]  
 वंदता हं [ ये ] जो [ निर्वाणे ] मोक्षमें [ वसन्ति ] तिष्ठरहे हैं । कैसे हैं ये [ ज्ञानेन ]

गुरुयावि भवगायरि ण पडंति ज्ञानेन त्रिभुवनगुरुका अपि भवसागरे न पतन्ति ।  
अत ऊर्ध्वं विशेषः । तथाहि—तान पुनर्वन्देऽर्द्धं सिद्धगणान् ये तीर्थंकरपरमदेवभगवा-  
पाण्डवादयः पूर्वकाले धीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानवर्धनं शुद्धात्मस्वरूपं प्राप्य कर्मभयं  
कृत्वेदानीं निर्वाणं निश्चिन्ति मदापि न संशयः तानपि लोकालोकरूपकानिकेकज्ञानस्वसंवेदन-  
त्रिभुवनगुरुन । त्रैलोक्यालोकरूपपरमात्मस्वरूपनिश्चयव्यवहारपदपदार्थव्यवहारनयनेष्वज्ञान-  
प्रकाशेन समाहितस्वरूपभूते निर्वाणपदोपादेयमिति तावपर्यायः ॥ ४ ॥

अत ऊर्ध्वं व्यवहारनिश्चयशुद्धात्मनो हि सिद्धात्मन्यापि निश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपं  
तिष्ठतीति कथयति;—

ते पुणु बंदउं सिद्धगण, जे अप्पाणि वसंत ।

लोपालोउवि सयलुइहु, अन्धहि विमलु णियंत ॥ ५ ॥

तान पुनर्वन्दे सिद्धगणान् ये आत्मनि वसन्तः ।

लोकालोकमपि सकलं तिष्ठन्ति विमलं निश्चयन्तः ॥ ५ ॥

ते पुणु बंदउं सिद्धगण तान पुनर्वन्दे सिद्धगणान जे अप्पाणि वसंत लोपालोउवि  
सयलुइहु अर्थाहं विमलु णियंत ये आत्मनि वसन्तो लोकालोकं मतमस्वरूपपदार्थ  
निश्चयन्त इति । इदानीं विशेषः । तथाया—तान पुनरहं वन्दे सिद्धगणान सिद्धममूर्हं

ज्ञानसे [ त्रिभुवनगुरुका अपि ] तीनलोकमें गुरु हैं तौभी [ भवसागरे ] संसारसमुद्रमें  
[ न पतन्ति ] नहीं पडते हैं । भावार्थ—जो भारी होता है गुरुतर होता है वह जलमें  
डूबजाता है वे भगवान् त्रैलोक्यमें गुरु हैं परंतु भवसागरमें नहीं पडते हैं उन सिद्धोंको  
में बंदता हूं जो तीर्थंकर परमदेव तथा भरत सगर राघव पांडवादिक पूर्वकालमें धीतराग-  
निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानके बलसे निजशुद्धात्मस्वरूप पाके कर्मोंका क्षयकर परमसमाधान-  
रूप निर्वाणपदमें विराज रहे हैं उनको मेरा नमस्कार होवे यह सारांश हुआ ॥ ४ ॥

आगे यद्यपि वे सिद्ध परमात्मा व्यवहारनयकर लोकालोकको देखते हुए योक्षमें तिष्ठते  
हैं लोकके शिखर ऊपर विराजते हैं तौभी शुद्ध निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं  
उनको मैं नमस्कार करता हूं;—[“अहं”] में [ पुनः ] फिर [ तान् ] उन [ सिद्ध-  
गणान् ] सिद्धोंके समूहको [ वन्दे ] बंदता हूं [ ये ] जो [ आत्मनि वसन्तः ]  
निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें तिष्ठते हुए व्यवहारनयकर [ सकलं ] समस्त [ लोकालोकं ]  
लोक अलोकको [ विमलं ] संशय रहित [ निश्चयन्तः ] प्रत्यक्ष देखते हुए [ तिष्ठन्ति ]  
टहर रहे हैं । विशेष—मैं कर्मोंके क्षयके निमित्त फिर उन सिद्धों को नमस्कार करता हूं  
जो निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें स्थित हैं और व्यवहारनयकर सब लोकालोकको निःसं-  
देहपनेसे प्रत्यक्ष देखते हैं परंतु पदार्थोंमें तन्मयी नहीं है अपने स्वरूपमें तन्मयी है । जो पर

बंधे । धर्मशायनिमित्तं । पुनरपि पर्यभूतं सिद्धस्वरूपं । धैतन्यानंदस्वभावं लोकालोक-  
 एतापिगुणपर्यायगुणस्वरूपं ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं निश्चय परीभूतव्यवहाराभावे स्थाननि-  
 भयि च सुगन्दुःखरभावाभावयोरपरीकृत्य हरसंवेदास्वरूपे व्ययत्वे तिष्ठन्ति । उपचरितासद्भूत-  
 व्यवहारं लोकालोकाप्रलोकनं रामवेद्यं प्रतिभाति आलम्बरूपकैवल्यज्ञानोपशमं यथा  
 पुरुषार्थपदार्थदृष्टो भवति तेषां धास्यवृत्तिनिमित्तगुणत्पत्तिस्थूलसूक्ष्मपरपदार्थव्यवहारात्मानभेद-  
 जानन्ति । यदि निश्चयेन तिष्ठन्ति तर्हि परकीयसुगन्दुःखपरिहाने सुगन्दुःखानुभवः  
 प्राप्नोति, परकीयरागद्वेषपरिहाने च रागद्वेषमयत्वं च प्राप्नोतीति महारूपं । अत्र यत्र  
 निश्चयेन स्वम्यरूपेऽवस्थानं भणितं तदेवोपादेयमिति भावार्थः ॥ ५ ॥

अथ निष्कलाज्ञानं सिद्धपरमेष्ठिनं नत्वा तत्स्वेदानीं सिद्धस्वरूपस्य तत्प्राप्त्युपायस्य च  
 प्रतिपादकसकलालानं नमस्करोमिः—

केवलदंसणणाणमय, केवलसुखसहाय ।  
 जिणयर चंदउं भत्तियए, जेहिं पयासिय भाव ॥ ६ ॥  
 केवलदर्शनज्ञानमयाः केवलसुखस्वभावाः ।  
 जिनवरान् बंदे भत्तया यैः प्रकाशिता भावाः ॥ ६ ॥

केवलदर्शनज्ञानमयाः केवलसुखस्वभावा ये तान् जिनवरानहं बंदे । कया । भत्तया ।  
 यैः किं छनं । प्रकाशिता भावा जीवाजीवादिपदार्था इति । इतो विशेषः । केवलज्ञा-  
 नाद्यनंतपगुण्यस्वरूपपरमात्मनस्वमम्यकम्भद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नप्रयात्नकं सुगन्दुःख-  
 र्जावितमरणलाभालाभशान्तिप्रममानभावनायिनाभूतवीतरागनिर्विकल्पसमाधिपूर्वं जिभो-

पदार्थोंमें तन्मयी हो तो परके सुखदुःख से आप सुखी दुःखी होवे ऐसा उनमें कदाचित्  
 नहीं है । व्यवहारनयकर स्थूलसूक्ष्म सबको केवलज्ञानकर प्रत्यक्ष निःसंदेह जानते हैं  
 किसी पदार्थसे रागद्वेष नहीं है । यदि रागके हेतुसे किसीको जाने तो वे रागद्वेषमयी  
 होवें यह बड़ा दुष्ण है इसलिये यह निश्चय हुआ कि निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें  
 निवास करते हैं परमें नहीं और अपनी ज्ञायकशक्तिकर सबको प्रत्यक्ष देखते है जानते  
 हैं । जो निश्चयकर अपने स्वरूपमें निवास कहा इसलिये यह अपना स्वरूपही आराधने  
 योग्य है यह भावार्थ हुआ ॥ ५ ॥ आगे निरंजन निराकार निःशरीर सिद्ध परमेष्ठीको  
 नमस्कार करता हं;—[ केवलदर्शनज्ञानमयाः ] जो केवलदर्शन और केवलज्ञानमयी हैं  
 [ केवलसुखस्वभावाः ] तथा जिनका केवल सुख ही स्वभाव है और [ यैः ] जिन्होंने  
 [ भावाः ] जीवादिक सकल पदार्थ [ प्रकाशिताः ] प्रकाशित किये उनको मैं [ भत्तया ]  
 भक्तिसे [ बंदे ] नमस्कार करता हूं । विशेष—केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयस्वरूप जो  
 परमात्मतत्त्व है उसके यथार्थश्रद्धान ज्ञान और अनुभव इन स्वरूप अभेदरत्नत्रय वह जिन-



पदेशं लब्ध्वा पश्चादनंतचतुष्टयस्वरूपा जाता ये । पुनश्च किं कृतं । यैः अनुवादरूपेण जीवादिपदार्थाः प्रकाशिताः । विशेषेण तु कर्माभावे सति केवलज्ञानाद्यनंतगुणस्वरूपलाभात्मको मोक्षः, शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गश्च, तानहं वंदे । अत्रार्हद्रूपस्वरूपस्वशुद्धात्मस्वरूपमेवोपादेयमिति भावार्थः ॥ ६ ॥

अथानंतरं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकानाचार्योपाध्यायसाधून्मस्करोमि;—

जे परमप्यु णियंति मुणि, परमसमाहि धरेवि ।

परमाणंदहकारणिण, तिण्णिवि तेवि णवेवि ॥ ७ ॥

ये परमात्मानं निर्यान्ति मुनयः परमसमाधिं धृत्वा ।

परमानंदकारणेन त्रीनपि तानपि नत्वा ॥ ७ ॥

जे परमप्यु णियंति मुणि ये केचन परमात्मानं निर्गच्छन्ति स्वसंवेदनज्ञानेन जानन्ति मुनयस्तपोधनाः । किं कृत्वा पूर्वं । परमसमाहि धरेवि रागादिविकल्परहितं परमसमाधिं धृत्वा । केन कारणेन । परमाणंदहकारणिण निर्द्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसदानन्दपरमसमरसीभावमुत्तरसास्वादनिमित्तेन तिण्णिवि तेवि णवेवि त्रीनयाचार्योपाध्यायसाधून् नत्वा नमस्कृत्येत्यर्थः । अतो विशेषः । अनुपचरितासद्भूतव्यवहारसंबंधं द्रव्यकर्मनोर्कर्मरहितं सधैवाशुद्धनिश्चयसंबंधं मतिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायरहितं च यच्चिदा-

का स्वभाव है और सुखदुःख जीवित मरण लाभ अलाभ शत्रु मित्र सर्वमें समान भाव होनेसे उत्पन्न हुई वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधि उसके कहनेवाले जिनराजके उपदेशको पाकर अनंतचतुष्टयरूप हुए तथा जिन्होंने यथार्थ जीवादिपदार्थोंका स्वरूप प्रकाशित किया तथा जो कर्मका अभाव है वही केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप मोक्ष और जो शुद्धात्माका यथार्थ श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अभेदरत्नत्रय वही हुआ मोक्षमार्ग ऐसे मोक्ष और मोक्षमार्गको भी प्रगट किया उनको मैं नमस्कार करता हूं । इस व्याख्यानमें अरहंतदेवके केवलज्ञानादिगुणस्वरूप जो शुद्धात्मस्वरूप है वही आराधने योग्य है यह भावार्थ जानना ॥ ६ ॥

आगे भेदाभेदरत्नत्रयके आराधक जो आचार्य उपाध्याय और साधु हैं उनको मैं नमस्कार करता हूं;—[ ये मुनयः ] जो मुनि [ परमसमाधि ] परमसमाधिको [ धृत्वा ] धारण करके सम्भ्रजानर [ परमात्मानं ] परमात्माको [ निर्यान्ति ] जानते हैं । किस वास्ते ! [ परमानंदकारणेन ] रागादि विकल्प रहित परमसमाधिसे उत्पन्न हुए परम सुखके रसका अनुभवकरनेके लिये [ तान् अपि ] उन [ त्रीन् अपि ] तीनों आचार्य उपाध्याय साधुओंकी भी [नत्वा] मैं नमस्कार करके परमात्मनकाशका व्याख्यान करता हूं । विशेष—अनुपचरित अर्थात् जो उपचरित नहीं है इसीमे अनादि संबंध है परंतु असद्भूत (मिथ्या)

नन्दैकत्वभावं शुद्धात्मतत्त्वं तदेव भूतार्थं परमार्थरूपमयमारशाब्दवाच्यं सर्वप्रकारोपादेयभूतं  
 तन्मात्रं यदन्यत्तद्वैयमिनि । चतुर्महतिनावगाढरहितत्वेन निश्चयभ्रष्टानुद्धिः सम्यक्त्वं तत्राचरणं  
 परिणमनं दर्शनाचारम्प्रैव संशयविपर्ययोमानयवमायग्रहितत्वेन स्वसंबन्धनज्ञानरूपेण ग्राहक-  
 मुद्धिः सम्यग्ज्ञानं तत्राचरणं परिणमनं ज्ञानाचारः, तत्रैव शुभाशुभसंक्रान्तिकल्पनरहितत्वेन  
 नित्यानन्दमयगुणरमास्वादिस्विरानुभवत्वं च सम्यक्चारित्र्यं तत्राचरणं परिणमनं चारित्र्या-  
 चारः, तत्रैव परद्वयैकानिरोधेन महत्तानन्दैकरूपेण प्रवचनं तपश्चरणं तत्राचरणं परिणमनं  
 तपश्चरणाचारः, तत्रैव शुद्धात्मस्वरूपे स्वगतजनवगृहनेनाचरणं परिणमनं वीर्याचार इति  
 निश्चयपश्चात्पाराः । निःसद्धानुद्धिगुणभेदे वास्यदर्शनाचारः, वाच्यविनयाद्यभेदे वाच्यज्ञाना-  
 चारः, पञ्चमहाप्रणपञ्चगवितिशिगुनिनिर्मन्थरूपो वाच्यचारित्र्याचारः, अनजानादिद्वन्द्व-  
 भेदरूपो वास्यतपश्चरणाचारः, वास्यमहाजनवगृहणरूपो वाच्यवीर्याचार इति । अयं तु  
 व्यवहारपश्चात्पाराः पारंपर्येण साधक इति । विमुक्तज्ञानदर्शनस्यभावमुद्धात्मतत्त्वस्यक्-

है ऐसी व्यवहारनयकर द्रव्यकर्मनोकर्मका संबंध होना है उगम रहित और अनुद्धिभयनय-  
 कर सागादिका संबंध है उसी तथा गतिज्ञानादि विभायगुणके संबंधमें रहित और  
 नरनारकादि चतुर्गतिरूप विभायपर्यायोमें रहित ऐसी जो निदानंश्चिद्वर एक धर्मद्वयस्य  
 शुद्धात्मनश्च है वही मत्व है । उसीको परमार्थरूप समयमार कहना चाहिये । वही सब प्रकार  
 आराधने योग्य है उससे जुड़ी जो पर वस्तु वह सब त्याग्य है । ऐसी एक पर्यायी संघर्षर-  
 हित निर्मल अवगाह परम अद्धा है उसको सम्यक्त्व कहते हैं उसका जो आचरण स-  
 र्थात् उत्तररूप परिणमन वह दर्शनाचार कहा जाता है । और उसी निश्चयरूपमें रहित  
 विमोह विभ्रम रहित जो स्वसंबन्धनज्ञानरूप साहक मुद्धि वह सम्यग्ज्ञान हुआ उसका  
 जो आचरण अर्थात् उत्तररूप परिणमन वह ज्ञानाचार है, उसी शुद्धात्मरूपमें शुभ अनुभव  
 समस्त संस्कार विकल्प रहित जो नित्यानन्दमय निजरतावा आगाह निश्चय अनुभव वह  
 सम्यक्चारित्र्य उत्तका जो आचरण उत्तररूप परिणमन वह चारित्र्याचार है, उसी वाच्य-  
 नन्दस्वरूपमें परद्वयकी दृष्टावा निरोध कर महज आनन्दरूप तपश्चरण स्वरूप परिणमन  
 वह तपश्चरणाचार है और उसी शुद्धात्मस्वरूपमें अपनी शक्तिको महत्तप आचरण करि-  
 मन वह वीर्याचार है । यह निश्चयपंचाचारका लक्षण कहा । अब व्यवहारका लक्षण  
 कहते हैं—नि संश्रितको आदि ऐकर अष्ट अंगरूप वाच्यदर्शनाचार, वाच्य मुद्धि अष्टमुद्धि  
 आदि अष्टप्रकार वाच्य ज्ञानाचार, पंच महाजन पंच शक्ति हीन मुक्तिरूप स्वगत  
 चारित्र्याचार, अनजानादि बाह्यतपस्वरूप तपाचार और अपनी इति महत्तप मुक्तिरूप  
 आचरण वह व्यवहार वीर्याचार है । यह व्यवहार पंचाचार पंचाचार कोशक कहते हैं ।  
 और निर्मल ज्ञान दर्शनस्यभाव जो शुद्धात्मरूप उत्तका सत्यसंबन्धन हीन आचरण तत्त्व  
 परद्वयकी दृष्टावा निरोध और निश्चयनिका महत्तप करना ऐसी यह निश्चय पंचाचार

श्रद्धान्तानानुष्ठानवहिरुद्रैर्येऽनियुक्तिरूपं तत्रभ्रमं मन्त्रान्तरात्कृतविर्यरूपभेदप्रजाप-  
 रुपात्मकं शुद्धोपयोगभावनांतर्भूतं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिं मन्त्रमात्रसंन्यत्वात्प्राप्तं  
 भवंत्याचार्यान्तानहं वंदे । पञ्चान्तिकायपट्टद्वयमनन्वयनरसार्थेषु मध्ये शुद्धजीवास्ति-  
 कायशुद्धजीवद्रव्यशुद्धजीवतत्त्वशुद्धजीवपदार्थसमं मन्त्रशुद्धामभारनुपादेयं तन्मात्रान्तरद्वयं  
 कथयन्ति । शुद्धात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धान्तानानुष्ठानरूपभेदप्रव्रणामकं निश्चयमोक्षमार्गं च  
 ये कथयन्ति । ते भवंत्युपाध्यायास्तानहं वंदे । शुद्धयुद्धैरुभयभारशुद्धामनन्वयसम्यक्श्रद्धान-  
 तानानुचरणतपश्चरणरूपभेदचतुर्विधनिश्चयाराधनात्मकवीतरागनिर्विकल्पसमाधिं ये मान-  
 यन्ति ते भवन्ति माधवस्तानहं वंदे । अत्रायमेव ते मनाचरन्ति कथयन्ति माधवन्ति च  
 वीतरागनिर्विकल्पसमाधिं तमेवोपादेयभूतस्य मन्त्रशुद्धान्तन्वयस्य माधवत्वादुपादेयं ज्ञानीतीति  
 भावार्थः ॥ ७ ॥ इति प्रमाकरभट्टस्य पञ्चपरमेश्विनमन्त्राकरणमुख्यन्वेन प्रथममहाधिकार-  
 मध्ये दोहकसूत्रमप्रकं गतं ।

( अथ पातनिका )—श्रीयोगीन्द्रदेवकृतपरमात्मप्रकाशामिधानं दोहकछंदोमध्ये प्रक्षे-  
 पकान् विहाय व्याख्यानार्थमधिकारशुद्धिः कथ्यते । तद्यथा—प्रथमतस्त्वावत्पञ्च-

साक्षात् मुक्तिका कारण है। ऐसे निश्चय व्यवहाररूप पंचाचारोंको आप आचरें और दूरोंको  
 आचरवाँ ऐसे आचार्योंको मैं बंदता हूँ । पञ्चान्तिकाय पट्टद्वय सप्त तत्त्व नवपदार्थ जे हैं  
 उनमें निज शुद्ध जीवास्तिकाय निजशुद्ध जीवद्रव्य निज शुद्ध जीवतत्त्व निज शुद्ध  
 जीवपदार्थ जो आप शुद्धात्मा है वही उपादेय ( ग्रहणकरने योग्य ) है अन्य सब त्यागने  
 योग्य हैं ऐसा उपदेश कहते हैं, तथा शुद्धात्मस्वभावका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप  
 अभेद रत्नत्रय है वही निश्चयमोक्षमार्ग है ऐसा उपदेश शिष्योंको देते हैं ऐसे उपाध्या-  
 योंको मैं नमस्कार करता हूँ। और शुद्धज्ञान स्वभाव शुद्धात्मतत्त्वकी आराधनारूप वीतराग  
 निर्विकल्प समाधिकी जो साधते हैं उन साधुओंको मैं बंदता हूँ । वीतराग निर्विकल्प समा-  
 धिकी जो आचरते हैं कहते हैं साधते हैं वेही साधु ऐमें अर्हत सिद्ध आचार्य उपाध्याय  
 साधु ये ही पंचपरमेशी बंदने योग्य हैं । ऐसा भावार्थ है ॥ ७ ॥ ऐसे पंचपरमेशीको  
 नमस्कार करनेकी मुख्यतासे श्रीयोगीन्द्राचार्यने परमात्मप्रकाशके प्रथम महाधिकारमें  
 प्रथमस्वल्पमें सात दोहाओंसे प्रमाकरभट्ट नामक अपने शिष्यको पंचपरमेशीकी मुक्तिका  
 उपदेश दिया । यह पीठिका वर्णन की ॥

( अथ पातनिका )—श्रीयोगीन्द्रदेवकृत परमात्मप्रकाश नामा दोहकछंद ग्रंथमें प्रक्षे-  
 पक ( उक्तं च ) विना व्याख्यानकेलिये अधिकारोंकी परिपाटी कहते हैं—प्रथम ही

१. ये पाँचों परमेशी भी जिन वीतराग निर्विकल्प समाधिकी आचरते हैं कहते हैं और साधते हैं  
 तथा जो उपादेयरूप निजशुद्धात्मतत्त्वकी साधनेवाली है ऐसी निर्विकल्प समाधिकी ही उपादेय जानो ।  
 ( यह धर्म संस्कृतके अनुगार विद्या गया है ) ।

परमेष्ठिनमन्वारमुख्यत्वेन “जे जाया ज्ञाणगियए” इत्यादि सात दोहकसूत्राणि भवन्ति, तदनंतरं विज्ञापनमुख्यतया “भावे पणविवि” इत्यादिसूत्रत्रयं, अत ऊर्ध्वं यहिरंतः-परमभेदेन त्रिधात्माप्रतिपादनमुख्यत्वेन “पुणु पुणु पणविवि” इत्यादिसूत्रपञ्चकं, अधानंतरं मुक्तिगण्यनिरूपपरमात्मकथनमुख्यत्वेन “तिहुयण वंदिउ” इत्यादि सूत्रदसकं, अत ऊर्ध्वं देहस्थितशक्तिरूपपरमात्मकथनमुख्यत्वेन “जेहउ जिम्मलु” इत्यादि अंतर्भूतप्रक्षेपपञ्चकस-क्तिपरमुक्तिनिसूत्राणि भवन्ति, अथ जीवस्य स्वदेहप्रमितिविषये ह्यपरमतविचारमुख्यतया “अप्पा जोदय” इत्यादिसूत्रपट्टं, तदनंतरं द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपकथनमुख्यतया “अप्पा जणियउ” इत्यादि सूत्रत्रयं, अधानंतरं कर्मविचारमुख्यत्वेन “जीवह कम्म अणाइ” इत्यादि सूत्राष्टकं, तदनंतरं सामान्यभेदभावनाकथनेन “अप्पा अप्पुजि” इत्यादि सूत्रनवकं, अत ऊर्ध्वं निश्चयसम्यग्दृष्टिकथनरूपेण “अप्पे अप्पु” इत्यादि सूत्रमेकं, तदनंतरं मिथ्याभा-वकथनमुख्यत्वेन “पञ्जइ रउउ” इत्यादि सूत्राष्टकं, अत ऊर्ध्वं सम्यग्दृष्टिभावनामुख्यत्वेन “कालु लहेविणु” इत्यादि सूत्राष्टकं, तदनंतरं सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेन “अप्पा संजमु” इत्याद्येकाधिकत्रिंशत्प्रमितानि दोहकसूत्राणि भवन्ति ॥ इति श्रीयोगीन्द्र-देवविरचितपरमात्मप्रकाशशास्त्रे प्रयोर्विंशत्यधिकशतदोहकसूत्रैर्वहिरंतःपरमात्मस्वरूपकथन-मुख्यत्वेन प्रथमप्रकरणपातनिका समाप्ता । अधानंतरं द्वितीयमहाधिकारप्रारंभे मोक्षमोक्ष-

पंचपरमेष्ठीके नमस्कारकी मुख्यताकर “जे जाया ज्ञाणगियए” इत्यादि सात दोहा जानना, विज्ञापना की मुख्यताकर “भावे पणविवि” इत्यादि तीन दोहा, बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मा इन भेदोंसे तीन प्रकार आत्माके कथनकी मुख्यताकर “पुणु पुणु पणविवि” इत्यादि पांच दोहा, मुक्तिकी प्राप्त हुए जो प्रगटस्वरूप परमात्मा उनके कथनकी मुख्यता-कर “तिहुयण वंदिउ” इत्यादि दस दोहा, देहमें तिष्ठे हुए शक्तिरूप परमात्माके कथनकी मुख्यतासे “जेहउ जिम्मलु” इत्यादि पांच श्लेषकोसहित चौबीस दोहा, जीवके निजदेह प्रमाण कथनमें स्वमत परमतके विचारकी मुख्यताकर “किवि भणंति जिउ सम्भगउ” इत्यादि छह दोहा, द्रव्यगुणपर्यायके स्वरूप कहनेकी मुख्यताकर “अप्पा जणियउ” इत्यादि तीन दोहा, कर्मविचारकी मुख्यताकर “जीवह कम्म अणाइ जिय” इत्यादि आठ दोहा, सामान्य भेद भावनाके कथन कर “अप्पा अप्पुजि” इत्यादि नौ दोहा, निश्चय-सम्यग्दृष्टिके कथनरूप अप्पे अप्पुजि” इत्यादि एक दोहा, मिथ्याभावके कथनकी मुख्यताकर “पञ्जइ रउउ” इत्यादि आठ दोहा, सम्यग्दृष्टीकी मुख्यताकर “कालुलहेविणु” इत्यादि आठ दोहा और सामान्यभेदभावकी मुख्यताकर “अप्पा संजमु” इत्यादि इकतीस दोहा कहे हैं । इसतरह श्रीयोगीन्द्रदेव विरचित परमात्मप्रकाश ग्रंथमें एकसौ तेईस १२३ दोहा-ओंकर पहला प्रकरण कहा है, इस प्रकरणमें बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्माके स्वरूपके कथनकी मुख्यता है तथा इसमें तेरह अंतर अधिकार हैं । अब दूसरे अधिकारमें मोक्ष मोक्ष-

फलमोक्षमार्गस्वरूपं कथ्यते—अत्र प्रथमतया च “गिरिगुरु” इत्यादिमोक्षस्वरूप-  
मुख्यत्वेन दोहाकसूत्राणि दशकं, अत ऊर्ध्वं “दंशणणाणु” इत्यादिमोक्षमोक्षफलं, तद-  
नंतरं “जीवहं मोक्षसह हेउवरु” इत्यादिमोक्षनिमित्तसूत्रपर्यंतं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्ग-  
मुख्यतया व्याख्यानं, अधानंतरमभेदत्रयसूत्रपर्यंतं “जो मत्तउ” इत्यादि मूत्रादिकं,  
अत ऊर्ध्वं समभावमुख्यत्वेन “कम्म पुरक्किउ” इत्यादिमूत्राणि चतुर्दश, अधानंतरं पुण्य-  
पापसमानमुख्यत्वेन “बंधहं मोक्षसह हेउणिरु” इत्यादिमूत्राणि चतुर्दश, अत ऊर्ध्वं  
एकचत्वारिंशन्मूत्रपर्यंतं प्रक्षेपकान् विहाय शुद्धोपयोगस्वरूपमुख्यत्वमिति समुदायपाननिष्ठा ।  
तत्र प्रथमतः एकचत्वारिंशन्मध्ये “मुद्धह संजमु” इत्यादि मूत्रपञ्चकपर्यंतं शुद्धोपयोग-  
मुख्यतया व्याख्यानं, अधानंतरं “दाणं लब्भइ” इत्यादि पंचदशमूत्रपर्यंतं वीतरागस्वसं-  
वेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानं, तदनंतरं “लेणह इच्छइ मूडु” इत्यादि मूत्राष्टकपर्यंतं  
परिग्रहत्यागमुख्यतया व्याख्यानं, अत ऊर्ध्वं “जो मत्तउ रयणत्तयहं” इत्यादि त्रयोदश-  
सूत्रपर्यंतं शुद्धनयेन षोडशवर्णिकामुवर्णवन् सर्वे जीवाः केवलज्ञानादिस्वभावलक्षणैः समाना  
इति मुख्यत्वेन व्याख्यानं । इत्येकचत्वारिंशत्सूत्राणि गतानि । अत ऊर्ध्वं “परु जाणंतुवि”  
इत्यादि समाप्तिपर्यंतं प्रक्षेपकान् विहाय सन्नोत्तरज्ञानसूत्रैश्चूलिका व्याख्यानं । तत्र सन्नो-  
त्तरज्ञानमध्ये अवसाने “परमसमाहि” इत्यादि चतुर्विंशत्सूत्रेषु सन्नम्यलानि भवन्ति । तस्मिन्

फलमोक्षमार्ग इनका स्वरूप कहा है, उसमें प्रथम ही “सिरि गुरु” इत्यादि मोक्षस्वरूपके  
कथनकी मुख्यताकर दस दोहा, “दंशण णाणु” इत्यादि एक दोहाकर मोक्षका फल,  
निश्चयव्यवहार मोक्षमार्गकी मुख्यताकर “जीवहं मोक्षसह हेउ वरु” इत्यादि उगनीम  
दोहा अभेदरत्नत्रयकी मुख्यताकर “जो मत्तउ” इत्यादि आठ दोहा, समभावकी मुख्यताकर  
“कम्म पुरक्किउ” इत्यादि चौदह दोहा, पुण्य पापकी समानताकी मुख्यताकर “बंधहं  
मोक्षसह हेउ णिरु” इत्यादि चौदह दोहा हैं । और शुद्धोपयोगके स्वरूपकी मुख्यताकर  
प्रक्षेपकोंके विना इकतालीस दोहा पर्यंत व्याख्यान है । उन इकतालीस दोहाओंमेंसे प्रथम  
ही “मुद्धह संजमु” इत्यादि पांच दोहा तक शुद्धोपयोगके व्याख्यानकी मुख्यता है,  
“दाणं लब्भइ” इत्यादि पंद्रह दोहा पर्यंत वीतराग स्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यताकर व्याख्यान  
है, परिग्रह त्यागकी मुख्यताकर “लेणह इच्छइ” इत्यादि आठ दोहा पर्यंत व्याख्यान है,  
“जो मत्तउ रयणत्तयहं” इत्यादि तेरह दोहा पर्यंत शुद्धनयकर सोलहवानके सुवर्णकी तरह  
सब जीव केवलज्ञानादि स्वभावलक्षणकर समान हैं यह व्याख्यान है । इसतरह इकतालीस  
दोहाओंके व्याख्यानकी विधि कही उनके चार अधिकार हैं । यहांपर एकसौ ग्यारह  
दोहाओंका दूसरा महा अधिकार कहा है उसमें दस अंतर अधिकार हैं । इसके बाद “पर  
जाणंतुवि” इत्यादि एकसौ सात दोहाओंमें ग्रंथकी समाप्ति पर्यंत चूलिका व्याख्यान है  
इनके सिवाय प्रक्षेपक हैं । उन एकसौ सान दोहाओंमेंसे अंतके “परम समाहि” इत्यादि

प्रथमस्थले निर्विकल्पसमाधिमुख्यत्वेन “परमममाहिमहासरहिं” इत्यादि सूत्रत्रयं, तदनंतर-  
मर्हत्वमुख्यत्वेन “सयलवियप्पहं” इत्यादि सूत्रत्रयं, अधानंतरं परमात्मप्रकाशनाममुख्यत्वेन  
“सयलहं दोसहं” इत्यादि सूत्रत्रयं, अथ सिद्धपदमुख्यत्वेन “ज्ञाणे कम्मवरउ करिवि”  
इत्यादि सूत्रत्रयं, तदनंतरं परमालप्रकाशाशाराधकपुरुषाणां फलरुधनमुख्यत्वेन “जे परम  
प्पयाम मुणि” इत्यादि सूत्रत्रयं, अत ऊर्ध्वं परमात्मप्रकाशाशाराधनायोग्यपुरुषकथनमुख्यत्वेन  
“जे भवदुक्खहं” इत्यादि सूत्रत्रयं, अधानंतरं परमात्मप्रकाशाशास्त्रफलरुधनमुख्यत्वेन  
सधैर्वाङ्मन्यपरिहारमुख्यत्वेन च लच्छणछंद” इत्यादि सूत्रत्रयं । इति चतुर्विंशतिदोहकसूत्र-  
त्रयचूलिकावसाने ममस्थलानि गतानि । एवं प्रथमपातनिका समाप्ता । अथवा प्रकारान्तरण  
द्वितीया पातनिका कथ्यते । तथाथा—प्रथमतस्तत्वावद्बहिरात्मांतरात्मपरमात्मकथनरूपेण  
प्रक्षेपकान् विहाय त्रयोविंशत्यधिकज्ञानसूत्रपर्यंतं ध्याप्यान् त्रियत् इति समुदायपातनिका ।  
तत्रादां “जे जाया” इत्यादि पञ्चविंशतिसूत्रपर्यंतं त्रिधात्मपीठिकाध्याप्यान्, अधानंतरं  
“जेहउ णिम्मलु” इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रपर्यंतं सामान्यविवरणं, अत ऊर्ध्वं “अप्पा  
जोइय मच्चगउ” इत्यादित्रिचत्वारिंशत्सूत्रपर्यंतं विशेषविवरणं, अत ऊर्ध्वं “अप्पा मंजमु”  
इत्याद्येकात्रिंशत्सूत्रपर्यंतं चूलिकाध्याप्यानमिति “प्रथममहाधिकारः” समाप्तः । अधानंतरं  
मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गस्वरूपकथनमुख्यत्वेन प्रक्षेपकान् विहाय चतुर्दशाधिकज्ञानसूत्रपर्यंतं

चौबीस दोहा पर्यंत परमसमाधिका कथन है उनमें सानस्थल हैं । उनमेंसे प्रथमस्थलमें निर्वि-  
कल्प समाधिकी मुख्यताकर “परमसमाहि महासरहिं” इत्यादि छह दोहा, अर्हंतपरती  
मुख्यताकर “सयल वियप्पहं” इत्यादि तीन दोहा, परमात्मप्रकाशनामकी मुख्यताकर  
“सयलहं दोसहं” इत्यादि तीन दोहा, सिद्धपदकी मुख्यताकर “ज्ञाणे कम्मवरउ करिवि”  
इत्यादि तीन दोहा, परमात्मप्रकाशके आराधक पुरुषोंको फलके कथनकी मुख्यताकर  
“जे परमप्पयाम मुणि” इत्यादि तीन दोहा, परमात्मप्रकाशकी आराधनाके योग्य  
पुरुषोंके कथनकी मुख्यताकर “जे भवदुक्खहं” इत्यादि तीन दोहा और परमात्मप्रकाश-  
शास्त्रके फलके कथनकी मुख्यताकर तथा गर्वके त्यागकी मुख्यताकर “लच्छण छंद”  
इत्यादि तीन दोहा हैं । इसप्रकार चूलिकाके अंतमें चौबीस दोहाओंमें सान स्थल बटे  
गये हैं । इसतरह तीन महा अधिकारोंमें अंतर स्थल अनेक है एक तो इसप्रकार पातनिका  
कही ॥ अथवा अन्य तरह कथनकर दूसरी पातनिका कहते हैं—पहले अधिकारमें  
पदिरात्मा अंतरात्मा और परमात्माके कथनकी मुख्यताकर क्षेत्रोंको छोड़कर एकाकी तैरम  
दोहा कहे हैं । उनमेंसे “जे जाया” इत्यादि पचीस दोहा पर्यंत तीनप्रकार आनाक कथनका  
पीठिकाध्याप्यान, “जेहउ णिम्मलु” इत्यादि चौबीस दोहा पर्यंत सामान्यवर्णन, “अप्पा  
जोइय मच्चगउ” इत्यादि तेतालीस दोहा पर्यंत विशेषवर्णन और “अप्पा मंजमु” इत्यादि  
इकतीस दोहा पर्यंत चूलिका ध्याप्यान है । इसतरह अंतर अधिकारोंमें सति “पहल

द्विर्नायकहाधिकारः प्रारभ्यत इति समुदायपातनिका । तत्रादौ “सिरि गुरु” इत्यादि-  
त्रिंशत्सूत्रपर्यंतं पीठिकाव्याख्यानं, तदनंतरं “जो भत्तउ” इत्यादिपट्त्रिंशत्सूत्रपर्यंतं  
मानान्वयविवरणं, अयानंतरं “मुद्धहं मंजनु” इत्याद्येकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यंतं विशेषविवरणं,  
तदनंतरं प्रश्नेनकान् विहाय सप्तोत्तरगतपर्यंतमभेदरत्नत्रयमुख्यतया चूलिकाव्याख्यानं,  
इति द्विर्नायकपातनिका ज्ञातव्या ॥

अथ प्रभाकरभट्टः पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चपरमेष्ठिनो नत्वा पुनरिदानीं श्रीयोगीश्वरेण  
विज्ञापयति,—

भारिं पणयिधि पंचगुरु, सिरिजोइंदुजिणाउ ।

भट्टपहापरि चिण्णायउ, विमलु करेविणु भाउ ॥ ८ ॥

भावेन प्रथम्य पञ्चगुरुन् श्रीयोगीश्वरिजिनः ।

भट्टप्रभाकरेण विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावम् ॥ ८ ॥

भारिं पणयिधि पंचगुरु भावेन भावशुद्धता प्रथम्य । कान् । पञ्चगुरुन् । पञ्चादि-  
कृतं । निरिजोइंदुजिणाउ भट्टपहापरि चिण्णायउ विमलु करेविणु भाउ श्रीयोगीश्वरेण-  
ज्ञानं धनराज प्रभाकरभट्टेन कर्तृभूतेन विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावं परिणाममिति । अथ  
भट्टप्रभाकरभट्टः शुद्धमन्त्रपरिज्ञानार्थं श्रीयोगीश्वरेण भक्तिप्रकर्षेण विज्ञापितवानित्यर्थः ॥ ८ ॥

इति,—

गउ मंगारि यमंताहं, गामिय कालु अणंतु ।

पर मइं किंणि ण पचु सुद्ध, दूवरु जि पचु महंतु ॥ ९ ॥

गतः संसारे वसतां स्वामिन् कालः अनंतः ।

परं मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महत् ॥ ९ ॥

गड संसारि यस्तदाहं स्वामिय कालु अणंतु गतः संसारे वसतां तिष्ठतां हे स्वामिन् । कोसौ । कालः । कियान् । अनंतः पर मई किंपि ण पतु सुदु दुवरु जि पतु महंतु परं किंतु मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महदिति । इतो विस्तरः । तथाहि—स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानंदममरमीभावरूपसुखामृतविपरीतनारकादिदुःखरूपेण क्षारनीरेण पूर्णे अजरामरपदविपरीतजातिजरामरणरूपेण मकरादिजलचरममूहेन संकीर्णे अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतनानामानसादिदुःखरूपवडवानलशिखासंदीपिताभ्यंतरे वीतरागनिर्विकल्पममाधिविपरीतसंकल्पविकल्पजालरूपेण फल्लोलमालाममूहेन विरायिते संसारनागरे वसनां तिष्ठतां हे स्वामिन्नंतकालो गतः । कस्मान् । एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपंचेन्द्रियसंक्षिप्यममनुष्यत्वदेशकुलरूपेन्द्रियपदुत्वनिर्व्याध्यायुष्करसुद्धिमद्धर्मश्रवणग्रहणधारणभ्रद्धानसंयमविषयसुखव्यावर्तनक्रोधादिकपायनिवर्तनेषु परंपरदुर्लभेषु । कथंभूतेषु । लक्ष्णेष्वपि तपोभावनाधर्मेषु शुद्धात्मभावनाधर्मेषु शुद्धात्मभावनालक्षणस्य वीतरागनिर्विकल्पममाधिदुर्लभत्वान् । तदपि कथं । वीतरागनिर्विकल्पममाधिबोधिप्रतिपक्षभूतानां मिथ्यात्वविषयकपायानिविभावपरिणामानां प्रवल्त्वाविति । मन्थरान्तर्गतज्ञानचारित्र्या-

यह विनती इसतरह है;—[ हेस्वामिन् ] हे स्वामी [ संसार वसतां ] इस संसारमें रहते हुए हमारा [ अनंतः कालः गतः ] अनंतकाल बीत गया [ परं ] लेकिन [ मया ] मैंने [ किमपि सुखं ] कुछ भी सुख [ न प्राप्तं ] नहीं पाया उल्टा [ महत् दुःखं एव ] महान् दुःख ही पाया है । यहांसे विशेष ।—निज शुद्धात्माकी भावनाकर उत्पन्न हुआ जो वीतराग परम आनंद समरमीभाव है उसरूप जो आनंदामृत उसमें विपरीत नरकादिदुःखरूप क्षार ( सारी ) जलसे पूर्ण ( भरा हुआ ), अजर अमर पदसे उल्टा जन्म जर ( बुढ़ापा ) मरणरूपी जलचरोके समूहकर भरा हुआ, अनाकुलता स्वरूप निःशय सुखसे विपरीत अनेक प्रकार आधि व्याधि दुःखरूपी वडवानलकी सिखाकर मञ्जलित, वीतराग निर्विकल्पममाधिहर रहित महान संकल्प विकल्पोंके जालरूपी फल्लोलोंकी मालाओंकर विराजमान, ऐसे संसाररूपी समुद्रमें रहते हुए मुझे हे स्वामी अनंतकाल बीत गया । इस संसारमें एकेंद्रीसे दोइंद्री, ते इंद्री, चौइंद्री स्वरूप विकल्पत्रय पर्याय पाना दुर्लभ ( कठिन ) है; विकल्पत्रयसे पंचेंद्री, मैत्री, छह पर्यायोंकी संपूर्णता होना दुर्लभ है, उसमें भी मनुष्य होना अत्यंत दुर्लभ, उसमें आर्यक्षेत्र दुर्लभ, उसमेंसे उत्तमकुल ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यवर्णरूप पाना कठिन है, उसमें भी सुंदर रूप, समस्त पांचों इन्द्रियोंकी प्रवीणता, दीर्घ आयु, बल, शरीर नीरोग, जिनधर्म इनका उत्तरोत्तर मिलना कठिन है ।



बहिरात्मांतरात्मपरमात्मभेदेन त्रिविधात्मा भवति । अयं त्रिविधात्मा यथा त्वया पृष्ठो । प्रभाकरमट्टं तथा भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियाः परमात्मभावनोत्थवीतरागपरमानंदसुधारम विपासिता वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतविपरीतनारकादिदुःखमयभीता भव्य धरपुण्डरीका भरतसगररामपांडवश्रेणिकादयोपि वीतरागसर्वज्ञतीर्थकरपरमदेवानां समवसरणे सपरिवारा भक्तिभरनमितोत्तमांगाः संतः सर्वांगमप्रश्रानंतरं सर्वप्रकारोपादेयं शुद्धत्वात् पृच्छन्तीति । अत्र त्रिविधात्मस्वरूपमध्ये शुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ ११ ॥

अथ त्रिविधात्मानं ज्ञात्वा बहिरात्मानं विहाय स्वसंवेदनज्ञानेन परं परमात्मानं भावत्वमिति प्रतिपादयति;—

अप्पा त्रिविहु मुणेवि लहु, मूढउ मिह्लहि भाउ ।

मुणि सण्णाणं णाणमउ, जो परमप्पसहाउ ॥ १२ ॥

कहता हूं सो [ हे प्रभाकर मट्ट ] हे प्रभाकर मट्ट [ त्वं ] तू [ निश्चय ] निश्चयक शुन ॥ भावार्थ—बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्माके भेदकर आत्मा तीनतरहका है सो प्रभाकर मट्ट जैसे तूने मुझे पूछा है उसीतरहसे भव्योंमें महाश्रेष्ठ भरतचक्रवर्ती सगर चक्रवर्ती रामचंद्र बलभद्र, पांडव तथा श्रेणिक बगैरः बडेरा राजा जिनके भक्तिभारक नर्मागत मन्त्रक होगये हैं महाविनयवाले परिवारसहित समोसरणमें आके वीतराग सर्वपरमदेवगे गये आगमका मन्त्रकर उसके बाद सवतरहसे ध्यानकरने योग्य शुद्धात्माका स्वरूप पच्छते हुए । उनके उत्तरमें भगवान्ने वही कहा कि आत्मज्ञानके समान दूसरा को मार नहीं है । मरणादि बडेरे श्रोताओंमेंसे भरतचक्रवर्तीने श्रीसुप्रमदेव भगवानको पूछा मगरचक्रवर्तीने श्रीअजितनाथको, रामचंद्र बलभद्रने देशभूषण कुलभूषण केवलीके तथा मन्त्रभूषण केवलीको, पांडवोंने श्रीनेमिनाथभगवानको और राजा श्रेणिकने श्रीमहासिंहनाथकी पूछा । कैसे हैं ये श्रोता कि जिनको निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रय का ज्ञान दिया है, परमात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परमानंदरूप अमृतसके व्यासे हैं जो वीतराग निर्विकल्पसमाधिकर उत्पन्न हुआ जो सुखरूपी अमृत उससे विपरीत जो नारकादि का दुःखरूपी है दुःख उत्पन्न मयभीत हैं । सो जिनमहद् इन भव्यजीवोंने भगवंतगे पूछा कि भगवंतने तीनप्रकार आत्माके स्वरूपमेंगे शुद्धात्मस्वरूप जो निज परमात्म वही धरुण करने योग्य है । जो मोक्षका मूलकारण रत्नत्रय कहा है यह मैंने निश्चय करके देखने का है मैंने कहा है उसमें अपने स्वरूपका अज्ञान, स्वरूपका ज्ञान और स्वरूपका ही आचरण यह ती निश्चयरत्नत्रय है इमीका दूसरा नाम अभेद भी है । जो देवदूत भर्त्सी छद्म, प्रवचनोंकी यद्धा, आगमका ज्ञान तथा संयमभाव ये व्यवहार

८ त्मानं त्रिविधं माया लघु मूढं मुंच भावम् ।

मन्यन् स्वज्ञानेन ज्ञानमयं यं परमात्मस्वभावम् ॥ १२ ॥

अप्पा त्रिविधं मुंचेपि लघु मूढउ मेहृदि भाउ हे प्रभाकरभट्ट आत्मानं त्रिविधं माया लघु शीघ्रं मूढं बहिरात्मस्वरूपं भावं परिणामं मुंच मुणि गण्णायें पाणमउ जो पन्मप्प महाउ पभाउ त्रिकिरामपगित्तानानंतरं मन्यन्व जानीहि । फेन करणभूतेन । अंतरात्मस्वरूपानंतरागभिरिबन्धन्यसंवेदनज्ञानेन । कं जानीहि । यं परमात्मस्वभावं ।

रूपय है इमीका नाम भेदरत्नत्रय है । इनमेंसे भेदरत्नत्रय तो साधन है और अभेदरत्नत्रय साध्य है ॥ ११ ॥ आगे तीनप्रकार आत्माको जानकर बहिरात्मपना छोड़ स्वसंवेदन ज्ञानकर तू परमात्माका ध्यान कर यह कहते हैं—[ आत्मानं त्रिविधं ज्ञात्वा ] हे प्रभाकर भट्ट तू आत्माको तीनप्रकारका जानकर [ मूढं भावं ] बहिरात्मस्वरूप भावको [ लघु ] शीघ्र ही [ मुंच ] छोड़ और [ यः ] जो [ परमात्मस्वभावः ] परमात्माका स्वभाव है उसे [ मंग्रानेन ] स्वसंवेदनज्ञानसे अंतरात्मा होता हुआ [ मन्यस्व ] जान । यह स्वभाव [ ज्ञानमयः ] केवलज्ञानकर परिपूर्ण है ॥ भावार्थ—जो वीतराग संवेदनकर परमात्मा जाना था वही ध्यानकरने योग्य है । यहाँ शिष्यने प्रश्न किया था जो स्वसंवेदन अर्थात् अपनेकर अपनेको अनुभवना इसमें वीतराग विशेषण क्यों कहा क्योंकि जो स्वसंवेदन ज्ञान होवेगा यह तो रागरहित होवेगा ही । इसका समाधान श्रीगुरुने दिया—कि विषयोके आस्वादनसेभी उन वस्तुओके स्वरूपका जानपना होता है परंतु रागभावकर दूषित है इगलिये निजरसका आस्वाद नहीं है और वीतरागदरागमें स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होता है आकुरुतारहित होता है । तथा स्वसंवेदनज्ञान प्रथम अवस्थामें चौथे पांचवें गुणस्थान वाले मूढस्वके भी होता है वहाँपर सराग देखनेमें आता है इसलिये रागसहित अवस्थाके निषेधकेलिये वीतराग स्वसंवेदनज्ञान ऐसा कहा है । राग भाव है यह कपायरूप है इसकारण जवनक मिथ्यादृष्टिके अनंतानुबंधीकपाय है तबतक तो बहिरात्मा है उसके तो स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् सम्यक् ज्ञान सर्वथा ही नहीं है और चतुर्थगुणस्थानमें अद्वैत सम्यग्दृष्टिके मिथ्यारव तथा अनंतानुबंधीके अभाव होनेसे सम्यक् ज्ञान तो होगया परंतु कपायकी तीन चौकड़ी बाकी रहनेसे द्वितीयाके चंद्रमाके समान विशेष प्रकाश नहीं होता । और त्रायकके पांचवें गुणस्थानमें दो चौकड़ीका अभाव है इसलिये रागभाव कुछ कम हुआ वीतरागभाव बढ़ गया इसकारण स्वसंवेदन ज्ञान भी प्रबल हुआ परंतु दो चौकड़ीके रहनेसे मुनिके समान प्रकाश नहीं हुआ । मुनिके तीन चौकड़ीका अभाव है इसलिये रागभाव तो निर्बल होगया तथा वीतरागभाव प्रबल हुआ वहाँपर स्वसंवेदन-ज्ञानका अधिक प्रकाश हुआ परंतु चौथी चौकड़ी बाकी है इसलिये छठे गुणस्थानवाले

त्रिविष्टम् । ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तमिति । अत्र योसौ स्वसंवेदनज्ञानेन परमानं  
 ज्ञातः स एवोपादेय इति भावार्थः । स्वसंवेदनज्ञाने वीतरागं विशेषणं किमर्थमिति  
 पूर्वपक्षः, परिहारमाह—विषयानुभवरूपस्वसंवेदनज्ञानं सरागमपि दृश्यते तन्निषेवायं  
 मित्तमिन्नायः ॥ १२ ॥

अथ त्रिविधात्मभंजां पहिरात्मलक्षणं च कथयति;—

मूढु वियक्खणु वंसु परु, अप्पा तिचिहु ह्वेइ ।

देहु जि अप्पा जो मुणइ, सो जणु मूढु ह्वेइ ॥ १३ ॥

मूढो विचक्षणो ब्रह्मा परः आत्मा त्रिविधो भवति ।

देहमेव आत्मानं यो मनुते स जनो मूढो भवति ॥ १३ ॥

मुनि सरागसंयमी हैं वीतरागसंयमीकासा प्रकार नहीं है । सातवें गुणस्थानमें चौथी  
 चौकड़ी मंद हो जाती है वहांपर आहारविहार क्रिया नहीं होती ध्यानमें आरूढ रहते हैं  
 सातवेंसे छठे गुणस्थानमें आये वहांपर आहारादि क्रिया है इसीप्रकार छठा सातवां कर  
 रहते हैं वहांपर अंतर्मुहूर्तकाल है । आठवें गुणस्थानमें चौथी चौकड़ी अत्यंतमंद होजाता  
 है वहां रागभावकी अत्यंत क्षीणता होती है, वीतराग भाव पुष्ट होता है, स्वसंवेदनज्ञान  
 विशेष प्रकाश होना है श्रेणी मांडनेमें शुक्रध्यान उत्तरज होना है । श्रेणीके दो भेद हैं प  
 क्षय दूरी उपनाम, क्षयश्रेणीवाले तो उसी भवमें केवलज्ञान पाकर मुक्त होजाते  
 क्षय उपनामवाले आठवें भवमें दशवेंसे ग्यारवां स्पर्शकर पीछे पड़ जाते हैं सो पुष्ट प  
 सब भी धारण करते हैं तथा क्षयवाले आठवेंसे नवमें गुणस्थानमें प्राप्त होते हैं व  
 क्षयपोषा सर्वथा नाश होता है एक मज्जलन लोभ रह जाताहै अन्य सबका अभाव होने  
 वीतराग भाव प्रति प्रबल होजाता है इमलिये स्वसंवेदनज्ञानका बहुत ज्यादा प्रकाश होना  
 परंतु एक मज्जलनलोभ बाकी रहनेमें वहां सरागचारित्र ही कहा जाता है । दशवें गुण  
 स्थानमें मूढन लोभनी नहीं रहता तब मोहकी अदृष्टस प्रकृतियोंके जानेसे वीतरागचारि  
 की निर्दिष्ट हो जाती है । दशवेंमें बारवेंमें जाने हैं ग्यारवें गुणस्थानका स्पर्श नहीं कर  
 वहां निर्दिष्ट वीतरागिक शुक्रध्यानका दूरा पाया ( भेद ) प्रगट होता है यथाप्या  
 चरित्र होजाता है । बारवेंके अंतर्में ज्ञानावगण दर्शनावरण अंतराय इन तीनोंका भ  
 रित्ता कर तथा मोहका नाश पड़े हो ही बुद्ध या तब चारों पातियाक्रमिक जाने  
 तेवें गुणस्थानमें केवलज्ञान प्रगट होता है वहां पर ही शुद्ध परमात्मा होना है अर्थात्  
 उसके शब्द पूर्ण प्रकाश होजाता है निःकषाय है । चौथे गुणस्थानमें लेकर बार  
 गुणस्थानतक तो अंतराय है उसके गुणस्थान प्रति चरती हुई शुद्धता है लो  
 दशगुणस्थान परमात्माके है यह सागण समझना ॥ १२ ॥

मूढः पियतरागः पञ्च परः अप्या त्रिविधः हवेद् मूढो निष्कामत्वरागादिपरिणतो यहि-  
रागा, विचक्षणो वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानपरिणतोऽन्तरात्मा, ब्रह्मा शुद्धबुद्धैकस्य-  
भावः परमात्मा । शुद्धबुद्धस्वभावलक्षणं कथ्यते—शुद्धो रागादिरहितो बुद्धोऽनंतज्ञानादि-  
बुद्धुत्पत्तिः इति शुद्धबुद्धस्वभावलक्षणं सर्वत्र शातक्यं । स एव कथंभूतः ब्रह्मा । परमो  
भावश्चर्मद्रुच्यते नोऽर्हन् रहितः । एवमात्मा त्रिविधो भवति । देहः जि अप्या जो मुण्डः सो  
जणु मूढः हवेद् वीतरागनिर्विकल्पस्वमाधिगं ज्ञानसदानंदैकमुग्धमृतस्वभावमलभमानः सन्  
देहमेवात्मानं यो मनुते जानाति स जनो लोको मूढात्मा भवति इति । अत्र यहिरात्मा  
देहसदपेक्षया परात्परं तारात्मोपादेयस्यापि सर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मापेक्षया स देह इति  
शात्पर्यार्थः ॥ १३ ॥

अथ परमसमाधिस्थितः सन् देहविभिन्नं ज्ञानमयं परमात्मानं योऽसौ जानाति सोऽत-  
रात्मा भवतीति निरूपयति,—

देहविभण्णउ णाणमउ, जो परमप्पु णिएह ।  
परमसमाहिपरिद्वियउ पंडित सो जि हवेह ॥ १४ ॥  
देहविभिन्नं ज्ञानमयं यः परमात्मानं जानाति ।  
परमसमाधिपरिस्थितः पण्डितः स एव भवति ॥ १४ ॥

देहविभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएह अनुपचरितासद्गतव्यवहारनयेन देहा-

आगे तीनप्रकार आत्माके भेद तथा उनमेंसे प्रथम यहिरात्माका लक्षण कहते हैं—  
[ मूढः ] निष्कामत्वरागादिरूप परिणत हुआ यहिरात्मा, [ विचक्षणः ] वीतरागनिर्विकल्प  
स्वसंवेदनज्ञानरूप परिणमन करता हुआ अंतरात्मा [ ब्रह्मपरः ] और शुद्धबुद्ध स्वभाव  
परमात्मा अर्थात् रागादिरहित अनंतज्ञानादिसहित; भावद्रव्य कर्म, नोऽकर्म रहित आत्मा  
इसप्रकार [ आत्मा ] आत्मा [ त्रिविधो भवति ] तीन तरह का है अर्थात् यहिरात्मा  
अंतरात्मा परमात्मा ये तीन भेद हैं । इनमेंसे [ यः ] जो [ देहमेव ] देहको ही  
[ आत्मानं ] आत्मा [ मनुते ] मानता है [ स जनः ] वह भागी [ मूढः ] यहिरात्मा  
[ हवेह ] है अर्थात् यहिर्मुक्त निष्कामदृष्टी है ॥ भावार्थ—जो देहको आत्मा समझता है  
वह वीतराग निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न हुए परमानंद सुखामृतको नहीं पाता हुआ मूर्ख है  
अज्ञानी है । इन तीनप्रकारके आत्माओंमेंसे यहिरात्मा तो त्याग्य ही है आदर योग्य नहीं  
है, इसकी अपेक्षा यद्यपि अंतरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टी वह उपादेय है तौ भी सबतरहसे  
उपादेय ( ग्रहण करने योग्य ) जो परमात्मा उसकी अपेक्षा वह अंतरात्मा हेय ही है,  
शुद्ध परमात्मा ही ध्यानकरने योग्य है । ऐसा जानना ॥ १३ ॥

आगे परमसमाधिमें स्थित, देहसे भिन्न ज्ञानमयी ( उपयोगमयी ) आत्माको जानना है

दमिन्नं निश्चयनयेन भिन्नं ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तं परमात्मानं योसौ जानाति परम  
समाहिपरिद्वियउ पंडिउ सो जि हवेइ वीतरागनिर्विकल्पसहजानंदैकशुद्धात्मानुभूतिलक्ष  
णपरमसमाधिस्थितः सन् पंडितोतरात्मा विवेकी स एव भवति । “कः पंडितो विवेकी”  
वचनात् इति अंतरात्मा हेयरूपो, योसौ परमात्मा भणितः स एव साक्षादुपादेय ई  
भावार्थः ॥ १४ ॥

अथ समस्तपरद्रव्यं मुक्त्वा केवलज्ञानमयकर्मरहितशुद्धात्मा येन लब्ध स परमात्मा  
भवतीति कथयति;—

अप्पा लद्धउ णाणमउ, कम्मविमुक्के जेण ।

मिळ्ळिवि सयलुवि दब्बुपरु, सो परु मुणहि मणेण ॥ १५ ॥

आत्मा लब्धो ज्ञानमयः कर्मविमुक्तेन येन ।

मुक्त्वा सकलमपि द्रव्यं परं तं परं मन्यस्व मनसा ॥ १५ ॥

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्मविमुक्के जेण आत्मा लब्धः प्राप्तः । किंविशिष्टः  
ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः । कथंभूतेन सता । ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावकर्मरहिते  
येन । किं कृत्वात्मा लब्धः । मिळ्ळिवि सयलुवि दब्बु परु सो परु मुणहि मणेण मुक्त्वा  
परित्यज्य । किं । परद्रव्यं देहरागादिकं । कतिसंख्योपेतमपि । समस्तमपि तमित्यंभूतम

वह अंतरात्मा है ऐसा कहते हैं;—[ यः ] जो पुरुष [ परमात्मानं ] परमात्मा  
[ देहविभिन्नः ] शरीरसे जुदा [ ज्ञानमय ] केवलज्ञानकर पूर्ण [ जानाति ] जानता  
[ स एव ] वो ही [ परमसमाधिपरिस्थितः ] परमसमाधिमें तिष्ठता हुआ [ पंडितः  
अंतरात्मा अर्थात् विवेकी [ भवेत् ] है ॥ भावार्थ—यद्यपि अनुपचरितासद्भूत व्यवह  
रयसे अर्थात् इस जीवके परवस्तुका संबंध अनादिकालका मिथ्यारूप होनेसे व्यवह  
नपकर देहमयी है तौ भी निश्चयनयकर सर्वथा देहादिकसे भिन्न है और केवल ज्ञानम  
है ऐसा निज शुद्धात्माको वीतरागनिर्विकल्प सहजानंद शुद्धात्माकी अनुभूतिरूप पर  
समाधिमें न्वित होता हुआ जानता है वही विवेकी अंतरात्मा कहलाता है । वह परमात्  
ही सर्वथा आराधने योग्य है ऐसा जानना ॥ १४ ॥

. आगे सब परद्रव्योंको छोड़कर कर्मरहित होकर जिसने अपना स्वरूप केवल ज्ञानम  
पा लिया है वही परमात्मा है ऐसा कहते हैं;—[ येन ] जिसने [ कर्मविमुक्तेन  
ज्ञानावरणादिकर्मोंको नाशकरके [ सकलमपि परं द्रव्यं ] और सब देहादिक परद्रव्यों  
[ मुक्त्वा ] छोड़करके [ ज्ञानमयः ] केवलज्ञान गई [ आत्मा ] आत्मा [ लब्धः  
पाया है [ तं ] उसको [ मनसा ] शुद्धमनसे [ परमात्मानं ] परमात्मा [ मन्यस्व  
जान ॥ भावार्थ—जिसने देहादिक समस्त परद्रव्योंको छोड़कर ज्ञानावरणादि द्रव्यक

स्मानं परं परमात्मानमिति मन्यस्व जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । केन कृत्वा । मायामिथ्या-  
निदानशाल्यत्रयस्वरूपादिममस्त्विभावपरिणामरहितेन मनमेति । अत्रोक्तलक्षणपरमात्मा  
उपादेयो ज्ञानावरणादिसमस्तविभावरूपं परद्रव्यं तु हेयमिति भावार्थः ॥ १५ ॥ एवं  
त्रिधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये मंत्रशेषेण त्रिविधात्ममूचनमुत्पत्तया सूत्रपंचकं गतं ।  
तदनंतरं मुक्तिगतकेवलज्ञानादिव्यक्तिरूप सिद्धजीवव्याख्यानमुत्पत्त्यत्वेन दोहकमूत्रदमकं  
प्रारभ्यते । तथा ।

लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा हरिहरादिविशिष्टपुरुषा यं ध्यायन्ति तं परमात्मानं जानीहीति  
प्रतिपादयति;—

तिष्ठुयणचंदित सिद्धिगत, हरिहर स्नायहि जो जि ।

लखु अलखें धरिवि थिरु, मुणि परमप्पउ सो जि ॥ १६ ॥

त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं हरिहरा ध्यायन्ति यमेव ।

लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा स्थिरं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ १६ ॥

तिष्ठुयण चंदित सिद्धिगत हरिहर स्नायहि जो जि त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं यं  
केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं परमात्मानं हरिहरहरिण्यगर्मादयो ध्यायन्ति । किञ्चना पूर्व ।  
लखु अलखें धरिवि थिरु लक्ष्यं संकल्परूपं चित्तं अलक्ष्येण दीनरामनिर्विकल्पनि-  
त्यानन्दैकस्वभावपरमात्मरूपेण धृत्वा । कथंभूतं । स्थिरं पतीपहोपगर्गिगुभितं मुनि परम-

रगादिक भावकर्म शरीरादि नोकर्म इन तीनोंसे रहित केवलज्ञानमई अपने आत्माका  
लाभ करलिया है ऐसे आत्माको हे प्रभाकर भट्ट तू माया मिथ्या निदानरूप शाल्य शरीरः  
समस्त विभाव ( विकार ) परिणामोंसे रहित निर्मल चित्तसे परमात्मा जान तथा केवल-  
ज्ञानादि गुणोंवाला परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है और ज्ञानावरणादिरूप सब पर-  
धनु त्यागने योग्य है ऐसा समझना चाहिये ॥ १५ ॥ इगपकार जिगमें तीनतरहके  
आत्माका कथन है ऐसे प्रथम महाधिकारमें त्रिविध आत्माके कथनसे मुक्ततामें तीनोंसे  
स्वल्पमें पांच दोहायुत्र कहे । अब मुक्तिको प्राप्त हुए केवलज्ञानादिरूप सिद्ध परमात्माके  
व्याख्यानसे मुख्यताकर दम दोहायुत्र कहते हैं ।

उनमें पांच दोहामें जो हरि हरादिक षडे पुरुष अपना मन स्थिरकर जित परमात्माका  
ध्यान करते हैं उसीका तू भी ध्यान कर यह कहते हैं;—[ हरिहराः ] इन्द्र नारायण  
और रुद्र शरीरः षडे २ पुरुष [ त्रिभुवनवन्दितं ] तीन लोककर बंदनीक ( त्रैलोक्यनाथ )  
[ सिद्धिगतं ] और केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप सिद्धपनेको प्राप्त [ यं एव ] जिन परमा-  
त्माको ही [ ध्यायन्ति ] ध्यायते हैं [ लक्ष्यं ] अपने मनको [ अलक्ष्यं ] हीन्यग  
निर्विकल्प नित्यानन्द सभाव परमात्माके [ स्थिरं धृत्या ] स्थिर करके [ तमेव ] उसीको

प्यउ सो जि तमित्यंभूतं परमात्मानं हे प्रभाकरभट्ट मन्यस्व जानीहि भावयेत्यर्थः । अत्र केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपमुक्तिगतपरमात्ममदृशो रागादिरहितः स्वशुद्धात्मा साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥ १६ ॥ संकल्पविकल्पस्वरूपं कथ्यते । तद्यथा—वहिट्रं व्यविषये पुत्रकृत-प्रादिचेतनाचेतनरूपे ममेदमिति स्वरूपः संकल्पः, अहं सुखी दुःखीत्यादिचित्तगतो हर्षनि-पादादिपरिणामो विकल्प इति । एवं संकल्पविकल्पलक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यं ।

अथ नित्यनिरंजनज्ञानमयपरमानंदस्वभावज्ञांतशिवस्वरूपं दर्शयन्नाहः—

णिञ्चु णिरंजणु णाणमउ, परमाणंदसहाउ ।

जो एहउ सो संत सिउ, तासु मुणिज्जहि भाउ ॥ १७ ॥

नित्यो निरंजनो ज्ञानमयः परमानंदस्वभावः ।

य इत्थंभूतः स ज्ञांतः शिवः तस्य मन्यस्व भावम् ॥ १७ ॥

णिञ्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंदसहाउ द्रव्यार्थिकनयेन नित्योऽविनश्वरः, रागा-दिक्र्ममलरूपांजनरहितत्वान्निरंजनः, केवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वान् ज्ञानमयः, शुद्धात्मभावनो-त्थवीनरागानंदपरिणतत्वात्परमानंदस्वभावः जो एहउ सो संत सिउ य इत्थंभूतः स ज्ञांतः शिवो भवति हे प्रभाकरभट्ट तासु मुणिज्जहि भाउ तस्य वीतरागतान् शांतस्य परमानंदमुग्धमयत्वान् शिवम्यरूपस्य त्वं जानीहि भावय । फं भावय । शुद्धबुद्धैकम्यभा-वमित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

हे प्रभाकर भट्ट तू [ परमात्मानं ] परमात्मा [ मन्यस्व ] जान चितवनकर । सारांग यह है कि केवलज्ञानादिरूप उस परमात्माके समान रागादिरहित अपने शुद्धात्माके पदचान, वही माशान् उपादेय है अन्य सब संकल्प विकल्प त्यागने योग्य हैं ॥ अत्र संकल्प विकल्पका स्वरूप कहते हैं कि जो बाह्यवस्तु पुत्र स्त्री कुटुंब बांधव वगैरः जीव-पदार्थ तथा चांदी सोना रत्न मणिके आमूषण वगैरः अचेतनपदार्थ हैं इन सबको अपने ममज्ञे कि मेरे हैं ऐसे ममत्वपरिणामको संकल्प जानना । तथा मैं सुखी मैं दुःखी इत्यादि हर्षनिपाद परिणाम होना वह विकल्प है । इसप्रकार संकल्प विकल्पका स्वरूप जानना चाहिये ॥ १६ ॥

आगे नित्य निरंजन ज्ञानमयी परमानंदस्वभाव ज्ञांत और शिवम्यरूपपणा वर्णन करते हैंः—[ नित्यः ] द्रव्यार्थिकनयकर अविनाशी [ निरंजनः ] रागादिक उपाधिसे रहित अथवा कर्ममदृशी अंजनमे रहिन [ ज्ञानमयः ] केवलज्ञानमे परिपूर्ण और [ परमा-नंदस्वभावः ] शुद्धात्मभावनाकर उत्पन्न हुए वीतराग परमानंदकर परिणत है [ यः इत्थंभूतः ] जो ऐसा है [ सः ] वही [ ज्ञांतः शिवः ] ज्ञानरूप और शिवम्यरूप है [ त्वम् ] उमी परमात्माका [ भावः ] शुद्ध बुद्धस्वभाव [ जानीहि ] हे प्रभाकर भट्ट तू इन अर्थों ध्यान कर ॥ १७ ॥

पुनश्च किं विदित्तो भवति:—

जो निजभाउ ण परिहरह, जो परभाउ ण लेह ।

जाणह मग्गल्लुधि णिधु पर, सो मिउ संतु हवेह ॥ १८ ॥

यो निजभावं न परिहरति यः परभावं न लाति ।

जानाति मकलमपि नित्यं परं न शिवः शान्तो भवति ॥ १८ ॥

यः कर्त्ता निजभाषमनंतज्ञानादिनिजभावं न परिहरति यश्च परभावं कामक्रोधारिरूपमा-  
करूपतया न शृद्धानि । पुनरपि स्वधंभूतः । जानाति सर्वमपि जगत्त्रयकालत्रयवर्णितवस्तुस-  
भावं न वेदते जानाति द्रव्याधिक्नयेन नित्य एव अथवा नित्यं सर्वकालमेव जानाति परं  
नियमेन । न स्वधंभूतः शिवो भवति शान्तश्च भवतीति । किं च अयमेव जीवः मुक्ता-  
वस्थायां व्यक्तिरूपेण शान्तः शिवमंशं लभते संसारावस्थायां तु शुद्धद्रव्याधिक्नयेन शक्ति-  
रूपेणेति । तथा चोक्तं । परमार्थनयाय सदा शिवाय नमोस्तु । पुनश्चोक्तं: “शिवं परम-  
ब्रह्मणं निर्वाणं शान्तमग्र्यं । प्राप्तं मुक्तिपदं येन न शिवः परिकीर्तित,” अन्यः कोप्येको  
जगत्कर्त्ता कदापि सदा मुक्तः शान्तः शिवोन्मीत्येवं न । अत्रायमेव शान्तशिवमंशः शुद्धा-  
त्मोपादेय इति भाषार्थः ॥ १८ ॥

अथ पूर्वोक्तं निरंजनस्वरूपं मूपत्रयेण व्यर्थाकरोति:—

जामु ण यणु ण गंधु ररु, जामु ण सहु ण फासु ।

जामु ण जम्मणु मरणु णधि, णाउ गिरंजणु तासु ॥ १९ ॥

जामु ण कोहू ण मोहू मउ, जामु ण माय ण माणु ।

जामु ण ठाणु ण हाणु जिय, सो जि गिरंजणु जाणि ॥ २० ॥

आगे फिर उगी परमात्माका कथन करते हैं:—[ यः ] जो [ निजभावं ] अनंतज्ञा-  
नादिरूप अपने भावोंको [ न परिहरति ] कभी नहीं छोड़ता [ यः ] और जो [ पर-  
भावं ] कामक्रोधारिरूप परभावोंको [ न लाति ] कभी ग्रहण नहीं करता है [ सकल-  
मपि ] तीनलोक तीनकालकी सब चीजोंको [ परं ] केवल [ नित्यं ] हमेशा  
[ जानाति ] जानता है [ सः ] यही [ शिवः ] शिवस्वरूप तथा [ शान्तः ] शान्तस्वरूप  
[ भवति ] है । भाषार्थ—संसार अवस्थामें शुद्धद्रव्याधिक्नयकर सभी जीव शक्तिरूपसे  
परमात्मा हैं व्यक्तिरूपसे नहीं हैं । ऐसा कथन अन्यग्रंथोंमें भी कहा है—शिवमित्यादि  
अर्थात् परमकल्याणरूप निर्वाणरूप महाशान्त अविनश्वर ऐसे मुक्तिपदको जिसने पा लिया  
है वही शिव है अन्य कोई, एक जगत्कर्त्ता सर्वव्यापी सदा मुक्त शान्त शिवरूप नैयायिकोंका  
तथा वैशेषिकवर्गैरःका माना हुआ नहीं है । यह शुद्धात्मा ही शान्त है शिव है उपादेय है ॥



अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु, अत्थि ण हरिमु यिमाउ ।  
अत्थि ण एक्खुचि दोसु जसु, सो जि गिरंजणु भाउ ॥ २१ ॥ निपदं

यस्य न वर्णो न गंधो रसः यस्य न शब्दो न स्पर्शः ।

यस्य न जन्म मरणं नापि नाम निर्जनस्य ॥ १९ ॥

यस्य न क्रोधो न मोहो मदः यस्य न माया न मानः ।

यस्य न स्थानं न ध्यानं जीव तमेव निरंजनं जानीहि ॥ २० ॥

अस्ति न पुण्यं न पापं यस्य अग्नि न हर्षो विपादः ।

अस्ति न एकोपि दोषो यस्य स एव निरंजनो भावः ॥ २१ ॥ त्रिकुटं ।

यस्य मुक्तासनः शुक्लकृष्णरक्तपीतनीलरूपपंचप्रकारवर्णो नाम्नि सुगन्धदुर्गन्धरूपो द्वि-  
कारो गंधो नास्ति कटुकतीक्ष्णमधुराम्लकषायरूपः पंचप्रकारो रसो नाम्नि मायासंज्ञ-  
भाषासंज्ञादिभेदभिन्नः शब्दो नास्ति शीतोष्णान्निध्यरूक्षगुरुलघुमृदुकठिनरूपोष्टप्रकारः स्पर्शो  
नास्ति पुनश्च यस्य जन्म मरणमपि नैवान्नि तस्य चिदानंदैकस्वभावपरमात्मनो निरंजन-  
संज्ञा लभते ॥ पुनश्च किंरूपः स निरंजनः । यस्य न विद्यते । किं किं न विद्यते ।  
क्रोधो मोहो विज्ञानाद्यष्टविधमदभेदो यस्यैव मायामानकषायो यस्यैव नाभिहृदयललाटादि-  
ध्यानस्थानानि चित्तनिरोधलक्षणध्यानमपि यस्य न तमित्थंभूतं स्वशुद्धात्मानं हे जीव निरं-  
जनं जानीहि । व्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांशरूपममन्विभावपरिणामान् त्यक्त्वा  
स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः ॥ पुनरपि किंस्वभावः स निरं-

आगे पहले कहे हुए निरंजनस्वरूपको तीन दोहामूर्त्तोंसे प्रगट करते हैं;—[यस्य]  
जिस मगवानके [वर्णः] सफेद काला लाल पीला नीलस्वरूप पांचप्रकार वर्ण [न]  
नहीं है [गंधः रसः] सुगंधदुर्गंधरूप दो प्रकारकी गंध [न] नहीं है मधुर आम्ल  
(सडा) तिक्त कटु कषाय 'क्षार'रूप पांच रस नहीं हैं [यस्य] जिसके [शब्दः न]  
माया अभाषारूप शब्द नहीं है अर्थात् सचित्त अचित्तमिश्ररूप कोई शब्द नहीं है सात-  
स्वर नहीं है [स्पर्शः न] शीत उष्ण श्लिथ रूक्ष गुरु लघु मृदु कठिनरूप आठतरहका  
स्पर्श नहीं है [यस्य] और जिसके [जन्म न] जन्म जरा नहीं है [मरणं नापि]  
तथा मरण भी नहीं है [तस्य] उसी चिदानंद शुद्धस्वभावपरमात्माकी [निरंजनं नाम]  
निरंजनसंज्ञा है अर्थात् ऐसे परमात्मा को ही निरंजनदेव कहते हैं ॥ फिर वह निरंजन-  
देव कैसा है—[यस्य] जिस सिद्ध परमेष्ठीके [क्रोधः न] गुस्सा नहीं है [मोहः मदः  
न] मोह तथा कुल जाति बगैर आठ तरहका अभिमान नहीं है [यस्य माया न  
मानः न] जिसके माया व मान कषाय नहीं है और [यस्य] जिसके [स्थानं न]  
ध्यानके स्थान नाभि हृदय मस्तक बगैर नहीं है [ध्यानं न] चित्तके रोकनेरूप ध्यान

जनः । यस्यासि न । किं किं नासि । द्रव्यभावरूपं पुण्यपापं च । पुनरपि किं नासि । रागरूपो हर्षो द्वेषरूपो विपादश्च । पुनश्च । नासि क्षुधाद्यष्टादशदोषेषु मध्ये कैकोपि दोषः स एव शुद्धात्मा निरंजन इति हे प्रभाकरभट्ट त्वं जानीहि । स्वशुद्धात्ममंचित्तिलक्षणवीतरागनिर्विकल्पसमाधिं स्थित्वानुभवेत्यर्थः । किंच । एवंभूतसूत्रत्रयव्याख्यातलक्षणो निरंजनो ज्ञातव्यो न चान्यः कोपि निरंजनोऽस्ति परकल्पितः । अत्र सूत्रत्रयेपि विमुद्धानानदर्शनस्वभावो योसौ निरंजनो व्याख्यातः स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ १९।२.०।२.१ ॥

अथ धारणाध्येयमंत्रमंत्रमंडलमुद्रादिकं व्यवहारध्यानविषयं मंत्रवादनास्वरुधितं यत्तन्निर्दोषपरमात्मारोपनाध्याने निषेधयंति;—

जासु ण धारणु धेउ णचि, जासु ण जंतु ण मंतु ।

जासु ण मंडलु मुह णचि, सो मुणि देउ अणंतु ॥ २२ ॥

यस्य न धारणा ध्येयं नापि यस्य न यंत्रो न मन्त्रः ।

यस्य न मण्डलं मुद्रा नापि तं गन्यस्य देवमन्तम् ॥ २२ ॥

यस्य परमात्मनो नासि न विद्यते । किं किं । कुंभकरेचकपूरकमंत्रा वायुधारणादिकं प्रतिमादिकं ध्येयमिति । पुनरपि किं तस्य । अक्षररचनाविन्यागरूपमभनमोहनादिविषयं

नहीं है अर्थात् जब चित्त ही नहीं है तो रोकना किसका हो [ स एव ] ऐसे निजशुद्धात्माको हे जीव तू जान ॥ सारांश यह हुआ कि अपनी प्रसिद्धता ( बड़ाई ) महिमा अपूर्व वस्तुका मिलना और देखे सुने भोग इनकी इच्छारूप सब विभावपरिणामोंको छोड़कर अपने शुद्धात्माकी अनुभूतिसरूप निर्विकल्पसमाधिमें ठहरकर उस शुद्धात्माका अनुभवकर ॥ पुनः यह निरंजन कैसा है—[ यस्य ] जिसके [ पुण्यं न पापं न अस्ति ] द्रव्यभावरूप पुण्य नहीं तथा पाप नहीं है [ हर्षः विपादः न ] राग द्वेषरूप गुशी व रंज नहीं हैं [ यस्य ] और जिसके [ एकः अपि दोषः ] क्षुधा ( भूख ) शंकरः दोषोंमेंसे एक भी दोष नहीं है [ स एव ] वही शुद्धात्मा [ निरंजनः ] निरंजन है ऐसा तू [ भाषय ] जान ॥ भावार्थ—ऐसे निज शुद्धात्माके परिज्ञानरूप वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें स्थित होकर तू अनुभव कर । इसप्रकार तीनदोषाओंमें जिसका स्वरूप कहा गया है उमे ही निरंजन जानो अन्य कोई भी परकल्पित निरंजन नहीं है । इन तीनों दोषाओंमें जो निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाववाला निरंजन कहा गया है वही उपादेय है ॥ १९।२.०।२.१ ॥

आगे धारणा ध्येय मंत्र मंत्र मंडल मुद्रा आदिक व्यवहारध्यानके विषय मंत्रवादनास्वमे कहे गये हैं उन सबका निर्दोषपरमात्माकी आरोपनारूप ध्यानमें निषेध किया है;—[ यस्य ] जिस परमात्माके [ धारणा न ] कुंभक पूरक रेचक नामवाली वायु-

यंत्रस्वरूपं विविधाक्षरोच्चारणरूपं मंत्रस्वरूपं च अपमंडलवायुमंडलपृथ्वीमंडलादिकं गारुडमुद्राज्ञानमुद्रादिकं च यस्य नास्ति तं परमात्मानं देवमारार्थ्यं द्रव्यार्थिकनयेनानंतमनश्चरमनंतज्ञानादिगुणस्वभावं च मन्यस्य जानीहि । अतीन्द्रियमुद्रास्वादविपरीतस्य त्रिद्वेन्द्रियविषयस्य निर्मोहशुद्धात्मस्वभावप्रतिकूलस्य मोहस्य वीतरागसहजानंदपरममरसीभावमुखरसानुभवप्रतिपक्षस्य नवप्रकाराब्रह्मव्रतस्य वीतरागनिर्विकल्पममाधिपातस्य मनोगतसंकल्पविकल्पजालस्य च विजयं कृत्वा हे प्रभाकरभट्ट शुद्धात्मानमनुभवेत्यर्थः । तत्र चोक्तं । “अक्खाणरसणीं कम्माण मोहणीं तह वयाण वंमं च । गुत्तीमु य मणगुत्ती चउरो दुक्खेहिं सिज्जंति” ॥ २२ ॥

अथ वेदशास्त्रेन्द्रियादिपरद्रव्यालंबनाविषयं च वीतरागनिर्विकल्पममाधिषयं च परमात्मानं प्रतिपादयति;—

वेयहिं सत्थाहिं इंदियहिं, जो जिय मुणहु ण जाइ ।

णिम्मलझाणहं जो विसउ, सो परमप्पु अणाइ ॥ २३ ॥

वेदैः शास्त्रैरिन्द्रियैः यो जीव मंतुं न याति ।

निर्मलध्यानस्य यो विषयः स परमात्मा अनादिः ॥ २३ ॥

वेदशास्त्रेन्द्रियैः कृत्वा योसौ मंतुं शतुं न याति । पुनश्च कथंभूतो यः । मिथ्यात्वा-

धारणादिक नहीं है [ ध्येयं नापि ] प्रतिमा वगैरः ध्यानकरने योग्य पदार्थ भी नहीं है [ यस्य ] जिसके [ यंत्रं न ] अक्षरोंकी रचनारूप स्तंभन मोहनादि विषयक यंत्र नहीं है [ मंत्रः न ] अनेकतरहके अक्षरोंके बोलनेरूप मंत्र नहीं है [ यस्य ] और जिसके [ मंडलं न ] जलमंडल वायुमंडल अग्निमंडल पृथ्वीमंडलादिक पवनके भेद नहीं है [ मुद्रा न ] गारुडमुद्रा ज्ञानमुद्रा वगैरः मुद्रा नहीं हैं [ तं ] उसे [ अनंतं ] द्रव्यार्थिकनयसे अविनाशी तथा अनंतज्ञानादिगुणरूप [ देवं मन्यस्य ] परमात्मादेव जानी । भावार्थ—अतीन्द्रिय आत्मीकमुखके आत्मादसे विपरीत जिह्वाइंद्रिके विषय (रस) को जीतके निर्मोह शुद्धस्वभावसे विपरीत मोहभावको छोड़कर और वीतराग सहज आनंद परम समरसीभाव मुखरूपी रसके अनुभव का शत्रु जो नौ तरहका कुशील उसको तथा निर्विकल्पसमाधिके पातक मनके संकल्प विकल्पोंको त्यागकर हे प्रभाकर भट्ट तू शुद्धात्माका अनुभव कर । ऐसा ही दूसरी जगह भी कहा है—“अक्खाणेति” इसका आशय हमतरह है कि इंद्रियोंमें जीव प्रचल होती है ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंमें मोह कर्म बलवान् होता है पांच महाप्रतीकों ब्रह्मचर्य व्रत प्रचल है और तीन गुणियोंमेंसे मनोगुति पाटना कठिन है । ये चार बातें मुदिकलसे सिद्ध होती हैं ॥ २२ ॥

आगे वेद शास्त्र इंद्रियादि परद्रव्योंके अगोचर और वीतरागनिर्विकल्प समाधिके मोबर (द्रव्यश्च) ऐसे परमात्माका स्वरूप कहते हैं,—[ वेदैः ] केवली की दिव्य

विरतिप्रसादश्चापाययोगाभिधानपंचमन्तरहितम्य निर्मलम्य स्वशुद्धात्मसंविस्तिमंजातनित्या-  
भंदश्चगुरुरास्ताम्यादपरिणतम्य ध्यानम्य विषयः । पुनरपि कथंभूतो यः । अनादिः स पर-  
मात्मा भवतीति हे जीव जानीहि । तथा शोकं । “अन्यथा वेदपांडित्यं शास्त्रपांडित्यम-  
न्यथा । अन्यथा परमं तत्त्वं होवाः स्मिरयंति चान्यथा” । अत्रार्थभूत एव शुद्धात्मोपादे-  
यो अन्यद्वयमिति भावार्थः ॥ २३ ॥

अथ योगी वेदादिविषयो न भवति परमात्मा समतद्विषयो भवति पुनरपि तस्मैव  
स्वरूपं व्यक्तं करोति,—

केवलदंमणणाणमउ, केवलसुखसहाउ ।

केवलधीरिउ सो मुणहिं, जो जि परायरु भाउ ॥ २४ ॥

केवलदर्शनज्ञानमयः केवलमुत्सवभावः ।

केवलदीर्यमं मन्यम्य य एव परापरो भावः ॥ २४ ॥

केवलोत्साहः ज्ञानदर्शनाभ्यां निर्दुःखः केवलदर्शनज्ञानमयः केवलानंदसुरास्वभावः केव-

घाणीकरके [ शास्त्रः ] महा मुनियोके बचनोसे तथा [ इंद्रियैः ] इंद्रिय और मनसे भी  
[ यः ] जो शुद्धात्मा [ संतुं ] जाना [ न याति ] नहीं जाता है अर्थात् वेद शास्त्र ये  
दोनों शब्द अर्थ स्वरूप हैं आत्मा शब्दार्थात् है तथा इंद्रिय मन विकल्परूप हैं और  
मूर्तीक पदार्थको जानते हैं वह आत्मा निर्विकल्प है अमूर्तीक है इसलिये इन तीनोंसे  
नहीं जानसकते । [ यः ] जो आत्मा [ निर्मलध्यानस्य ] निर्मलध्यानके [ विषयः ]  
गम्य है [ सः ] वही [ अनादिः ] आदि अंत रहित [ परमात्मा ] परमात्मा है अर्थात्  
मिथ्यात्व अकृत प्रमाद कषाय योग इन पांचतरह आसबोंसे रहित निर्मल निज शुद्धा-  
त्माके ज्ञानकर उदयल हुए नित्यानंद सुखाभूतका आस्ताद उस स्वरूप परिणत निर्विकल्प  
अपने स्वरूपके ध्यानकर स्वरूप की प्राप्ति है । आत्मा ध्यानगम्य ही है शास्त्रगम्य नहीं  
है क्योंकि जिनको शास्त्र सुननेसे ध्यानकी सिद्धि हो जावे वो ही आत्माका अनुभव  
करसकते हैं जिन्होंने पाया उन्होंने ध्यानसे ही पाया है और शास्त्र सुनना तो ध्यानका  
उपाय है ऐसा समझकर अनादि अनंत चिद्रूपमें अपना परिणाम लगाओ । दूसरी जगह  
भी “अन्यथा” इत्यादि कहा है । उसका यह भावार्थ है कि वेद शास्त्र तो अन्य तरह ही  
हैं नयप्रमाणरूप हैं तथा ज्ञानकी पंडिताई कुछ और ही है वह आत्मा निर्विकल्प है  
नय प्रमाण निक्षेपसे रहित है वह परमतत्त्व तो केवल आनंद रूप है और ये लोक  
अन्य ही मार्गमें लगे हुए हैं सो कृपा क्लेश कर रहे है । इस जगह अर्थरूप शुद्धात्मा ही  
उपादेय है अन्य सब त्यागने योग्य हैं यह सारांश समझना ॥ २३ ॥

आगे कहते हैं कि जो परमात्मा वेद शास्त्र गम्य तथा इंद्रियगम्य नहीं केवल परमस-

लान्तवीर्यमभाव इति यन्ममान्मानं मन्यन्व ज्ञानीः । पुनश्च कथंभूतो य एष । यः परः  
परः परेभ्योऽर्हत्परमेष्ठिभ्यः पर उन्कृष्टो मुक्तिगतः शुद्धान्मा भावः पदाग्रेः स एष मंत्र-  
रेणोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ २४ ॥

अथ त्रिभुवनवन्दित इत्यादिलक्षणयुक्तो योगी शुद्धान्मा भगिनः स लोकत्रयं निरुत्त-  
कथयति;—

एषहिं जुत्ताउ लक्ष्मणिहिं, जो परु णिफालु देउ ।

सो तहिं णिवसइ परमपइ, जो तइलोयहं मेउ ॥ २५ ॥

एतैर्युक्तो लक्षणैः यः परो निष्कलो देवः ।

स तत्र निवसति परमपदे यत् त्रैलोक्यस्य सेतुः ॥ २५ ॥

एतैस्त्रिभुवनवन्दितादिलक्षणैः पूर्वोक्तैर्युक्तो यः पुनश्च कथंभूतो यः परः । परमान्मन-  
भावः । पुनरपि किंविशिष्टः । निष्कलः पंचविधशरीररहितः । पुनरपि द्विविदिष्टः । देव-  
स्त्रिभुवनाराध्यः स एव परमपदे मोक्षे निवसति । यत्पदं कथंभूतं । त्रैलोक्यव्यापक-

माधिरूप निर्विकल्पध्यानकर ही गम्य है इसलिये उसीका स्वरूप फिर कहते हैं;—[यः]  
जो [केवलदर्शनज्ञानमयः] केवलज्ञान केवलदर्शनमई है अर्थात् जिसके सबसुख  
आश्रय (सहायता) नहीं आप ही सब बातोंमें परिपूर्ण ऐसे ज्ञान दर्शनवाला है [के-  
वलसुखस्वभावः] जिसका केवलसुख स्वभाव है और जो [केवलवीर्यः] अनंतवीर्यवाला  
है [स एव] वही [परापरभावः] उत्कृष्ट अर्हतपरमेष्ठीसे भी अधिक स्वभाववाला  
सिद्धरूप शुद्धान्मा है [मन्यस्व] ऐसा मानो ॥ भावार्थ—परमात्माके दो भेद हैं एक  
सकल परमात्मा एक निकल परमात्मा उनमेंसे कल अर्थात् शरीरसहित तो अर्हत  
भगवान हैं वे साकार हैं और जिनके शरीर नहीं ऐसे निकल परमात्मा निराकाररूप  
सिद्धपरमेष्ठी हैं वे सकल परमात्मासे भी उत्तम हैं वही सिद्धरूप शुद्धान्मा ध्यान करने  
योग्य है ॥ २४ ॥

आगे तीन लोककर बंदना करने योग्य पूर्व कहे हुए लक्षणों सहित जो शुद्धान्मा  
कहा गया है वही लोकके अग्रमें रहता है यह कहते हैं;—[एतैः लक्षणैः] 'तीन  
भुवनकर बंदनीक' इत्यादि जो लक्षण कहे थे उन लक्षणोंकर [युक्तः] सहित [परः]  
सबसे उत्कृष्ट [निष्कलः] औदारिक वैकिक आहारक तैजस कार्माण ये पांच शरीर  
जिसके नहीं हैं अर्थात् निराकार है [देवः] तीन लोककर आराधित जगत का देव है  
[यः] ऐसा जो परमात्मा सिद्ध है [सः] वही [तत्र परमपदे] उस लोकके शिखर-  
पर [निवसति] विराजमान है [यत्] जो कि [त्रिलोकस्य] तीनलोकका [सेतुः]  
शिरोमणि है । भावार्थ—यहांपर जो सिद्ध परमेष्ठीका व्याख्यान किया है उसीके

मिति । अत्र तदेव शुद्धजीवग्रहणं स्वशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ २५ ॥ एवं त्रिविधात्मरचनप्रथममहाधिकारमध्ये मुक्तिगतसिद्धजीवव्याख्यानसुरयत्वेन दोहकसूत्र-  
दशकं गतं ।

अत्र ऊर्ध्वं प्रथोपपंचयमंतर्भाष्यमुर्विंशतिसूत्रपर्यंतं यादृशो व्यक्तिरूपः परमात्मा मुक्तौ तिष्ठति तादृशः शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण तिष्ठतीति कथयंति तथा;—

जेहउ णिम्मल्लु णाणमउ, सिद्धिहि णिघसइ देउ ।

नेहउ णिघसइ घंभु पर, देहं मं फरि भेउ ॥ २६ ॥

यादृशो निर्मलो ज्ञानमयः सिद्धौ निवसति देवः ।

तादृशो निवसति ब्रह्मा परः देहे मा कुरु भेदं ॥ २६ ॥

यादृशः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपः कार्यसमयसारः निर्मलो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममल-  
रहितः ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्युक्तः केवर्षज्ञानांतर्भूतानंतगुणपरिणतः सिद्धो मुक्तो  
मुक्तौ निवसति तिष्ठति देवः परमाराध्यः तादृशः पूर्वोक्तलक्षणसदृशः निवसति तिष्ठति  
ब्रह्मा शुद्धबुद्धैकत्वभावः परमात्मा पर उत्कृष्टः । कः निवसति । देहे । केन । शुद्धद्रव्याधि-  
कनयेन । कथंभूतेन । शक्तिरूपेण हे प्रभाकरभट्ट भेदं माकार्षींस्त्वमिति । तथाचोक्तं  
श्रीशुंभुंदाचार्यदेवैः मोक्षप्राभृते । “णमिण्हिं जं णमिज्जइ हाइज्जइ साएण्हिं अणवरयं ।  
शुय्वंतेहिं धुणिज्जइ देहत्थं किंपि तं गुणदं ।” अत्र स एव परमात्मोपादेय इति भावार्थः ॥२६॥

समान अपना भी स्वरूप है वही उपादेय ( ध्यान करने योग्य ) है जो सिद्धालय है  
वह देहालय है अर्थात् जैसा सिद्धलोकमें विराज रहा है वैसाही हंस ( आत्मा ) इस  
पट ( देह ) में विराजमान है ॥ २५ ॥

इसप्रकार जिसमें तीनतरहके आत्माका कथन है ऐसे प्रथम महाधिकारमें मुक्तिको  
प्राप्त हुए सिद्धपरमात्माके व्याख्यानकी मुख्यताकर चौथे खलमें दश दोहा सूत्र कहे ॥  
आगे पंचश्लोक मिले हुए चौबीस दोहाओंमें जैसा प्रगटरूप परमात्मा मुक्तिमें है वैसा ही  
शुद्धनिश्चयनयकर देहमें भी शक्तिरूप है ऐसा कहते हैं;—[ यादृशः ] जैसा केवल  
ज्ञानादि प्रगटस्वरूप कार्यसमयसार [ निर्मलः ] उपाधिरहित द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरूप  
मलसे रहित [ ज्ञानमयः ] केवल ज्ञानादि अनंत गुणरूप सिद्ध परमेष्ठी [ देवः ] देवा-  
धिदेव परम आराध्य [ सिद्धा ] मुक्तिमें [ निवसति ] रहता है [ तादृशः ] वैसा ही  
सब लक्षणोंसहित [ परं ब्रह्म ] पर ब्रह्म शुद्ध बुद्धत्वभाव परमात्मा उत्कृष्ट शुद्धद्रव्याधि-  
कनयकर शक्तिरूप परमात्मा [ देहे ] शरीरमें [ निवसति ] तिष्ठता है इसलिये हे प्रभा-  
करभट्ट तू [ भेदं ] सिद्ध भगवानमें और अपनेमें भेद [ मा कार्षीः ] मत करे । ऐसा  
ही मोक्ष पाहुडमें श्रीकुंदकुदाचार्यने भी कहा है “णमिण्हिं” इत्यादि—इसका मट

अथ येन शुद्धात्मना समवेदनज्ञानचक्षुषावशोक्तिनेन पूर्णकृतकर्मणि नश्यन्ति तं किं न जानासि त्वं हे योगिनि कथयन्ति,—

जं दिष्टिं तुष्टंति लघु, कम्मइं पुण्यकियाइं ।

सो पर जाणहिं जोइया, देहि वसंतु ण काइं ॥ २७ ॥

येन दृष्टेन पुष्ट्यंति लघु कर्माणि पूर्वकृतानि ।

तं परं जानासि योगिन् देहे वसंतं न किम् ॥ २७ ॥

जं दिष्टिं तुष्टंति लघु कम्मइं पुण्यकियाइं येन परमात्मना दृष्टेन महानंदैकरूपरि-  
रागनिर्विकल्पममाधिलक्षणनिर्मललोचनेनाश्लोक्तिनेन पुष्ट्यंति शान्तगुणानि भवंति लघु शीघ्रं  
अंतर्मुहूर्तेन । कानि । परमात्मनः प्रतिबंधकानि समवेगमाशोनाश्रितानि पूर्णकृतकर्मणि  
सो पर जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइं तं नित्यानंदैकरूपभावं स्वानां परमेष्ठे  
किं न जानासि हे योगिन् । कथंभूतमपि । स्वदेहे वसंतमपि । अत्र म एवोपादेय इति  
भावार्थः ॥ २७ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रश्नेपपंचकं कथयन्ति । तथा;—

जित्थुण इंदियसुहदुहइ, जित्थु ण मणचावारु ।

सो अप्पा सुणि जीव तुहं, अण्णु परिं अचहारु ॥ २८ ॥ (श्लो०)

अभिप्राय है कि जो नमस्कारयोग्य महापुरुषोंसे भी नमस्कार करने योग्य है, स्तुतिकरने  
योग्य सत्पुरुषोंसे स्तुति किया गया है और ध्यानकरने योग्य आचार्यपरमैष्टीवगौरहसे भी  
ध्यान करने योग्य ऐसा जीव नामा पदार्थ इस देहमें बसता है उसको तू परमात्मा  
जान । भावार्थ—वही परमात्मा उपादेय है ॥ २६ ॥

आगे जिस शुद्धात्माको सम्यग्ज्ञान नेत्रसे देखनेकर पहले उपार्जन किये हुए कर्म  
नाश होजाते हैं उसे हे योगिन् तू क्यों नहीं पहचानता ऐसा कहते हैं;—[येन] विज  
परमात्माको [दृष्टेन] सदा आनंदरूप धीतराग निर्विकल्प समाधि स्वरूप निर्मल  
नेत्रोंकर देखनेसे [लघु] शीघ्र ही [पूर्वकृतानि] निर्वाणके रोकनेवाले पूर्व उपाश्रित  
कर्म [पुष्ट्यंति] चूर्ण हो जाते हैं अर्थात् सम्यग्ज्ञानके अभावसे (अज्ञानसे) जो  
पहले शुभ अशुभकर्म कमाये थे वे निजस्वरूपके देखनेसे ही नाश हो जाते हैं [तं]  
उस सदानंदरूप परमात्माको [देहे वसंतं] देहमें बसते हुए भी [हे योगिन्] हे योगी  
[किं न जानासि] तू क्यों नहीं जानता । भावार्थ—जिसके जाननेसे कर्मकलंक  
दूर हो जाते हैं वह आत्मा शरीरमें निवास करता हुआ भी देहरूप नहीं होता उसको  
तू अच्छीतरह पहचान और दूसरे अनेक प्रपंचों (झगड़ों) को तो जानता है  
अपने स्वरूपकी तरफ क्यों नहीं देखता वह निज स्वरूप ही उपादेय है अन्य कोई  
नहीं है ॥ २७ ॥

यत्र नेन्द्रियमुखदुःखानि यत्र न मनोव्यापारः ।

तं आत्मानं मन्यस्व जीव त्वं अन्यत्परमपहर ॥ २८ ॥

जित्पु ष इन्द्रियमुखदुःखानि जित्पु ष मणवावाह यत्र शुद्धात्मस्वरूपे न मंति न विरंते । कानि । अनाहुत्वलक्षणपरमार्थिकमौरयविपरीतान्याहुत्वोत्पादकानीन्द्रियमुखदुःखानि यत्र च निर्विकल्पपरमात्मतो विलक्षणः संकल्पविकल्परूपो मनोव्यापारो नास्ति सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अण्यु परि अवहारु तं पूर्वोक्तलक्षणं स्वशुद्धात्मानं मन्यस्व नित्यानन्दस्वरूपं वीतरागनिर्विकल्पसमाधी मित्वा जानीहि हे जीव त्वं, अन्यत्परमात्मस्वभाव-द्विपरीतं पंचेन्द्रियविषयस्वरूपादिविभावसमूहं परमिन् दूरे सर्वप्रकारेणापहर स्वज, तात्पर्यार्थः । निर्विकल्पसमाधी सर्वत्र वीतरागविशेषणं किमर्थं कृतं इति पूर्वपक्षः । परिहार-माह । यत एव हेतोः वीतरागस्त एव निर्विकल्प इति हेतुहेतुमद्भावज्ञापनार्थं, अथवा ये सरागिणोपि संतो षयं निर्विकल्पसमाधिस्था इति वदन्ति तन्निषेधार्थं, अथवा श्वेतशंख-वस्त्ररूपविशेषणमिदं इति परिहारप्रयं निर्दोषिपरमात्मगन्दादिपूर्वपक्षेपि योजनीयं ॥ २८ ॥

अथ यः परमात्मा व्यवहारेण देहे तिष्ठति निश्चयेन स्वस्वरूपे तमाहः—

देहादेहहिं जो वसइ, भेषाभेषणाएण ।

सो अप्पा मुणि जीव तुहुं, किं अण्यं यहुएण ॥ २९ ॥ ( क्षे० )

इससे आगे पांच प्रक्षेपकों द्वारा आत्माही का कथन करते हैं;—[ यत्र ] जिस शुद्ध आत्म स्वभावमें [ इन्द्रियमुखदुःखानि ] आकुलतारहित अतीन्द्रियमुख से विपरीत जो आकुलताके उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियजनित मुखदुःख [ न ] नहीं हैं [ यत्र ] जिसमें [ मनोव्यापारः ] संकल्पविकल्परूप मनका व्यापार भी [ न ] नहीं है अर्थात् विकल्परहितपरमात्मासे मनके व्यापार जुदे हैं [ तं ] उस पूर्वोक्त लक्षणवालेको [ हे जीव त्वं ] हे जीव तू [ आत्मानं ] आत्माराम [ मन्यस्व ] मान [ अन्यत्परं ] अन्य सब विभावोंकी [ अपहर ] छोड़ ॥ भावार्थ—ज्ञानानन्दस्वरूप निज शुद्धात्माको निर्विकल्पसमाधिमें स्थिर होकर जान अन्य परमात्मस्वभावसे विपरीत पांच इन्द्रियोंके विषयवगैरह सब विकार परिणामोंको दूरसे ही त्याग उनका सर्वथा ही त्याग । यहांपर किसी शिष्यने प्रश्न किया कि निर्विकल्पसमाधिमें सब जगह वीतरागविशेषण क्यों कहा है उसका उत्तर कहते हैं—जहांपर वीतरागता है वहीं निर्विकल्पसमाधिपना इस रहस्यको समझानेकेलिये अथवा जो रागी हुए कहते हैं कि हम निर्विकल्पसमाधिमें स्थित हैं उनके निषेधकेलिये वीतरागता सहित निर्विकल्पसमाधिका कथन किया गया है, अथवा सफेद शंखकी तरह स्वरूप प्रगट करनेकेलिये कहा गया है अर्थात् जो शंख होगा वह श्वेत ही होगा उसी-प्रकार जो निर्विकल्पसमाधि होगी वह वीतरागतारूप ही होगी ॥ २८ ॥



देहादेहयोः यो वसति भेद्रामेदनयेन ।

तमात्मानं मन्यस्व जीव त्वं किमन्येन बहुना ॥ २९ ॥

देहादेहयोरधिकरणभूतयोर् यो वसति । केन । भेद्रामेदनयेन । तथाहि—अनुपचरित-  
सद्भूतव्यवहारेणाभेदनयेन स्वपरालनोऽमिते स्वदेहे वसति शुद्धनिश्चयनयेन तु भेदनं  
स्वदेहाद्भिन्ने स्वात्मनि वसति यः तमात्मानं मन्यस्व जानीहि हे जीवं नित्यानंदैर्कवीर्यज्ज-  
निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । किमन्येन शुद्धालनो मित्रेण देहरागादिना बहुना ।  
अत्र योसौ देहे वसन्नपि निश्चयेन देहरूपो न भवति स एव स्वशुद्धालोपादेन इति  
वात्पर्यार्थः ॥ २९ ॥

अप जीवाजीवयोरैक्यं माकार्षीर्लक्षणभेदेन भेदोऽस्तीति निरूपयति;—

जीवाजीव म एकु करि, लक्षणभेदं भेद ।

जो परु सो परु भणामि शुणि, अप्पा अप्पु अमेउ ॥ ३० ॥ (क्षे०)

जीवाजीवी मा एकौ कार्षीः लक्षणभेदेन भेदः ।

मत्परं तत्परं भणामि मन्यस्व आत्मन आत्मना अमेदः ॥ ३० ॥

हे प्रभाकरभट्ट जीवाजीवावैक्यं मा कार्षीः । कस्मान् । लक्षणभेदेन भेदोऽस्ति ।  
तद्यथा—रमादिरहितं शुद्धचैतन्यं जीवलक्षणं । तथा चोक्तं प्राभृते “अरसमरूचमर्ण-  
मत्परं वेदनागुणमसहं जाग अलिंगगहणं जीवमणिद्विट्ठमंठाणं” इत्यंभूतशुद्धान्तो  
निष्प्रमजीवलक्षणं । तत्र द्विविधं । जीवसंबंधमजीवमंबंधं च । देहरागादिरूपं जीवमंबंधं,

भाग्ये यद् परमात्मा व्यवहारनयसे तो इस देहमें ठहर रहा है लेकिन निश्चयनयकर  
धरने स्वरूपमें ही निष्ठता है ऐसा आत्माको कहते हैं;—[ यः ] जो [ भेद्रामेदनयेन  
देहादेहयोः वसति ] अनुपचरित अमद्भूतव्यवहारनयकर अपनेसे भिन्न जड़रूप देहमें  
निष्ठ रहा है और शुद्धनिश्चयनयकर अपने आत्मस्वभावमें ठहरा हुआ है अर्थात् स्व-  
हारनयकर तो देहमें अभेदरूप ( तन्मय ) है और निश्चयमें सदाकालसे अत्यंत शुद्ध  
है अपने स्वभावमें मिन है [ तं ] उमें [ हे जीव त्वं ] हे जीव तू [ आत्मानं ] पर-  
मात्मा [ मन्यस्व ] जान अर्थात् नित्यानंद वीतराग निर्विकल्पममाधिमें ठहरके अपने  
अन्माद्या ध्यानकर [ अन्येन ] अपनेमें भिन्न [ बहुना ] देह रागादिकोंसे [ किं ] ठहर  
कना प्रयोचन है । भावार्थ—देहमें रहता हुआ भी निश्चयसे देहस्वरूप जो नहीं होता  
वही मिन शुद्धान्ता उपदेय है ॥ २९ ॥

अपे जीव और अजीवमें लक्षणके भेदमें भेद है तू दोनोंको एक मत जाने ऐसा  
कहते हैं;—हे प्रभाकरभट्ट तू [ जीवाजीवी ] जीव और अजीवको [ एकौ ] एक  
[ मा कार्षीः ] मत करे क्योंकर इन दोनोंमें [ लक्षणभेदेन ] लक्षणके भेदमें [ भेदः ]

पुद्गलादिपंचद्रव्यरूपमजीवसंबंधमजीवलक्षणं । अत एव भिन्नं जीवादजीवलक्षणं ततः  
कारणात् यत्परं रागादिकं तत्परं जानीहि । कथंभूतं । भेदमभेदमित्यर्थः । अत्र योसौ  
शुद्धलक्षणमेयुक्तः शुद्धात्मा स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ३० ॥

अथ तस्य शुद्धात्मनो ज्ञानमयादिलक्षणं विशेषेण कथयति;—

अमणु अणिदिउ णाणमउ, मुत्तिविरहिउ चिमित्तु ।

अप्पा इंदियपिसउ णवि, एवखणु एहु णिरुत्तु ॥ ३१ ॥ ( श्लो० )

अमनस्कः अनिन्द्रियो ज्ञानमयः मूर्तिविरहितश्चिन्मात्रः ।

आत्मा इन्द्रियविषयो नापि लक्षणमिदं निरुक्तम् ॥ ३१ ॥

परमात्मविपरीतमानसविकल्पजालरहितत्यादमनस्कः अतीन्द्रियशुद्धात्मविपरीतेनेन्द्रियमा-

भेद है [ यत्परं ] जो परके संबंधसे उत्पन्न हुए रागादि विभाव ( विकार ) हैं [ तत्परं ]  
उनको पर ( अन्य ) [ मन्यस्व ] समझ [ च ] और [ आत्मनः ] आत्माका [ आत्मना  
अभेदः ] अपनेसे अभेद जान [ भणामि ] ऐसा मैं कहता हूँ ॥ भावार्थ—जीव अजीवके  
लक्षणोंमेंसे जीवका लक्षण शुद्ध चैतन्य है यह स्पर्श रस गंधरूप शब्दादिकसे रहित है ।  
ऐसा ही श्रीसम्यसारमें कहा है—“अरस”मित्यादि । इसका सारांश यह है कि जो  
आत्मद्रव्य है वह सिद्ध यौगैः पांच प्रकारके रसरहित है, श्वेतआदिक पांच तरहके वर्ण-  
रहित है सुगंध दुर्गंध इन दो तरहके गंध जिसमें नहीं हैं पगट ( दृष्टिगोचर ) नहीं है,  
चैतन्यगुणकरसहित है, शब्दसे रहित है, पुरुगलिंग यौगैः करके ग्रहण नहीं होता  
अर्थात् लिंगरहित है और जिसका आकार नहीं दीखता अर्थात् निराकार वस्तु है  
आकार छै प्रकारके हैं—समचतुरस्र, त्र्यगोपपरिमंडल, सातिक, कुब्जक, वामन, हुंडक ।  
इन छह प्रकारके आकारोंसे रहित है ऐसा जो चिद्रूप निजवस्तु है उसे तू पहचान ॥  
आत्मासे भिन्न जो अजीव पदार्थ है उसके लक्षण दो तरहसे हैं एक जीवसंबंधी दूसरा  
अजीवसंबंधी । जो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरूप है वह तो जीवसंबंधी है और पुद्गलादि  
पांचद्रव्यरूप अजीव जीवसंबंधी नहीं है अजीवसंबंधी ही है इसलिये अजीव हैं जीवसे  
भिन्न हैं इसकारण जीवसे भिन्न अजीवरूप जो पदार्थ है उनको अपने मत समझो ।  
यद्यपि रागादिक विभाव परिणाम जीवमें ही उपजते हैं इससे जीवके कहे जाते हैं परंतु  
वे कर्मजनित हैं परपदार्थ ( कर्म ) के संबंधसे हैं इसलिये पर ही समझो । यदां पर जीव  
अजीव दो पदार्थ कहे गये हैं उनमेंसे शुद्ध चैतना लक्षणका धारण करनेवाला शुद्धात्मा  
ही ध्यान करने योग्य है यह सारांश हुआ ॥ ३० ॥

आगे शुद्धात्माके ज्ञानादिक लक्षणोंको विशेषणसे कहते हैं;—[ आत्मा ] यह शुद्ध  
आत्मा [ अमनाः ] परमात्मासे विपरीत विकल्पजालमयी मनसे रहित है [ अतीन्द्रियः ]

मेण रहितत्वादतीन्द्रियो लोकालोकप्रकाशकेवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वान् ज्ञानमयः अमूर्तान्-  
परीतलक्षणया स्पर्शरसगंधवर्णवत्या मूर्त्या वर्जितत्वान्मूर्तिविरहितः अन्यद्रव्यामाधारतः  
शुद्धचेतनया निष्प्रतत्वाचिन्मात्रः । कोसौ । आत्मा । पुनश्च किंविशिष्टः । वीतरागस्तमैः-  
नज्ञानेन प्राहोपीन्द्रियाणामविषयश्च लक्षणमिदं निरुक्तं निश्चितमिति । अत्रोक्तलक्षणपरमा-  
लोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ३१ ॥

अयं संसारशरीरभोगनिर्विण्णो भूत्वा यः शुद्धात्मानं ध्यायति तस्य संसारवह्नी नरा-  
तीति कथयति;—

भवतणुभोयविरक्तमणु, जो अप्पा झाएइ ।  
तासु गुरुकी बेह्छडी, संसारिणि तुटेइ ॥ ३२ ॥ (क्षे०)  
भवतनुभोगविरक्तमना य आत्मानं ध्यायति ।  
तस्य गुर्वा बही सांसारिकी शुट्वति ॥ ३२ ॥

भवतनुभोगेषु रंजितं मूर्च्छितं वासितमासक्तं चित्तं स्वसंवित्तिममुत्पन्नवीतरागपरमानंदं  
परमात्मादेन व्यावृत्त्य स्वशुद्धात्ममुखे रतत्वात्संसारशरीरभोगविरक्तमनाः सन् यः शुद्ध-  
त्मानं ध्यायति तस्य गुरुकी महती संसारवह्नी शुट्वति नश्यति शतचूर्णां भवतीति । अ-  
थेन परमात्मध्यानेन संसारवह्नी विनश्यति स एव परमात्मोपादेयो भावनीयश्चेति तात्प-  
र्यार्थः ॥ ३२ ॥ इति चतुर्विंशतिसूत्रमध्ये प्रश्नेपकपंचकं गतं ।

शुद्धात्मासे भिन्न इन्द्रियसमूहसे रहित है [ ज्ञानमयः ] लोक और अलोकके प्रकाशने-  
वाले केवलज्ञानशरूप है [ मूर्तिविरहितः ] अमूर्तक आत्मासे विपरीत स्पर्शरसगंध-  
बर्णवाली मूर्तिरहित है [ चिन्मात्रः ] अन्य द्रव्योंमें नहीं पाई जावे ऐसी शुद्धचेतना-  
शरूप ही है और [ इन्द्रियविषयः नैव ] इन्द्रियोंके गोचर नहीं है वीतरागस्तमैः  
ही प्रदग्ग किया जाता है [ इदं लक्षणं ] ये लक्षण जिसके [ निरुक्तं ] मगट कहे गये  
हैं । उमको ही तू निःमंदेह आत्मा जान । इस जगह जिसके ये लक्षण कहे गये हैं वही  
आत्मा है वही उपादेय है आराधने योग्य है यह तात्पर्य निकला ॥ ३१ ॥

अग्रे जो कोई संसार शरीर भोगोंसे निरक्त होके शुद्धात्माका ध्यान करता है उसीके  
संसारवह्नी बंध नाशको प्राप्त होजाती है यह कहते हैं;—[ यः ] जो जीव [ भवतनु-  
भोगविरक्तमनाः ] संसार शरीर और भोगोंमें निरक्त मन हुआ [ आत्मानं ] शुद्धा-  
त्माका [ ध्यायति ] ध्यान करने लगता है [ तस्य ] उमकी [ गुर्वा ] मोठी [ बही ] संसा-  
रिणी ] संसारवह्नी बंध [ शुट्वति ] नाशको प्राप्त होजाती है । भाषार्थ—संसार शरीर-  
भोगोंमें अत्यंत आसक्त ( लगा हुआ ) चित्त है उमको आत्मज्ञानमें उपगत हुए वीतराग-  
विरक्तसुखमूर्च्छित आत्ममनसे सगठबंधमें दृष्टाकर अपने शुद्धात्ममुखमें अनुरागी कर शरीर-

सद्वनंरं देहदेवगृहे योगी घसति स एव शुद्धनिश्चयेन परमात्मा तन्निरूपयंति;—

देहादेवलि जो घसइ, देउ अणाइअणंतु ।

केवलज्ञानस्फुरिततनु, सो परमप्पु णिभंतु ॥ ३३ ॥

देहदेवालये यः घसति देवः अनाघनंतः ।

केवलज्ञानस्फुरिततनुः स परमात्मा निर्भातः ॥ ३३ ॥

व्यवहारेण देहदेवकुले घमन्नपि निश्चयेन देहाङ्गिभ्रत्वादेहवन्मूर्तः सर्वाशुचिमयो न भवति । यद्यपि देहो नाराध्यस्तथापि स्वयं परमात्माराध्यो देवः पूज्यः, यद्यपि देह आशंत-  
तथापि स्वयं शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनानाघनंतः, यद्यपि देहो जडस्तथापि स्वयं लोकालोकप्रका-  
शकत्वात्केवलज्ञानस्फुरिततनुः केवलज्ञानप्रकाशरूपशरीर इत्यर्थः । स पूर्वोक्तलक्षणयुक्तः  
परमात्मा भवतीति । कथंभूतः । निर्भातः निस्संदेह इति । अत्र योसौ देहे घसन्नपि  
सर्वाशुच्यादि देहधर्मं न स्पृशति स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ३३ ॥

अथ शुद्धात्मविलम्बणे देहे घसन्नपि देहं न स्पृशति देहेन सोपि न स्पृश्यत इति प्रति-  
पादयति:—

देहे यसंतुवि णचि छिचइ, णियमें देहु जि जो जि ।

देहिं छिप्पइ जो जि णचि, मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३४ ॥

देहे घसन्नपि नैव स्पृशति, नियमेन देहं अपि यः अपि ।

देहेन स्पृश्यते योपि नैव मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ३४ ॥

आदिकमें बैराग्यरूप हुआ जो शुद्धात्माको विचारता है उसका संसार छूट जाता है इस-  
लिये जिस परमात्माके ध्यानसे संसाररूपी घेलि दूर हो जाती है वही ध्यान करने योग्य  
( उपादेय ) है ॥ ३२ ॥

आगे जो देहरूपी देवालयेमें रहता है वही शुद्धनिश्चयनयसे परमात्मा है यह कहते  
हैं;—[ यः ] जो व्यवहारनयकर [ देहदेवालये ] देहरूपी देवालयेमें [ घसति ] घसता  
है निश्चयनयकर देहसे भिन्न है देहकी तरह मूर्तीक तथा अशुचिमय नहीं है महा  
अविश्र है [ देवः ] आराधने योग्य है पूज्य है, देह आराधने योग्य नहीं है [ अनाघ-  
नंतः ] जो परमात्मा आप शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर अनादि अनंत है तथा यह देह आदि  
अंतकर सहित है [ केवलज्ञानस्फुरिततनुः ] जो आत्मा निश्चयनयकर लोकअलोकको  
प्रकाशनेवाले केवलज्ञानस्वरूप है अर्थात् केवलज्ञान ही प्रकाशरूप शरीर है और देह  
जड़ है [ सः परमात्मा ] वही परमात्मा [ निर्भातः ] निःसंदेह है इसमें कुछ संशय  
नहीं समझना । साराश यह है कि जो देहमें रहता है तो भी देहसे जुदा है सर्वाशुचि-  
मयी देहको वह देव छूता नहीं है वही आत्मदेव उपादेय है ॥ ३३ ॥

मदेहो न भवति कापि तमेव परमात्मानं हे प्रभाकरमट्ट मन्यस्य जानीहि वीतरागत्व-  
दनज्ञानेन भावयेत्यर्थः । अत्र सर्वैव परमात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिगतानुष्ठाने  
भवत्यन्येषां हेय इति भावार्थः ॥ ३६ ॥

यः परमार्थेन देहकर्मरहितोपि मृदात्मनां सकल इति प्रतिभातीत्येवं निरूपयति,—

जो परमर्थं णिक्कलुचि, कम्मविभिण्णउ जो जि ।

मृदा सयल्लु भणंति फुट्ट, मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३७ ॥

यः परमार्थेन निःकलोपि कर्मविभिन्नो य एव ।

मृदाः सकलं भणंति स्फुटं मन्यस्य परमात्मानं तमेव ॥ ३७ ॥

यः परमार्थेन निःकलोपि देहकर्मरहितोपि कर्मविभिन्नोपि य एव भेदाभेदरत्नत्रयभावना  
हिना मृदान्मानसमात्मानं सकलमिति भणंति स्फुटं निश्चितं हे प्रभाकरमट्ट तमेव पर-  
त्मानं मन्यस्य जानीहीति, वीतरागमदानंदैकममार्थो स्थित्वानुभवत्यर्थः । अत्र स ए  
परमात्मा शुद्धात्ममवितिप्रतिपन्नभूतमिष्यात्वरागादिनिवृत्तिकाले सम्यगुपादेवो भवति  
तदभावे हेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ३७ ॥

अघानंताकाशैकनभ्रनिव यस्य केवलज्ञाने त्रिभुवनं प्रतिभाति स परमात्मा भवतीति  
कथयति,—

यमे ॥ भावार्थ—परमात्माकी भावनासे विपरीत जो राग द्वेष मोह हैं उनकर यदी  
शरदशासनयमे यंपा है और देहमें तिष्ठ रहा है तौभी निश्चयनयसे शरीररूप नहीं  
उममे जुश ही है किमी कालमें भी यह जीव जड न तो हुआ न होगा उसे हे प्रभा-  
करमट्ट परमात्मा जान निश्चयकर आत्मा ही परमात्मा है उसे तू वीतराग स्वसंवेदनदान  
विशुद्ध कर । सांगंश यह है कि यह आत्मा हमेशह वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें ही  
स्वानुभोको तो मिय है मृदाको नहीं ॥ ३६ ॥

आगे निश्चयनयकर आत्मा देह और कर्मोंमें रहित है तौभी मृदा (अज्ञानियों) के  
शरीररूप का लभ होना है ऐसा कहते हैं;—[ यः ] जो आत्मा [ परमार्थेन ] निश्च-  
यकर [ निःकलोपि ] शरीररहित है [ कर्मविभिन्नोपि ] और कर्मोंमें भी जुश  
नहीं [ मृदाः ] निश्चयशरदशासनयकी भावनामें निमुख मृदा [ सकलं ] शरीररूप  
ही [ स्फुटं ] अनदधानेमें [ भणंति ] मानते है सो हे प्रभाकरमट्ट [ तमेव ] उगीके  
[ परमात्मानं ] परमात्मा [ मन्यस्य ] जान अर्थान वीतराग सदानंद निर्विकल्पसमाधिमें  
रहके अनुभव कर । भावार्थ—वही परमात्मा शुद्धात्मके वैशि निश्चयात्तरागादिबोके ही  
होनेके अनद शरीर जीवोके उभादेय है और त्रिकके निश्चयात्तरागादिबोके ही  
रहके अनुभव कर । भावार्थ—वही परमात्मा शुद्धात्मके वैशि निश्चयात्तरागादिबोके ही  
होनेके अनद शरीर जीवोके उभादेय है और त्रिकके निश्चयात्तरागादिबोके ही

गगणि अणंति जि एषा उद्गु, जेहउ भुअणु चिहाइ ।

मुयहं जसु पएचिबिचउ, सो परमप्पु अणाइ ॥ ३८ ॥

गगने अनंतेपि एकमुद्गु यथा भुवनं विभाति ।

मुक्तस्य यस्य पदे विवितं स परमात्मा अस्ति ॥ ३८ ॥

गगने अनंतेष्वेकानुग्रहं यथा तथा भुवनं जगन् प्रतिभाति । क प्रतिभाति । मुक्तस्य यस्य पदे केवलज्ञाने विवितं प्रतिरंकलितं दर्पणे चिदमिव । स एवंभूतः परमात्मा भवतीति । अत्र यस्मै च केवलज्ञाने नक्षत्रमेकमिव लोकः प्रतिभाति स एव रागादिसमस्तविकल्परहितानामुपादेयो भवतीति भावार्थः ॥ ३८ ॥

अथ योगीन्द्रपुंदायौ निरवधिज्ञानमयो निर्विकल्पसमाधिकाले ध्येयरूपचित्यते तं परमात्मानमाहः—

जोइयपिंदह णाणमउ, जो झाइइइइ झेउ ।

मोक्खहं वारणि अणपरउ, सो परमप्पउ देउ ॥ ३९ ॥

योगिपुंदाः ज्ञानमयः यो ध्यायते ध्येयः ।

मोक्षस्य कारणे अनवरतं स परमात्मा देवः ॥ ३९ ॥

योगीन्द्रपुंदाः शुद्धात्मवीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतैः ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृतः यः कर्मतापन्नो ध्यायते चित्यते ध्येयो ध्येयरूपोपि । किमर्थं ध्यायते । मोक्षकारणे मोक्षनिमित्ते अनवरतं निरंतरं स एव परमात्मा देवः परमाराध्य इति । अत्र य एव परमात्मा मुनिपुंदानां ध्येयरूपो भजितः स एव शुद्धात्मसंवित्तिप्रतिपन्नभूतानरौद्रध्यानरहितानामुपादेय इति भावार्थः ॥ ३९ ॥

आगे अनंते आकाशमें एक नक्षत्रकी तरह जिसके केवलज्ञानमें तीनों लोक भासते हैं वही परमात्मा है ऐसा कहते हैं;—[ यथा ] जैसे [ अनंतेपि ] अनंत [ गगने ] आकाशमें [ एक उद्गु ] एक नक्षत्र [ “तथा” ] उसीतरह [ भुवनं ] तीनलोक [ यस्य ] जिसके [ पदे ] केवलज्ञानमें [ विवितं ] प्रतिविवितं हुआ [ विभाति ] दर्पणमें गुलकी तरह भासता है [ स ] वही [ परमात्मा ] परमात्मा [ अस्ति ] है ॥ भावार्थ—जिसके केवलज्ञानमें एक नक्षत्रकी तरह समस्त लोक अलोक भासते हैं वही परमात्मा रागादिसमस्त विकल्पोंसे रहित योगीधरोंको उपादेय है ॥ ३८ ॥

आगे अनंतज्ञानमयी परमात्मा योगीधरोंकर निर्विकल्पसमाधिकालमें ध्यानकरने योग्य है उसी परमात्माको कहते हैं;—[ यः ] जो [ योगीन्द्रपुंदाः ] योगीधरोंकर [ मोक्षस्य कारणेन ] मोक्षके निमित्त [ अनवरतं ] हमेशा [ ज्ञानमयः ] ज्ञानमई [ ध्यायते ] चिंतवन किया जाता है [ सः परमात्मा देवः ] वही परमात्मदेव [ ध्येयः ] आराधने

अथ योऽयं शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवो ज्ञानावरणादिकर्महेतुं लब्ध्वा प्रमत्यावगम्यं ज्ञानजनयति स एव परमात्मा भवति नान्यः कोपि जगत्कर्ता ब्रह्मादिरिति प्रतिपादयति,—

जो जिउ हेउ लहेवि विहिं, जगु बहुविहउ जणेइ ।  
लिंगत्तयपरिमंडियउ, सो परमपु हवेइ ॥ ४० ॥

यो जीवः हेतुं लब्ध्वा विधिं जगत् बहुविधं जनयति ।  
लिंगत्रयपरिमंडितः स परमात्मा भवति ॥ ४० ॥

यो जीवः कर्ता हेतुं लब्ध्वा । किं । विधिसंज्ञं ज्ञानावरणादिकर्म पञ्चाजंगमस्वावरणं जगज्जनयति स एव लिंगत्रयमंडितः सन् परमात्मा भण्यते न चान्यः कोपि जगत्कर्ता हरिहरादिरिति । तथा । योसौ पूर्वं बहुधा शुद्धात्मा भणितः स एव शुद्धब्रह्मार्थिकनयेन शुद्धोपि सन् अनादिमंतानागतज्ञानावरणादिकर्मबंधप्रच्छादितत्वाद्गीतरागनिर्विकल्पसहजानंदैकसुखास्वादमलभमानो व्यवहारनयेन त्रयो भवति, स्थावरो भवति, स्त्रीपुंनपुंसको लिंगो भवति तेन कारणेन जगत्कर्ता भण्यते नान्यः कोपि परकल्पितपरमात्मेति । अत्रायमेव शुद्धात्मा परमात्मोपलब्धिप्रतिपक्षवेदत्रयोदयजनितं रागादिविकल्पजालं निर्विकल्पसमाधिना यदा विनाशयति ततोपादेयभूतमोक्षमुखसाधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥४०॥

योग्य है दूसरा कोई नहीं ॥ भावार्थ—जो परमात्मा मुनियोंको ध्यावने योग्य कहा है वही शुद्धात्मज्ञानके वैरी आर्तरीद्विध्यान कर रहित धर्मध्यानी पुरुषोंको उपादेय है अर्थात् जब आर्तध्यान रौद्रध्यान ये दोनों छूट जाते हैं तभी उसका ध्यान होमकता है ॥ ३९ ॥

आगे जो शुद्धज्ञानस्वभाव जीव ज्ञानावरणादिकर्मोंके कारणसे त्रस स्थावरजन्मरूप जगत्को उत्पन्न करता है वही परमात्मा है दूसरे कोई भी ब्रह्मादिक जगत्कर्ता नहीं हैं ऐसा कहते हैं!—[ यः ] जो [ जीवः ] आत्मा [ विधिं हेतुं ] ज्ञानावरणादिकर्मरूप कारणोंको [ लब्ध्वा ] पाकर [ बहुविधं जगत् ] अनेक प्रकारके जगत्को [ जनयति ] पैदा करता है अर्थात् कर्मके निमित्तसे त्रस स्थावररूप अनेक जन्म धरता है [ लिंगत्रयपरिमंडितः ] खोलिंग पुरुषलिंग नपुंसकलिंग इन तीन चिन्होंकर सहित हुआ [ सः ] वही [ परमात्मा ] शुद्धनिधयकर परमात्मा [ भवति ] है अर्थात् अशुद्धपनेको परिणत हुआ जगतमें मंडकता है इसलिये जगतका कर्ता कहा है और शुद्धपनेरूप परिणत हुआ विभाव ( विकार ) परिणामोंको धरता है इसलिये हर्ता है । यह जीव ही ज्ञान अज्ञान दशाकर कर्ता हर्ता है और दूसरे कोई भी हरिहरादिक कर्ता हर्ता नहीं है ॥ भावार्थ—पूर्व जो शुद्धात्मा कहा था वह यद्यपि शुद्धनयकर शुद्ध है तौभी अनादिमे मसागमें ज्ञानावरणादिकर्मबंधप्रदकता हुआ वीतराग निर्विकल्पमज्ञानंद अद्वितीयमुखके स्वादको न पानेमे व्यवहारनयकर त्रम और स्थावररूप स्त्रीपुरुषनपुंसकलिंगादिमहित होता है इसलिये जगत्कर्ता कहा जाना

अथ यस्य परमात्मनः केवलज्ञानप्रकाशमध्ये जगद्भवति जगन्मध्ये सोऽपि वसति तथापि तदप्यो न भवतीति कथयन्ति;—

जस्य अन्धन्तरि जगु वसद्, जग अन्धन्तरि जो जि ।

जगि जि वसन्तुचि जगु जि णचि, मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ४१ ॥

यस्य अन्धन्तरे जगत् वसति जगतोऽन्धन्तरे य एव ।

जगति वसन्नपि जगत् एव नापि मन्यस्य परमात्मानं तमेव ॥ ४१ ॥

यस्य केवलज्ञानस्वाभ्यन्तरे जगत् त्रिभुवनं ज्ञेयभूतं घमति जगतोऽन्धन्तरे योऽसौ शायको भगवानपि घमति जगति घमन्नेव रूपविषये पशुरिव निश्चयनयेन तन्मयो न भवति मन्यस्य जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । तमित्थंभूतं परमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पममापौ स्थित्वा भाषयेत्यर्थः । अत्र योऽसौ केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयमारस्य वीतरागस्वसंवेदन-काले मुक्तिकारणं भवति स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ४१ ॥

अथ देहे वसन्नपि हरिहरादयः परमममाधेरभावादेव न जानन्ति स परमात्मा भवतीति कथयन्ति;—

हे अन्य कोई भी दूसरोंकर कल्पित परमात्मा नहीं है । यह आत्मा ही परमात्माकी प्रासिके शशु तीन वेदों ( सीलिंगादि ) कर उत्पन्न हुए रागादि विकल्पजालोंको निर्विकल्पसमाधिसे जिस समय नाश करता है उसी समय उपादेयरूप मोक्षमुखका कारण होनेसे उपादेय हो जाता है ॥ ४० ॥

आगे जिस परमात्माके केवलज्ञानरूप प्रकाशमें जगत वस रहा है और जगतके मध्यमें वह टहर रहा है तौभी वह जगतरूप नहीं है ऐसा कहते हैं;— [ यस्य ] जिस आत्मारामके [ अन्धन्तरे ] केवलज्ञानमें [ जगत् ] ससार [ वसति ] वस रहा है अर्थात् प्रतिबिंबित हो रहा है प्रत्यक्ष भास रहा है [ जगदन्धन्तरे ] और जगतमें वह वस रहा है अर्थात् सबमें व्याप रहा है । वह ज्ञाता है और जगत ज्ञेय है [ जगति वसन्नपि ] संसारमें निवास करताहुआ भी [ जगदेव नापि ] निश्चयनयकर किसी जगतकी वस्तुसे तन्मय ( उस स्वरूप ) नहीं होता अर्थात् जैसे रूपी पदार्थको नेत्र देखते हैं तौभी उनसे जुड़े ही रहते हैं इसतरह वह भी सबसे जुड़ा रहता है [ तमेव ] उसीको [ परमात्मानं ] परमात्मा [ मन्यस्य ] हे प्रभाकरभट्ट तू जान । भावार्थ—जो शुद्ध बुद्ध सर्वव्यापक सबसे अलिस शुद्धात्मा है उसे वीतराग निर्विकल्प समाधिमें स्थिर होकर ध्यान कर । जो केवलज्ञानादिव्यक्तिरूप कार्यसमयमार है उसका कारण वीतरागस्वसंवेदन ज्ञानरूप निजभाव ही उपादेय है ॥ ४१ ॥



नापि संसारः । तथाया—यस्य चिदानंदैक्यभावाद्गुह्यात्मनोऽद्विष्टप्रज्ञो द्रव्यभ्रंशरहित-  
 भावरूपः परमात्मप्रसिद्धः पंचप्रकारः संसारो नास्ति इत्यंभूतसंसारस्य कारणमूलात्-  
 निश्चित्यनुभागप्रदेशभेदमित्त्रकेवलज्ञानानंतचतुष्टयव्यक्तिरूपमोक्षपदार्थाद्विष्टप्रज्ञो बंधो  
 नास्ति सो परमप्पउ जाणि तुहुं मणि मिट्टिहिं वयहाक तमेत्थंभूतलक्षणं परमात्मनं  
 मनसि व्यवहारं मुक्त्वा जानीहि वीतरागनिर्विकल्पममाभौ शिव्या मारयेत्यर्थः । अथ व ए  
 शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणेन संसारेण बंधनेन च रहितः स एवानाकुलव्यलक्षणमंत्राद्येते-  
 यभूतमोक्षमुखसाधकत्वादुपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ४६ ॥

अथ यस्य परमात्मनो ज्ञानं वहीवन् श्रेयान्शिव्याभावेन निरन्तरे न च शक्त्यावेतने-  
 कथयति;—

श्रेयाभावं विद्धि जिम, थक्कइ णाणु वलेपि ।  
 मुक्कहं जसु पय विविथउ, परमसहाउ भणेपि ॥ ४७ ॥  
 श्रेयाभावे वही यथा तिष्ठति ज्ञानं वलेपि ।  
 मुक्तानां यस्य पदे विवितं परमश्रभावं भणित्वा ॥ ४७ ॥

श्रेयाभावे विद्धि जिम थक्कइ णाणु वलेपि श्रेयाभावे वही यथा तथा ज्ञानं तिष्ठति  
 व्यावृत्त्येति । यथा मंडपाद्यभावे वही व्यावृत्त्य तिष्ठति तथा श्रेयावलंबनाभावे ज्ञानं व्यावृत्त  
 तिष्ठति न च मातृत्वशक्त्यभावेनेत्यर्थः । कस्य संबंधि ज्ञानं । मुक्कहं मुक्तात्मनां ज्ञानं ।

नहीं है [बंधो नापि] और संसारके कारण जो प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेयरूप  
 चारप्रकारका बंध भी नहीं है । जो बंध केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टयकी प्रगटनाकर  
 मोक्षपदार्थसे जुदा है [तं परमात्मानं] उस परमात्माको [त्वं] तू [मनसि व्यवहारं  
 मुक्त्वा] मनमेंसे सब लौकिक व्यवहारको छोड़कर तथा वीतरागसमाधिमें ठहरकर  
 [जानीहि] जान अर्थात् चिंतयनकर । भावार्थ—शुद्धात्माकी अनुभूतिसे भिन्न जो  
 संसार और संसारका कारण बंध इनदोनोंसे रहित और आकुलतासे रहित लक्षणवान  
 मोक्षका मूलकारण जो शुद्धात्मा है वही सर्वथा आराधने योग्य है ॥ ४६ ॥

आगे जिस परमात्माका ज्ञान सर्वव्यापक है ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो ज्ञानसे न  
 जाना जावे सब ही पदार्थ ज्ञानमें भासते हैं ऐसा कहते हैं;—[यथा] जैसे मंडपके  
 अभावसे [वही] वेलि [तिष्ठति] थक जाती है अर्थात् जहांतक मंडप है वहांतक ठो  
 चढती रहे और आगे मंडपका सहारा न मिलनेसे चढनेसे ठहर जाती है उसीतर  
 [मुक्तानां] मुक्तजीवोंका [ज्ञानं] ज्ञान भी जहांतक ज्ञेय (पदार्थ) है वहांतक कै  
 जाता है [श्रेयाभावे] और ज्ञेयका अवलंबन न मिलनेसे [वलेपि] जाननेकी शक्ति  
 होनेपर भी [तिष्ठति] ठहर जाता है अर्थात् कोई पदार्थ जाननेसे बाकी नहीं रहता

य कथंभूतं । जसु पय विंविद्यत यस्य भाग्यतः पदे परमात्मस्वरूपे विंविने प्रतिरफन्ति  
सदाकारेण परिणतं । कस्मात् । परममहाउ भणेवि परमस्वभाव इति भणित्वा मन्वा  
शास्त्रैवेत्यर्थः । अत्र यस्वेत्यंभूतं ज्ञानं सिद्धगुणस्वोपादेयस्वाविनामूतं न एव शुद्धात्मोपादेय  
इति भावार्थः ॥ ४७ ॥

अथ यस्य कर्माणि यद्यपि गुणदुःख्यादिकं जनयन्ति तथापि स न जनितो न ह्यन्य-  
भिप्रायं मनसि श्रुत्वा सूत्रं कथयति;—

कम्मइ जारु जर्णात्तहिंघि, णिउ णिउ कज्जु सपायि ।

किंपि ण जणियउ हरिउ णयि, सो परमप्पउ भायि ॥ ४८ ॥

कर्मभिः यस्य जनयद्भिरपि निजनिजकार्यं सदापि ।

किमपि न जनितो ह्यतः नैव सं परमात्मानं भावय ॥ ४८ ॥

कर्मभिर्यस्य जनयद्भिरपि । किं । निजनिजकार्यं सदापि तथापि किमपि न जनितो  
ह्यन्य नैव सं परमात्मानं भावयत । यद्यपि व्यवहारानयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रतिबंधकारि  
कर्माणि गुणदुःख्यादिकं निजनिजकार्यं जनयन्ति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन अनंतज्ञानादिस्वरूपं  
न ह्यनं न विनाशितं न चाभिनयं जनितगुणादितं किमपि यस्यात्मनसं परमात्मानं

सब द्रव्य क्षेत्र काल और सब भावोंको ज्ञान जानता है ऐसे तीनलोक शरीरों अर्न्तों  
लोकालोक होवें तीन्हीं एक समयमें ही जान लेयें [ यस्य ] जिस भगवान परमात्माके  
[ पदे ] फेवलज्ञानमें [ परमस्वभावं ] अपना उत्कृष्टस्वभाव सबके जाननेरूप [ विंविने ]  
प्रतिभासित होरहा है अर्थात् ज्ञान सबका अंतर्भागी है सर्वाकारज्ञानकी परिणति है  
ऐसा [ भणित्वा ] जानकर ज्ञानका आराधन करो । भावार्थ—जहाँतक बंधक बदात्क  
ही थेलिकी बद्धवारी और जब बंधकका अभाव हो तब थेलि धिर होके आगे गरी पैरी  
लेकिन थेलिमें विस्तारशक्तिका अभाव नहीं कहसकते इसीतरह सर्वव्यापक ज्ञान के ब-  
लीका है जिसके ज्ञानमें सब पदार्थ शलकते हैं वही ज्ञान आत्माका परम स्वभाव है ऐसा  
जिसका ज्ञानहै वही शुद्धात्मा उपादेय है । यह ज्ञानानंशरूप आत्माका है वही गदाशु-  
निघोके चित्तका विश्राम ( टहरनेकी जगह ) है ॥ ४७ ॥

आगे जो शुभअशुभ कर्म हैं ये यद्यपि गुण दुःखादिको उपजाते हैं तीन्हीं बद्ध  
आत्मा किसीमें उत्पन्न नहीं हुआ किसीने बनाया नहीं ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर  
गायायूत्र कहते हैं;—

[ कर्मभिः ] ज्ञानावरणादि कर्म [ सदापि ] हमेशा [ निजनिजकार्यं ] अपने र-  
गुणदुःखादि कार्यको [ जनयद्भिरपि ] प्रगट करते हैं तीन्हीं शुद्धनिश्चयनयकर [ यस्य ]  
जिस आत्माका [ किमपि ] कुछभी अर्थात् अनंतज्ञानादि स्वरूप [ न जनितः ] न हो

वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । अत्र यदेव कर्मभिन्नं ह्यनं न चोत्तादितं चिदानंदैकस्वरूपं तदेवोपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ४८ ॥

अथ यः कर्मनिवद्धोपि कर्मरूपो न भवति कर्मापि तद्रूपं न संभवति तं परमात्मानं भावयेति कथयति;—

कम्मणिबद्धुवि होइ णवि, जो फुडु कम्मु कयावि ।

कम्मुवि जो ण कयावि फुडु, सो परमप्पउ भावि ॥ ४९ ॥

कर्मनिवद्धोपि भवति नैव यः स्फुटं कर्म कदाचिदपि ।

कर्मापि यो न कदाचिदपि स्फुटं तं परमात्मानं भावय ॥ ४९ ॥

कम्मणिबद्धुवि होइ णवि जो फुडु कम्मु कयावि कर्मनिवद्धोपि भवति नैव यः स्फुटं निश्चितं । किं न भवति । कर्म कदाचिदपि । तथाहि—यः कर्ता शुद्धात्मोपलंभाभावे-  
नोपार्जितेन ज्ञानावरणादिशुभाशुभकर्मणा व्यग्रहारेण वद्धोपि शुद्धनिश्चयेन कर्मरूपो न  
भवति । केवलज्ञानाद्यनंतगुणस्वरूपं त्यक्त्वा कर्मरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । पुनश्च किंवि-

नया पैदा किया और [ नैव हतः ] न विनाशकिया दूसरी तरहका किया [ तं ] उस  
[ परमात्मानं ] परमात्माको [ भावय ] तू चिंतवनकर । भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे  
शुद्धात्मस्वरूपके रोकनेवाले ज्ञानावरणादिकर्म अपने २ कार्यको करते हैं अर्थात् ज्ञानाव-  
रण तो ज्ञानको ढकता है, दर्शनावरणकर्म दर्शनको आच्छादन करता है, वेदनीय साक्षा  
असाक्षा उत्पन्न करके अर्थाद्रियसुखको घातता है मोहनीय सम्यक्त्व तथा चारित्रको रोकता  
है, आयुर्कर्म स्थितिके प्रमाण शरीरमें राखता है अविनाशीभावको प्रगट नहीं होने देता,  
नामकर्म नानाप्रकार गति जाति शरीरादिकको उपजाता है, गोत्रकर्म ऊंच नीच गोत्रमें  
छालदेता है और अंतरायकर्म अनंतवीर्य ( बल )को प्रगट नहीं होने देता । इसप्रकार  
कार्यको करते हैं तौभी शुद्धनिश्चयनयकर आत्माका अनंतज्ञानादिस्वरूप इन कर्मोंने न तौ  
नाशकिया और न नया उत्पन्न किया आत्मा तो जैसा है वैसाही है । ऐसे असंख्य परमात्माका  
तू वीतरागनिर्विकल्प समाधिमें स्थिर होकर ध्यानकर । यहांपर यह तात्पर्य है कि जो जीव-  
पदार्थ कर्मोंसे न हरागया न उपजा किसी दूसरी तरह नहीं किया गया वही चिदानंद  
स्वरूप उपादेय है ॥ ४८ ॥

इसके बाद जो आत्मा कर्मोंसे अनादिकालका बंधा हुआ है तौभी कर्मरूप नहीं होता  
और कर्मभी आत्मस्वरूप नहीं होते आत्मा चैतन्य है कर्म जड़ हैं ऐसा जानकर उस  
परमात्माका तू ध्यानकर ऐसा कहते हैं;—[ यः ] जो चिदानंद आत्मा [ कर्मनिवद्धोपि ]  
ज्ञानावरणादिकर्मोंमें बंधा हुआ होनेपर भी [ कदाचिदपि ] कभीभी [ कर्म नैव स्फुटं ]  
कर्मरूप नहीं निश्चयमें [ भवति ] होना [ कर्म अपि ] और कर्म भी [ यः ] जिस

गिष्टः । कम्मुचि जो ण कयापि फुट्टु कर्मापि यो न कदाचिदपि स्फुटं निष्ठितं तगथा—ज्ञानावरणादिद्रव्यभावरूपं कर्मापि कर्तृभूतं यः परमात्मा न भवति स्वकीयकर्म पुद्गलस्वरूपं विहाय परमात्मरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । सो परमप्पउ भावि तमेवं लक्षण परमात्मानं भावय । देहरागादिपरिणतिरूपं बहिरात्मानं मुक्त्वा शुद्धात्मपरिणतिभावनारूपं तरात्मनि स्थित्वा सर्वप्रकारोपादेयभूतं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मानं भावयेति भावार्थः ॥ ४९ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये यथा निर्मलो ज्ञानमये व्यक्तिरूपः शुद्धात्मा सिद्धौ तिष्ठति तथाभूतः शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण देहेपि तिष्ठतीति व्याख्यानसुरत्यत्वेन चतुर्विंशति सूत्राणि गतानि ।

अत ऊर्ध्वं स्वदेहप्रमाणव्याख्यानसुरत्यत्वेन पदसूत्राणि कथयन्ति;—तगथा ।

किचि भणंति जिउ सव्यगउ, जिउ जट्टु केचि भणंति ।

किचि भणंति जिउ देहसमु, सुण्णुचि केचि भणंति ॥ ५० ॥

केचि भणंति जीवं सर्वगतं जीवं जडं केचि भणंति ।

केचि भणंति जीवं देहसमं शून्यमपि केचि भणंति ॥ ५० ॥

केचि भणंति जीवं सर्वगतं जीवं केचि जडं भणंति केचि भणंति जीवं देहसमं शून्यमपि

परमात्मस्वरूप [कदाचिदपि स्फुटं] कभी भी निश्चयकर [न] नहीं होते [तं] उस पूर्वोक्त लक्षणोंवाले [परमात्मानं] परमात्माको तू [भावय] चिंतवनकर ॥ भावार्थ—जो आत्मा अपने शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्तिके अभावसे उत्पन्न किये ज्ञानावरणादि शुभ अशुभकर्मोंसे व्यवहार नयकर बंधा हुआ है तौभी शुद्धनिश्चयनयसे कर्मरूप नहीं है अर्थात् फेवलज्ञानादि अनंतगुणरूप अपने स्वरूपको छोड़कर कर्मरूप नहीं परिणमता और ये ज्ञानावरणादि द्रव्यभावरूप कर्मभी आत्मस्वरूप नहीं परिणमते अर्थात् अपने जड़रूप पुद्गलपनेको छोड़कर चैतन्यरूप नहीं होते यह निश्चय है । जीव तो अजीव नहीं होता और अजीव है वह जीव नहीं होता ऐसी अनादि फालकी मर्यादा है । इसलिये कर्मोंसे भिन्न ज्ञानदर्शनमयी सवतरह उपादेयरूप (आराधने योग्य) परमात्माको तुम देहरागादि परिणतिरूप बहिरात्मपनेको छोड़कर शुद्धात्मपरिणतिकी भावनारूप अंतरात्मानमें स्थिर होकर चिंतवन करो उसीका अनुभव करो ऐसा तात्पर्य हुआ ॥ ४९ ॥

ऐसे तीनप्रकार आत्माके कहनेवाले पहले महाधिकारमें पांचवें स्थलमें जैसा निर्मल ज्ञानमई प्रगटरूप शुद्धात्मा सिद्धलोकमें विराजमान है वैसा ही शुद्धनिश्चयनयकर शक्तिरूपसे देहमें तिष्ठ रहा है ऐसे कर्मनकी मुख्यतासे चौबीस दोहासूत्र पीतगये । इससे आगे छह दोहासूत्रोंमें आत्मा व्यवहार नयकर अपनी देहके प्रमाण है यह कहते हैं;—[केचि] कोई नैयायिक वेदांती मीमांसक मतवाले [जीवं] जीवको [सर्वगतं]

केपि वदन्ति । तथाहि—केचन सांख्यनैयायिकमीमांसकाः सर्वगतं जीवं वदन्ति । सांख्याः पुनर्जडमपि कथयन्ति । जैनाः पुनर्देहप्रमाणं वदन्ति । बौद्धाश्च शून्यं वदन्ति । एवं प्रश्नचतुष्टयं कृतमिति भावार्थः ॥ ५० ॥

अथ वक्ष्यमाणनयविभागेन प्रश्नचतुष्टयस्याप्यभ्युपगमं स्वीकारं करोति;—

अप्पा जोइय सच्चवगउ, अप्पा जडुवि वियाणि ।

अप्पा देहप्रमाणु मुणि, अप्पा सुणु वियाणि ॥ ५१ ॥

आत्मा योगिन् सर्वगतः आत्मा जडोपि विजानीहि ।

आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व आत्मानं शून्यं विजानीहि ॥ ५१ ॥

आत्मा हे योगिन् सर्वगतोपि भवति, आत्मानं जडमपि विजानीहि, आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व, आत्मानं शून्यमपि जानीहि । तद्यथा । हे प्रमाकरभट्ट वक्ष्यमाणविवक्षितनयविभागेन परमात्मा सर्वगतो भवति, जडोपि भवति, देहप्रमाणोपि भवति शून्योपि भवति नापि दोष इति भावार्थः ॥ ५१ ॥

अथ कर्मरहितात्मा केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति तेन कारणेन सर्वगतो भवतीति प्रतिपादयति;—

अप्पा कम्मवियज्जियउ, केवलणाणं जेण ।

लोयालोउवि मुणइ जिय, सच्चवगु चुचइ तेण ॥ ५२ ॥

आत्मा कर्मविवर्जितः केवलज्ञानेन येन ।

लोकालोकमपि मनुते जीव सर्वगतः उच्यते तेन ॥ ५२ ॥

सर्वव्यापक [ मणन्ति ] कहते हैं [ केपि ] कोई सांख्यमतवाले [ जीवं ] जीवको [ जडं ] जड [ मणन्ति ] कहते हैं [ केपि ] कोई बौद्धमतवाले जीवको [ शून्यं अपि ] शून्य भी [ मणन्ति ] कहते हैं [ केपि ] कोई जिनधर्मी [ जीवं ] जीवको [ देहप्रमाणं ] व्यवहार नयकर देहप्रमाण [ मणन्ति ] कहते हैं और निश्चय नयकर लोकप्रमाण है । यह आत्मा कैसा है और कैसा नहीं है ऐसे चार प्रश्न शिष्यने किये ऐसा तात्पर्य है ॥ ५० ॥

आगे नयविभागकर आत्मा सबरूप है एकान्तवादकर अन्यवादी मानते हैं सो ठीक नहीं है इस प्रकार चारों प्रश्नोंको स्वीकार करके समाधान करते हैं;—[ हे योगिन् ] हे प्रमाकर भट्ट ! [ आत्मा सर्वगतः ] आगे कहनेवाले नयके भेदसे आत्मा सर्वगत भी है [ आत्मा ] आत्मा [ जडोपि ] जड भी है ऐसा [ विजानीहि ] जानो [ आत्मानं देहप्रमाणं ] आत्माको देहके प्रमाण भी [ मन्यस्व ] मानो [ आत्मानं शून्यं ] आत्माको शून्य भी [ विजानीहि ] जानो । नयविभागसे माननेमें कोई दोष नहीं है ऐसा तात्पर्य है ॥ ५१ ॥

आत्मा कर्मविवर्जितःसन् केवलज्ञानेन करणभूतेन येन कारणेन लोकालोकं मनुते जानाति हे जीव सर्वगत उच्यते तेन कारणेन । तथाहि—अयमात्मा व्यवहारेण केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति, देहमध्ये स्थितोपि निश्चयनयेन स्वात्मानं जानाति तेन कारणेन व्यवहारनयेन ज्ञानापेक्षया रूपविषये दृष्टिवत्सर्वगतो भवति नच प्रदेशापेक्षयेति । कभिदाह । यदि व्यवहारेण लोकालोकं जानाति तर्हि व्यवहारनयेन सर्वज्ञत्वं न च निश्चयनयेनेति । परिहारमाह—यथा स्वकीयमात्मानं तन्मयत्वेन जानाति तथा परद्रव्यं तन्मयत्वेन न जानाति तेन कारणेन व्यवहारो भण्यते न च परिज्ञानाभावान् । यदि पुनर्निश्चयेन स्वद्रव्यवत्तन्मयो भूत्वा परद्रव्यं जानाति तर्हि परकीयसुरदुःखरागद्वेषपरिज्ञातो मुग्धी दुःखी रागी द्वेषी च स्वादिति महद्दूषणं प्राप्नोतीति । अत्र येनैव ज्ञानेन व्यापको भण्यते तद्देशोपादेयस्यानंतमुत्पत्त्याभिन्नत्वादुपादेयमित्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥

आगे कर्मरहित आत्मा केवलज्ञानसे लोक और अलोक दोनोंको जानता है इसलिये सर्वव्यापक भी होसकता है ऐसा कहते हैं;—[ आत्मा ] यह आत्मा [ कर्मविवर्जितः ] कर्मरहित हुआ [ केवलज्ञानेन ] केवलज्ञानसे [ येन ] जिसकारण [ लोकालोकमपि ] लोक और अलोकको [ मनुते ] जानता है [ तेन ] इसीलिये [ हे जीव ] हे जीव [ सर्वगतः ] सर्वगत [ उच्यते ] कहाजाता है । भावार्थ—यह आत्मा व्यवहारनयसे केवलज्ञानकर लोकअलोकको जानता है और शरीरमें रहनेपर भी निश्चयनयसे अपने स्वरूपको जानता है इसकारण ज्ञानकी अपेक्षा तो व्यवहारसे सर्वगत है, प्रदेशोंकी अपेक्षा नहीं है । जैसे रूपवाले पदार्थोंको नेत्र देखते हैं परंतु उन पदार्थोंसे तन्मय नहीं होते । यहां कोई प्रश्न करता है कि जो व्यवहारनयसे लोकालोकको जानता है और निश्चयनयसे नहीं, तो व्यवहारसे सर्वज्ञपना हुआ निश्चयनयकर न हुआ ! उसका समाधान कहते हैं—जैसे अपने आत्माको तन्मयी होकर जानता है उसतरह परद्रव्यको तन्मयीपनेसे नहीं जानता भिन्नस्वरूप जानता है इसकारण व्यवहारनयसे कहा, कुछ ज्ञानके अभावसे नहीं कहा । ज्ञानकर जानपना तो निजपरका समान है । जैसे अपनेको संदेहरहित जानता है वैसा ही परको जानता है इसमें संदेह नहीं समझना, लेकिन निजस्वरूपसे तो तन्मयी है और परसे तन्मयी नहीं । और जिसतरह निजको तन्मयी होकर निश्चयसे जानता है उसीतरह यदि परको भी तन्मय होकर जानें तो परके सुखदुःख रागद्वेषोंके ज्ञान होनेपर सुखी दुःखी रागी द्वेषी होवे यह बड़ा दूषण है । सो इस प्रकार कभी नहीं होसकता । यहां जिस ज्ञानसे सर्वव्यापक कहा वही ज्ञान उपादेय अतीन्द्रियसुखसे अभिन्न है सुखरूप है ज्ञान और आनंदमें भेद नहीं है वही ज्ञान उपादेय है यह अभिप्राय जानना । इस दोहामें जीवको ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगत कहा है ॥ ५२ ॥



कारणविरहितः शुद्धजीवो षट्क्षते क्षरति हीयते न येन कारणेन चरमशरीरप्रमाणं मुक्तजीवं जिनवरा भणन्ति तेन कारणेनेति । तथाहि । यद्यपि संसारावस्थायां हानिवृद्धि-कारणभूतशरीरनामकर्मसहितत्वाद्धीयते वर्धते च तथापि मुक्तावस्थायां हानिवृद्धिकारणा-भावाद्धर्धते हीयते च नैव, शरीरप्रमाण एव तिष्ठतीत्यर्थः । कश्चिदाह—मुक्तावस्थायां प्रदीपवदावरणाभावे सति लोकप्रमाणविस्तारेण भाव्यमिति । तत्र परिहारमाह—प्रदीपस्य योसौ प्रकाशविस्तारः स स्वभावज एव नत्वपरजनितः पञ्चान्नाजनादिना साशावरणेन प्रच्छादितस्तेन कारणेन तन्मावरणाभावेपि प्रकाशविस्तारो घटते एव । जीवस्य पुनरनादि-कर्मप्रच्छादितत्वात्पूर्वं स्वभावेन विस्तारो नास्ति । किंरूपसंहारविस्तारौ । शरीरनामकर्मज-नितौ । तेन कारणेन शुक्लमृत्तिकाभाजनवन् कारणाभावादुपसंहारविस्तारौ न भवतश्चरमश-रीरप्रमाणेन तिष्ठतीति । अत्र य एव मुक्तौ शुद्धशुद्धस्वभावः परमात्मा तिष्ठति तत्सदृशो रागादिरहितकाले स्वशुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ५४ ॥

प्रमाण भी कहा जाता है ऐसा कहते हैं;—[येन] जिस हेतु [कारणविरहितः] हानिवृद्धिका कारण शरीर नामकर्मसे रहित हुआ [शुद्धजीवः] शुद्धजीव [न वर्धते क्षरति] न तो बढ़ता है और न घटता है [तेन] इसी कारण [जिनवराः] जिनेन्द्रदेव [जीवं] जीवको [चरमशरीरप्रमाणं] चरमशरीर प्रमाण [चदन्ति] कहते हैं । भावार्थ—यद्यपि संसार अवस्थामें हानिवृद्धिका कारण शरीर नामा नामकर्म है उसके संबंधसे जीव घटता है और बढ़ता है जब महामच्छका शरीर पाता है तब तो शरीरकी वृद्धि होती है और जब निगोद शरीर धारता है तब घट जाता है । और मुक्त अवस्थामें हानि वृद्धिका कारण जो नामकर्म उसका अभाव होनेसे जीवके प्रदेश न तो सिकुड़ते हैं न फैलते हैं किंतु चरमशरीरसे कुछ कम पुरुषाकार ही रहते हैं इसलिये शरीर प्रमाण है यह निश्चयहुआ । यहां कोई प्रश्न करै कि जबतक दीपकके आवरण है तबतक तो प्रकाश नहीं होसकता है और जब उसके रोकनेवालेका अभाव हुआ तब प्रकाश विस्तार जाता ( फैलजाता ) है उसीप्रकार मुक्ति अवस्थामें आवरणके अभाव होनेसे आत्माके प्रदेश लोक प्रमाण फैलने चाहिये शरीर प्रमाण ही क्यों रहगये ! उसका समाधान यह है कि दीपकके प्रकाशका जो विस्तार है वह स्वभावसे होता है परसे नहीं उत्पन्न हुआ पीछे भाजन वगैरःसे अथवा दूसरे आवरणसे आच्छादन किया गया वह प्रकाश सकोचको प्राप्त होजाता है और जब आवरणका अभाव होता है तब प्रकाश विस्ताररूप हो जाता है इसमें संदेह नहीं और जीवका प्रकाश अनादिकालसे कर्मोंकर ढंका हुआ है पहले कभी विस्ताररूप नहीं हुआ । शरीर प्रमाण ही संकोचरूप और विस्ताररूप हुआ इसलिये जीवके प्रदेशोंका प्रकाश सकोच विस्ताररूप शरीर नामकर्मसे उत्पन्न हुआ है इसकारण



अथाष्टकर्माष्टादशदोषरहितत्वापेक्षया शून्यो भवतीति न च केचनज्ञानादिगुणान्ना  
चेति दर्शयति;—

अष्टवि कम्मइं बहुविहइं, णवणव दोसवि जेण  
सुद्धहं एणुवि अत्थि णवि, सुण्णुवि बुद्धइ तेण ॥ ५५ ॥

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन ।

शुद्धानां एकोपि अस्ति नैव शून्योपि भण्यते तेन ॥ ५५ ॥

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन कारणेन शुद्धात्मनां तन्मध्ये  
चैकोप्यस्ति नैव शून्योपि भण्यते तेन कारणेनैवेति । तथाथा । शुद्धनिश्चयनयेन ज्ञानावर-  
णाद्यष्टद्रव्यकर्माणि क्षुधादिदोषकारणभूतानि क्षुधावृषादिरूपाष्टादशदोषा अपि कार्यभूदाः  
अपि शब्दात्सत्ताचैतन्मयोघादिशुद्धप्राणरूपेण शुद्धजीविते सत्यपि दशप्राणरूपमशुद्धजीवितं  
च नास्ति तेन कारणेन संसारिणां निश्चयनयेन शक्तिरूपेण रागादिविभावशून्यं च भवति ।  
मुक्तात्मनां तु व्यक्तिरूपेणापि न चात्मानंतज्ञानादिगुणशून्यत्वमेकांतेन बौद्धादिमतवदिति ।

सूखी मट्टीके वर्तनकी तरह कारणके अभावसे संकोच विस्ताररूप नहीं होता शरीर प्रकाश  
ही रहता है अर्थात् जब तक मट्टीका वासन जलसे गीला रहता है तब तक जलके संबन्धसे  
वह घट बढ़ जाता है और जब जलका अभाव हुआ तब वासन मूख जानेसे घटना  
बढ़ता नहीं है जैसेका तैसा रहता है । उसी तरह इस जीवके जबतक नामकर्मका संबन्ध  
है तबतक संसार अवस्थामें शरीरकी हानि वृद्धि होती है उसकी हानि वृद्धिसे प्रदेश सिक्क-  
ढते हैं और फैलते हैं । तथा सिद्ध अवस्थामें नामकर्मका अभाव होजाता है इसकारण  
शरीरके न होनेसे प्रदेशोंका संकोच विस्तार नहीं होता सदा एकसे ही रहते हैं । जिस  
शरीरसे मुक्त हुआ उसी प्रमाण कुछ कम रहता है । दीपकका प्रकाश तो स्वभावकर  
उत्पन्न है आवरणसे आच्छादित होजाता है । जब आवरण दूर होजाता है तब प्रकाश  
सहज ही विस्तारता है । यहां तात्पर्य यह है कि जो शुद्ध बुद्ध (ज्ञान) स्वभाव परमात्मा  
मुक्तिमें तिष्ठ रहा है वैसा ही शरीरमें भी विराज रहा है । जब रागका अभाव होता है  
उस कालमें यह आत्मा परमात्माके समान है वही उपादेय है ॥ ५४ ॥

आगे आठ कर्म और अठारह दोषोंसे रहित हुआ विभावभावोंकर रहित होनेसे शून्य  
कहा जाता है लेकिन केवलज्ञानादि गुणकी अपेक्षा शून्य नहीं है सदा पूर्ण ही है ऐसा  
दिमलाते हैं;—[ येन ] जिमकारण [ अष्टा अपि ] आठों ही [ बहुविधानि कर्माणि ]  
अनेक भेदोंवाले कर्म [ नवनवदोषा अपि ] अठारह ही दोष इनमेंसे [ एक  
अपि ] एक भी [ शुद्धानां ] शुद्धात्माओंके [ नैव अस्ति ] नहीं है [ तेन ] इसलिये  
[ शून्योपि ] शून्यभी [ भण्यते ] कहा जाता है । भावार्थ—इस आत्माके शुद्धनिश्चयन-

तथाप्योक्तं पञ्चात्मिकाये । “जेमिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सच्चहा तत्थ । ते होति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमपीदा” । अत्र य एवमिध्यात्वरागादिभावेन शून्यश्रिदानंदै-  
क्यभावेन भरितावयवः प्रतिपादितः परमात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ५५ ॥  
एवं त्रिविधान्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये य एव ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन  
लोकालोकव्यापको भणितः स एव परमात्मा निश्चयनयेनासंख्यातप्रदेशोपि स्वदेहमध्ये  
निष्ठतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रपट्टं गतं ।

तदनंतरं द्रव्यगुणपर्यायनिरूपणमुख्यत्वेन सूत्रप्रयं कथयति;—तथा ।

अप्पा जणियउ केण णत्थि, अप्पे जणियउ ण कोइ ।

द्रव्यसहायं णिच्चु मुणि, पञ्जउ विणसइ होइ ॥ ५६ ॥

आत्मा जनितः केन नापि आत्मना जनितं न किमपि ।

द्रव्यस्वभावेन नित्यं मन्यस्व पर्यायः विनश्यति भवति ॥ ५६ ॥

आत्मा न जनितः केनापि आत्मना कर्तृभूतेन जनितं न किमपि, द्रव्यस्वभावेन नित्य-

कर ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं, क्षुधादि दोषोंके कारणभूत कर्मोंके जानेसे क्षुधा  
तृपादि अठारह दोष कार्यरूप नहीं हैं, और अपि शब्दसे सत्ता चैतन्य ज्ञान आनंदादि  
शुद्ध प्राण होनेपर भी इंद्रियादि दश अशुद्धरूप प्राण नहीं हैं इसलिये संसारी जीवोंके भी  
शुद्ध निश्चयनयसे शक्तिरूपसे शुद्धपना है लेकिन रागादि विभावभावों की शून्यता ही  
है । तथा सिद्धजीवोंके तो सब तरहसे प्रगटरूप रागादिसे रहितपना है इसलिये विभावोंसे  
रहितपनेकी अपेक्षा शून्यभाव है इसी अपेक्षासे आत्माको शून्य भी कहते हैं । ज्ञानादिक  
शुद्धभावकी अपेक्षा सदा पूर्ण ही है । और जिसतरह बौद्धमती सर्वथा शून्य मानते हैं  
वैसा अनंतज्ञानादिगुणोंसे कभी नहीं होसकता । ऐसा कथन धीपंचास्तिकायनें भी किया  
है—“जेमिं जीवसहावो” इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है कि जिन सिद्धोंके जीवका  
स्वभाव निश्चल है जिस स्वभावका सर्वथा अभाव नहीं है वे सिद्ध भगवान् देहसे रहित हैं  
और वचनके विषयसे रहित हैं अर्थात् जिनका स्वभाव वचनोंसे नहीं कह सकते । यहां  
मिध्यात्वरागादिभावकर शून्य तथा एक चिदानंदस्वभावसे पूर्ण जो परमात्मा कहा गया  
है अर्थात् विभावसे शून्य, स्वभावसे पूर्ण कहा गया है वही उपादेय है ऐसा तात्पर्य  
हुआ ॥ ५५ ॥

ऐसे जिसमें तीन प्रकार आत्माका कथन है ऐसे पहले महाअधिकारमें जो ज्ञानकी  
अपेक्षा व्यवहारनयसे लोकालोक व्यापक कहागया वही परमात्मा निश्चयनयसे असंख्यात-  
प्रदेश है तौ भी अपनी देहके प्रमाण रहता है इस व्याख्यानकी मुख्यतामें छह दोहामूत्र  
कहेगये ॥ आगे द्रव्यगुणपर्यायके कथनकी मुख्यतामें तीन दोहा कहते हैं,—[ आत्मा ]

मात्मानं मन्यस्य जानीहि । पर्यायो विनश्यति भवति चेति । तथाहि । मंमारिजितः शुद्धात्ममंचित्त्यभावेनोपार्जितेन कर्मणा यथापि व्यवहारेण जन्यते शयं च शुद्धात्ममंचित्त्युतः मन् कर्माणि जनयति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण कर्मकर्ममूलेन नरनारकादिपर्यायेण न जन्यते शयं च कर्मनोकर्मादिकं न जनयतीति । आत्मा पुनरं केवलं शुद्धनिश्चयनयेन व्यवहारेणापि न च जन्यते न च जनयति तेन कारणेन द्रव्यार्थिकनेन नित्यो भवति, पर्यायार्थिकनेनयेनोत्पद्यते विनश्यति चेति । अत्राह शिष्यः । मुक्तात्मनः कथमुत्पादव्यव्यापिति । परिहारमाह । आगमप्रसिद्धानुगुणरूपगुणहानिरुत्पत्पेक्षया, अथवा येनोत्पादादिरूपेण ज्ञेयं वस्तु परिणमति तेन परिच्छिद्यत्वाकारेण ज्ञानपरिणतपेक्षया । अथवा मुक्तौ संसारपर्यायविनाशः सिद्धपर्यायोत्पादः शुद्धजीवद्रव्यं ध्रौव्यापेक्षया च सिद्धानामुत्पादव्यव्यापिति । अत्र तदेव सिद्धस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ ५६ ॥

अथ द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं प्रतिपादयति;—

यह आत्मा [ केन अपि ] किसीसे भी [ न जनितः ] उत्पन्न नहीं हुआ [ आत्मना ] और इस आत्माकर [ किमपि ] कोईद्रव्य [ न जनितं ] उत्पन्न नहीं हुआ [ द्रव्यस्वभावने ] द्रव्यस्वभावकर [ नित्यं मन्यस्य ] नित्य जानो [ पर्यायः विनश्यति भवति ] पर्यायभावसे विनाशीक है । भावार्थ—यह संसारी जीव यथापि व्यवहार नयकर शुद्धात्मज्ञानके अभावसे उपार्जनकिये ज्ञानावरणादि शुभानुभक्तमोंके निमित्तसे नरनारकादि पर्यायोसे उत्पन्न होता है और विनसता है और आप भी शुद्धात्मज्ञानसे रहित हुआ कर्मोंको उपजाता ( बांधता ) है तो भी शुद्धनिश्चयनयकर शक्तिरूप शुद्ध ही है कर्मोंकर उत्पन्न हुई नरनारकादिपर्यायरूप नहीं होता और आपमी कर्म नोकर्मादिकको नहीं उपजाता और व्यवहारसे भी न जन्मता है न किसीसे विनाशको प्राप्त होता है न किसीको उपजाता है कारण कार्यसे रहित है, अर्थात् कारण उपजानेवालेको कहते हैं कार्य उपजनेवालेको कहते हैं सो ये दोनों माय वस्तुमें नहीं हैं इससे द्रव्यार्थिकनयकर जीव नित्य है और पर्यायार्थिकनयकर उत्पन्न होता है तथा विनाशको प्राप्त होता है । यहां पर शिष्य प्रश्नकरता है कि संसारी जीवोंके तो नरनारकी आदि पर्यायोंकी अपेक्षा उत्पत्ति और मरण प्रत्यक्ष दीप्तना है परंतु सिद्धोंके उत्पाद व्यय किम तरह होसकता है क्योंकि उनके विभाव पर्याय नहीं है स्वभावपर्याय ही है और वे सदा असंख अविनश ही हैं । उमका समाधान यह है कि जैसा उत्पन्न होना मरना चारों गनियोंमें संसारी जीवोंके है वैसा नो उनसिद्धोंके नहीं है वे अविनाशी हैं परंतु शास्त्रोंमें प्रसिद्ध अगुरु-रूपगुणकी परिणतिरूप अर्धपर्याय है वह समय समयमें आविर्भाव तिरोभावरूप होती है

तं परिपाणहिं द्रव्यं तुहं, जं गुणपञ्चमञ्जुत्तु ।

सहभुव जाणहि ताहं गुण क्रमभुव पञ्जउ घुत्तु ॥ ५७ ॥

तत् परिजानीहि द्रव्यं त्वं, यत् गुणपर्याययुक्तं ।

सहभुवः जानीहि तेषां गुणाः क्रमभुवः पर्यायाः उक्ताः ॥ ५७ ॥

तं परिपाणहिं द्रव्यं तुहं जं गुणपञ्चमञ्जुत्तु तत्परि ममेताजानीहि द्रव्यं त्वं । तत्किं । यद्गुणपर्याययुक्तं, गुणपर्यायस्य स्वरूपं कथयति । सहभुव जाणहि ताहं गुण क्रमभुव पञ्जउ घुत्तु सहभुवो जानीहि तेषां द्रव्याणां गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः उक्ता भणिता इति । तन्मया । गुणपर्यायवद्द्रव्यं ज्ञानव्यं इदानीं तस्य सहद्रव्यस्य गुणपर्यायाः कथ्यन्ते । सहभुवो गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः, इदमेकं तावत्प्रामाण्यलक्षणं । अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिणः पर्यायाः, इति द्वितीयं च । यथा जीवस्य ज्ञानादयः पुत्रलस्य वर्णादयश्चेति । ते च प्रत्येकं

अर्थात् समय २ में पूर्वपरिणतिका व्यय होता है और आगेकी पर्यायका आविर्भाव ( उत्पाद ) होता है । इस अर्धपर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्यय जानना । अन्य संसारी जीवोंकी तरह नहीं है । सिद्धोंके एक तो अर्धपर्यायकी अपेक्षा उत्पादव्यय कहा है । अर्धपर्यायमें षट्गुणी हानि और वृद्धि होती है । अनंतभागवृद्धि १ असंख्यातभागवृद्धि २ संख्यातभागवृद्धि ३ संख्यातगुणवृद्धि ४ असंख्यातगुणवृद्धि ५ अनंतगुणवृद्धि ६ । अनंतभागहानि १ असंख्यातभागहानि २ संख्यातभागहानि ३ संख्यातगुणहानि ४ असंख्यातगुणहानि ५ अनंतगुणहानि ६ । ये षट्गुणी हानि वृद्धिके नाम कहे हैं । इनका स्वरूप तो केवलीके गम्य है सो इस षट्गुणी हानिवृद्धिकी अपेक्षा सिद्धोंके उत्पादव्यय कहा जाता है । अथवा समस्त ज्ञेय पदार्थ उत्पाद व्यय श्रौंश्वरूप परिणमते हैं सो सब पदार्थ सिद्धोंके ज्ञानगोचर हैं । ज्ञेयाकार ज्ञानकी परिणति है सो जब ज्ञेयपदार्थमें उत्पादव्यय हुआ तब ज्ञानमें सब प्रतिभासित हुआ इसलिये ज्ञानकी परिणतिकी अपेक्षा उत्पाद व्यय जानना । अथवा जब मिद्ध हुए तब सत्तार पर्यायका विनाश हुआ सिद्ध पर्यायका उत्पाद हुआ तथा द्रव्यस्वभावसे सदा भुव ही हैं । सिद्धोंके जन्म जरा मरण नहीं हैं सदा अविनाशी हैं । जो सिद्धका स्वरूप सब उपाधियोंसे रहित है वही उपादेय है यह भावार्थ जानना ॥ ५६ ॥

आगे द्रव्यगुणपर्यायका स्वरूप कहते हैं;—[ यत् ] जो [ गुणपर्याययुक्तं ] गुण और पर्यायोंकर सहित है [ तत् ] उसको [ त्वं ] हे प्रभाकर भट्ट तू [ द्रव्यं ] द्रव्य [ परिजानीहि ] जान [ सहभुवः ] जो सदाकाल पाये जावें नित्यरूप हों वे तो [ तेषां गुणाः ] उनद्रव्योंके गुण हैं [ क्रमभुवः ] और जो द्रव्यकी अनेकरूप परिणति क्रमसे हो अर्थात् अनित्यपनेरूप समय समय उपजै विनशै नानास्वरूप हो वो [ पर्यायाः ]

द्विविधाः स्वभावविभावभेदेनेति । तथाहि । जीवस्य तावत्कथ्यन्ते । सिद्धन्यायः स्वभावपर्यायाः केवलज्ञानादयः स्वभावगुणा असाधारणा इति । अगुरुलघुकाः स्वभावगुणान्तेषामेव गुणानां पङ्कानिवृद्धिरूपस्वभावपर्यायाश्च सर्वद्रव्यसाधारणाः । तस्यैव जीवस्य मनिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायाश्च इति । इदानीं पुद्गलस्य कथ्यन्ते । केवलपरमाणुरूपेणावस्थानं स्वभावपर्यायः वर्णानरादिरूपेण परिणमनं वा । तस्मिन्नेव परमाणौ वर्णादयः स्वभावगुणा इति, द्व्यणुकादिरूपस्कंधरूपविभावपर्यायान्तेष्वेव द्व्यणुकादिस्कंधेषु वर्णादयो विभावगुणा इति भावार्थः । धर्माधर्माकाशकालानां स्वभावगुणपर्यायान्ते च यथावतं कथ्यन्ते । विभावपर्यायास्त्पचारेण यथा घटाकाशमित्यादि । अत्र शुद्धगुणपर्यायसहितः शुद्धजीव एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ५७ ॥

पर्याय [ उक्ताः ] कही जाती हैं । भावार्थ—जो द्रव्य होता है वह गुणपर्यायकर सहित होता है । यही कथन तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है “गुणपर्यायवद्द्रव्यं” अब गुणपर्यायका स्वरूप कहते हैं—“सहसुवो गुणाः क्रमसुवः पर्यायाः” यह नयचक्र ग्रंथका वचन है अथवा “अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिणः पर्यायाः” इसका अर्थ ऐसे है कि गुण तो सदा द्रव्यसे सहभावी हैं द्रव्यमें हमेशाह एकरूप नित्यरूप पाये जाते हैं और पर्याय नानारूप होती हैं जो परिणति पहले समयमें थी वह दूसरे समयमें नहीं होती, समय २ में उत्पाद व्ययरूप होता है इसलिये पर्याय क्रमवर्ती कहा जाता है । अब इसका विस्तार कहते हैं—जीवद्रव्यके ज्ञान आदि अर्थात् ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि अनंतगुण हैं और पुद्गलद्रव्यके स्पर्श रस गंध वर्ण इत्यादि अनंतगुण हैं सो ये गुण तो द्रव्यमें सहभावी हैं अन्वयी हैं सदा नित्य हैं कभी द्रव्यसे तन्मयपना नहीं छोड़ते । तथा पर्यायके दो भेद हैं—एक तो स्वभाव दूसरी विभाव । सो जीवके सिद्धत्वादि स्वभाव पर्याय हैं और केवलज्ञानादि स्वभाव गुण हैं । ये तो जीवमें ही पाये जाते हैं अन्य द्रव्यमें नहीं पाये जाते तथा अलित्व वस्तुत्व द्रव्यत्व अगुरुलघुत्व ये स्वभावगुण सब द्रव्योंमें पाये जाते हैं । अगुरुलघुगुणका परिणमन पट्टगुणी हानिवृद्धिरूप है । यह स्वभाव पर्याय सभी द्रव्योंमें हैं कोई द्रव्य पट्टगुणी हानि वृद्धि विना नहीं है यही अर्थपर्याय कही जाती है वह शुद्धपर्याय है । यह शुद्धपर्याय संसारी जीवोंके सब अजीव पदार्थोंके तथा सिद्धोंके पायी जाती है । और सिद्धपर्याय तथा केवलज्ञानादिगुण सिद्धोंके ही पायाजाता है दूसरोंके नहीं । संसारी जीवोंके मतिज्ञानादि विभावगुण और नर नारकी आदि विभाव पर्याय—ये संसारी जीवोंके पायी जाती हैं । ये तो जीवद्रव्यके गुणपर्याय कहे और पुद्गलके परमाणुरूप तो द्रव्य तथा वर्ण आदि स्वभावगुण और एक वर्णसे दूसरे वर्णरूप होना ये विभावगुण व्यंजन पर्याय तथा एक परमाणुमें दो तीन इत्यादि अनेक परमाणु मिलकर स्कंधरूप होना ये विभावद्रव्यव्यंजनपर्याय हैं । द्व्यणुकादि स्कंधमें जो वर्ण आदि हैं वे



सम्यग्ज्ञानं कुमत्यादित्रयं मिथ्याज्ञानं इति । द्मीनचतुष्टयमध्ये केवलदर्शनं मरुलममंडं शुद्धमिति चक्षुरादित्रयं विकलमशुद्धमिति । किं च । गुणास्त्रिविधा भवन्ति । केचन साधारणाः केचनासाधारणाः केचन साधारणासाधारणा इति । जीवस्य तावदुच्यन्ते । अमूर्तत्वं वस्तुत्वं प्रमेयत्वागुरुलघुत्वादयः साधारणाः, ज्ञानमुखादयः स्वजातौ साधारणा अपि विजातौ पुनरसाधारणाः । अमूर्तत्वं पुद्गलद्रव्यं प्रत्यसाधारणमाकाशादिकं प्रति साधारणं । प्रदेयत्वं पुनः कालद्रव्यं प्रति पुद्गलपरमाणुद्रव्यं च प्रत्यसाधारणं शेषद्रव्यं प्रति साधारणमिति संक्षेपव्याख्यानं । एवं शेषद्रव्याणामपि यथाममं ज्ञातव्यमिति भावार्थः ॥ ५८ ॥

अथानंतसुखसोपादेयभूतस्याभिन्नत्वान् शुद्धगुणपर्याय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते । तत्राष्टकमध्ये प्रथमचतुष्टयं कर्मशक्तिस्वरूपमुख्यत्वेन द्वितीयचतुष्टयं कर्मफलमुख्यत्वेनेति । तद्यथा ।

जीवकर्मणोरनादिसंबन्धं कथयति;—

जीवहं कम्मु अणाइ जिय, जणियउ कम्मु ण तेण ।

कम्मं जीउवि जणियउ णवि, दोहिंवि आइ ण जेण ॥ ५९ ॥

जीवानां कर्माणि अनादीनि जीव जनितं कर्म न तेन ।

कर्मणा जीवोपि जनितः नैव द्वयोरपि आदिः न येन ॥ ५९ ॥

अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान—ये चार ज्ञान तो सम्यक् ज्ञान और कुमति कुधुन कुअवधि ये तीन मिथ्याज्ञान, ये केवलकी अपेक्षा सातो ही संडित हैं अखंड नहीं हैं और सर्वपा शुद्ध नहीं हैं अशुद्धताकर सहित हैं इसलिये परमात्मामें एक केवलज्ञान ही है । पुद्गलमें अमूर्तगुण नहीं पाये जाते इस कारण पांचोकी अपेक्षा साधारण, पुद्गलकी अपेक्षा असाधारण । प्रदेशत्रय गुण कालके विना पांचद्रव्योंमें पाया जाता है इसलिये पांचकी अपेक्षा यह प्रदेशगुण साधारण है और कालमें न पानेसे कालकी अपेक्षा असाधारण है । पुद्गलद्रव्यमें मूर्तीरूप असाधारण है इसीमें पाया जाता है अन्यमें नहीं और अक्षित्वादि गुण इसमें भी पाये जाते हैं तथा अन्यमें भी इसलिये साधारण गुण हैं । चेतनपना पुद्गलमें सर्वथा नहीं पाया जाता अमूर्तीरूपना भी नहीं पाया जाता । पुद्गलपरमाणुको द्रव्य कहते हैं, स्पर्श रस गंध वर्णस्वरूप जो मूर्ति वह इस पुद्गलका विशेषगुण है । अन्य सब द्रव्योंमें जो उनका स्वरूप वह द्रव्य और अक्षित्वादि गुण तथा स्वभावपरिणति पर्याय है । जीव और पुद्गलके विना अन्य चार द्रव्योंमें विभाव गुण और विभाव पर्याय नहीं हैं तथा जीव पुद्गलमें स्वभाव विभाव दोनों हैं । उनमेंमें सत्त्वोंमें तो स्वभाव ही है और समीमें विभावही मुख्यता है । पुद्गल परमाणुमें स्वभाव ही है और स्वरूप विभाव ही है । इस तरह छंदो द्रव्योंका संक्षेप व्याख्यान जानना ॥ ५८ ॥

जीवहं कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण जीवानां कर्मणामनादिसंबंधे भवति हे जीव जनितं कर्म न तेन जीवेन कर्मि जीउवि जणियउ णपि दोहिंवि आइ ण जेण कर्मणा कर्तृभूतेन जीवोपि जनितो न द्वयोरप्यादिर्न येन कारणेति । इतो विशेषः । जीवकर्मणामनादिमंबंधः पर्यायसंतानेन पीजवृभवद्वयवहारनये संबंधः कर्मतावत्तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावेन जीवेन न तु जनितं तथाविध-जीवोपि स्वशुद्धात्मसंविद्यभावोपाजितेन कर्मणा नरनारकादिरूपेण न जनितः कर्मात्मेति च द्वयोरनादित्वादिति । अत्रानादिजीवकर्मणोस्संबंधव्याख्यानेन सदा मुक्तः सदा शिवः कोऽप्यस्मीति निराकृतमिति भावार्थः ॥ तथा चोक्तं । “मुक्तश्चेत्प्राग्भवे बद्धो नो बद्धो मोचनं वृथा । अवद्धो मोचनं नैव मुंचेरर्यो निरर्थकः ॥” अनादितो हि मुक्तश्चेत्प्राग्भ्रातृभः कथं भवेत् । बंधनं मोचनं नोचेन्मुंचेरर्यो निरर्थकः ॥” ॥ ५९ ॥

ऐसें तीन प्रकार आत्माका है कथन जिसमें ऐसे पहला महाधिकारमें द्रव्यगुणपर्यायके व्याख्यानकी मुख्यतामें सातवें स्थलमें तीन दोहातूत्र कहे हैं । आगे आदर करने योग्य अतीन्द्रिय मुस्तसे तन्मयी जो निर्विकल्पभाव उसकी प्राप्तिकेलिये शुद्ध गुणपर्यायके व्याख्यानकी मुख्यताकर आठ दोहा कहते हैं । उनमें पहले चार दोहाओंमें अनादिकर्म-संबंधका व्याख्यान और पिछले चार दोहाओंमें कर्मके फलका व्याख्यान इस प्रकार आठ दोहाओंका रहस्य है, उसमें प्रथम ही जीव और कर्मका अनादिकालका संबंध है ऐसा कहते हैं;—[ हे जीव ] हे आत्मा [ जीवानां ] जीवोंके [ कर्मणि ] कर्म [ अनादीनि ] अनादि कालसे हैं अर्थात् जीव कर्मका अनादिकालका संबंध है [ तेन ] उस जीवने [ कर्म ] कर्म [ न जनितं ] नहीं उत्पन्न किये [ कर्मणा अपि ] ज्ञानावरणादि कर्मोंने भी [ जीवः ] यह जीव [ नैव जनितः ] नहीं उपजाया [ येन ] क्योंकि [ द्वयोः अपि ] जीव कर्म इन दोनोंकी ही [ आदिः न ] आदि नहीं है दोनों ही अनादिके हैं ॥ भावार्थ—यद्यपि व्यवहार नयकर पर्यायोंके समूहकी अपेक्षा नये नये कर्म समय २ बांधता है नवे नवे उपार्जन करता है जैसें बीजसे वृक्ष और वृक्षसे पीज होता है उसीतरह पहले बीजरूप कर्मोंसे देह धारता है देहमें नवे नवे कर्मोंको विस्तारता है यह तो बीजसे वृक्ष हुआ । इसीप्रकार जन्मसंतान चली जाती है । परंतु शुद्धनिश्चयनयकर विचारा जाये तो जीव निर्मलज्ञानदर्शन स्वभाव ही है । जीवने ये कर्म न तो उत्पन्न किये और यह जीवभी इन कर्मोंने नहीं पैदा किया । जीव भी अनादिका है ये पुत्रलक्ष्बंध भी अनादिके हैं जीव कर्म नवे नहीं हैं जीव अनादिका कर्मोंमें बंधा है । और कर्मोंके शयसे मुक्त होता है । इस व्याख्यानसे जो कोई ऐसा कहते हैं कि आत्मा सदा मुक्त है कर्मोंसे रहित है उनका निराकरण (संझन) किया । ये वृथा कहते हैं ऐसा



अथ व्यवहारनयेन जीवः पुण्यपापरूपो भवतीति प्रतिपादयति;—

एहो व्यवहारि जीवडउ, हेउ लहेविणु कम्मु ।

बहुविहभाविं परिणवइ, तेण जि धम्मु अहम्मु ॥ ६० ॥

एष व्यवहारेण जीवः हेतुं लब्ध्वा कर्म ।

बहुविधभावेन परिणमति तेन एव धर्मः अधर्मः ॥ ६० ॥

एहो व्यवहारि जीवडउ हेउ लहेविणु कम्मु एष प्रत्यक्षीभूतो जीवो व्यवहारनेन हेतुं लब्ध्वा । किं । कर्मेति बहुविहभाविं परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु बहुविधभावेन विकल्पज्ञानेन परिणमति तेनैव कारणेन धर्माधर्मश्च भवतीति । तथा । एष जीवः शुद्धनिश्चयेन वीतरागचिदानन्दैकस्वभावोपि पश्चाद्बहुवहारेण वीतरागनिर्विकल्पस्वनिवेदनाभावेनोपार्जितं शुभाशुभं कर्म हेतुं लब्ध्वा पुण्यरूपः पापरूपश्च भवति । अत्र ब्रह्म व्यवहारेण पुण्यपापरूपो भवति तथापि परमात्मानुभूत्यविनाभूतवीतरागसम्यग्दर्शनज्ञान-पारिव्रवहिरिन्द्रियेच्छानिरोधलक्षणतपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना तस्या भावनाकारेण साक्षादुपादेयभूतवीतरागपरमानन्दैकरूपो मोक्षमुखाद्भिन्नत्वान् शुद्धजीव उपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ६० ॥

तात्पर्य है । ऐसा दूसरी जगहभी कहा है—“मुक्तश्चेत्” इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि जो यह जीव पहले बंधा हुआ होये तभी ‘मुक्त’ ऐसा कथन संभवता है और जो पहले बंधा ही नहीं तो ‘मुक्त’ ऐसा कहना किसतरह ठीक हो सकता है । मुक्त तो फूटे हुएका नाम है सो जब बंधा ही नहीं तो ‘टूटा’ किसतरह कहा जासकता है । जो बंधा है उसको टूटा कहना ठीक नहीं । जो विभावबंध मुक्ति मानते हैं उनका कथन निरर्थक है । जो यह अनादिका मुक्त ही होवे तो पीछे बंध कैसे संभव हो सकता है । बंध होने तभी मोचन होसके । जो बंध न हो तो मुक्त कहना निरर्थक है ॥ ५९ ॥

भाग्य व्यवहार नयकर यह जीव पुण्यपापरूप होता है ऐसा कहते हैं;—[एष जीवः] यह जीव [व्यवहारेण] व्यवहारनयकर [कर्म हेतुं] कर्मरूप कारणको [लब्ध्वा] कर्मादि [बहुविधभावेन] अनेक विकल्परूप [परिणमति] परिणमता है [तेन एव] इतने [धर्मः अधर्मः] पुण्य और पापरूप होता है ॥ भावार्थ—यह जीव शुद्धनिश्चयनया वीतरागचिदानन्द स्वभाव है तभी व्यवहारनयकर वीतराग निर्विकल्पसम्यग्दर्शनज्ञानके अन्वये गमादिरूप परिणमनेसे उपादेयकिये शुभ अशुभ कर्मादि कारणको पाकर पुण्यी तप पायी होता है । यद्यपि यह व्यवहारनयकर पुण्य पापरूप है तभी परमात्मारी अनुभूतिसे तन्मयी जो वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानपारिव्रव और साक्षात्प्राप्तियोंमें इच्छाके रोकने रूप तपके पत्र निश्चय आराधना है उनही भावनाके समय साक्षात् उपादेयरूप वीतरागसम्यग्दर्शन

अथ तानि पुनः कर्माण्यष्टौ भवंतीति कथयति,—

ते पुणु जीवहं जोइया, अट्टवि कम्म ह्वंति ।

जेहिं जि झंपिय जीव णवि, अप्पसहाउ लहंति ॥ ६१ ॥

तानि पुनः जीवानां योगिन् अष्टौ एव कर्माणि भवंति ।

येः एव झंपिताः जीवाः नैव आत्मस्वभावं लभन्ते ॥ ६१ ॥

ते पुणु जीवहं जोइया अट्टवि कम्म ह्वंति तानि पुनर्जीवानां हे योगिन्नष्टावेव कर्माणि भवंति । जेहिं जि झंपिय जीव णवि अप्पसहाउ लहंति यैरेव कम्मभिर्झंपिताः संतो जीवाः सम्यक्त्वाद्यष्टविधस्वकीयस्वभावं न लभन्ते । तथा हि । “सम्मत्तणाणदंसण-पीरियमुट्टमं तहेय अवगहणं । अगुरुगलहुगं अब्वावाहं अट्टगुणा हुंति सिद्धाणं” । शुद्धात्मादिपदार्थविषये विपरीताभिनिवेशरहितः परिणामः क्षायिकसम्यक्त्वमिति भण्यते । जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थयुगपद्विशेषपरिच्छित्तिरूपं केवलज्ञानं भण्यते तत्रैव सामान्यपरिच्छित्तिरूपं केवलदर्शनं भण्यते । तत्रैव केवलज्ञानविषये अनंतपरिच्छित्तिशक्तिरूपमनंतवीर्यं भण्यते । अतीन्द्रियज्ञानविषय सूक्ष्मत्वं भण्यते । एकजीवावगाहप्रदेने अनंतजीवावगाहदान-सामर्थ्यमवगाहनत्वं भण्यते । एकांतेन गुरुलघुत्वस्वाभावरूपेण अगुरुलघुत्वं भण्यते ।

जो मोक्षका सुख उससे अभिन्न आनंदमई ऐसा निजशुद्धात्मा ही उपादेय है अन्य सब हेय हैं ॥ ६० ॥

आगे वे कर्म आठ हैं जिनसे संसारी जीव बंध हैं ऐसा कहते हैं;—धी-गुरु अपने शिष्य गुणिको कहते हैं कि [ हे योगिन् ] हे योगी [ तानि पुनः कर्माणि- ] वे फिर कर्म [ जीवानां अष्टौ एव ] जीवोंके आठ ही [ भवंति ] होते हैं [ येः एव झंपिताः ] जिन कर्मोंसे ही आच्छादित ( ढकेहुए ) [ जीवाः ] ये जीव [ आत्मस्वभावं ] अपने सम्यक्त्वादि आठगुणरूप स्वभावको [ नैव लभन्ते ] नहीं पाते ॥ अब उन्हीं आठ गुणोंका व्याख्यान करते हैं “सम्मत्त” इत्यादि—इसका अर्थ ऐसा है कि शुद्ध आत्मादि पदार्थोंमें विपरीत अद्वानरहित जो परिणाम उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं, तीन लोक तीन कालके पदार्थोंको एक ही समयमें विशेषरूप सबको जानें यह केवलज्ञान है, सब पदार्थोंको केवलदृष्टिमें एक ही समयमें देखें यह केवल दर्शन है । उसी केवलज्ञानमें अनंतज्ञायक ( जाननेकी ) शक्ति वह अनंतवीर्य है, अतीन्द्रियज्ञानकर अमूर्ताक सूक्ष्मपदार्थोंको जानना आप चार ज्ञानके धारियोंसे न जाना जावे वह सूक्ष्मत्व है, एक जीवके अवगाह क्षेत्रमें ( जगहमें ) अनन्त जीव समाजायें ऐसी अवकाश देनेकी सामर्थ्य वह अवगाहन गुण है, सर्वथा गुप्ता और लघुताका अभाव

वेदनीयकर्मोदयजनितममन्त्राधारहितव्याख्यायाद्युगुणोक्ति । इति सम्यक्त्वादिगुणोक्ति  
 संसारावस्थायां किमपि केनापि कर्मणा प्रच्छादितं निम्नति यथा तथा कथ्यते । मन्त्रत्वं  
 मिथ्यात्वकर्मणा प्रच्छादितं, केवलज्ञानं केवलज्ञानावरणसे संश्रितं, केवलदर्शनं केवलदर्श-  
 नावरणसे संश्रितं, अनंतवीर्यं वीर्यांतरायसे प्रच्छादितं, सूक्ष्मत्वमायुक्तकर्मणा प्रच्छादितं ।  
 कस्मादिति चेत् । विवक्षितायुःकर्मोदयेन भवान्तरे प्राप्ते मन्त्रनीन्द्रियज्ञानविषयं सूक्ष्मत्वं  
 त्यक्त्वा पञ्चाद्रिन्द्रियज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः । अवगाहनत्वं शरीरनामकर्मोदयेन प्रच्छादितं,  
 सिद्धावस्थायोग्यं विशिष्टागुरुलघुत्वं नामकर्मोदयेन प्रच्छादितं । अथवा गुरुत्वप्रदेशेनोषणे-  
 त्रजनितं महत्त्वं भण्यते, लघुत्वप्रदेशेन नीचगोत्रजनितं तुच्छत्वमिति, तदुभयकारणनूतेन  
 गोत्रकर्मोदयेन विशिष्टागुरुलघुत्वं प्रच्छादयत इति । अव्यावाधगुणत्वं वेदनीयकर्मोदयेनेति  
 संश्रेषणाष्टगुणानां कर्ममिराच्छादितं ज्ञानत्वमिति । तदेव गुणाष्टकं मुक्तावस्थायां स्वर्दान्त-  
 कीयकर्मप्रच्छादनाभावे व्यक्तं भवतीति संश्रेषणाष्टगुणाः कथिताः । विशेषेण पुनर्गुरुत्व-  
 निर्नामगोत्रादयः साधारणमाधारणरूपानंतगुणाः यथामंभवमागमाविरोधेन ज्ञानव्या-  
 इति । अत्र सम्यक्त्वादिशुद्धगुणस्वरूपः शुद्धान्मैवोपादेय इति भावार्थः ॥ ६१ ॥

अर्थात् न गुरु न लघु—उसे अगुरुलघु कहते हैं और वेदनीयकर्मके उदयके अभावकर  
 उत्पन्न हुआ समस्त आधारहित जो निरावाध गुण उसे अव्यावाध कहते हैं । ये सम्यक्त्वादि  
 आठगुण जो सिद्धोके हैं वे संसारअवस्थामें किस २ कर्मसे ढंके हुए हैं वोही कहते हैं—  
 सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्वनाम दर्शनमोहनीयकर्मसे आच्छादिन है, केवलज्ञानावरणसे केवल-  
 ज्ञान ढका हुआ है, केवलदर्शनावरणसे केवलदर्शन ढका है, वीर्यांतरायकर्मसे अनंतवीर्य  
 ढका है, आयुःकर्मसे सूक्ष्मत्वगुण ढका है, क्योंकि आयुःकर्मके उदयसे जब परमवक्रो  
 जाता है वहां इंद्रियज्ञानका धारक होता है अतीन्द्रियज्ञानका अभाव होता है इस कारण  
 कुछ एक स्थूलवस्तुओंको तो जानता है सूक्ष्मको नहीं जानता, शरीर नामकर्मके उदयसे  
 अवगाहन गुण आच्छादित है, सिद्धावस्थाके योग्य विशेषरूप अगुरुलघुगुण नामकर्मके  
 उदयसे अथवा गोत्रकर्मके उदयसे ढका गया है क्योंकि गोत्रकर्मके उदयसे जब नीच  
 गोत्र पाया तब उसमें तुच्छ या लघु कहलाया और उच्चगोत्रमें बड़ा अर्थात् गुरु कह लाया  
 और वेदनीय कर्मके उदयसे अव्यावाध गुण ढका गया क्योंकि उसके उदय साताजसा-  
 तारूप संसारीक सुखदुःखका भोक्ता हुआ । इस प्रकार आठ गुण आठ कर्मोंसे ढंके गये  
 इसलिये यह जीव संसारमें भ्रमा । जब कर्मका आवरण मिट जाता है तब सिद्धपदमें ये  
 आठ गुण प्रगट होते हैं । यह सक्षेपसे आठ गुणोंका कथन किया । और विशेषतासे अन्-  
 त्व निर्नामगोत्रादिक अनंतगुण यथामंभव शास्त्रप्रमाणकर जानने । तात्पर्य यह है कि  
 सम्यक्त्वादि निज शुद्धगुणस्वरूप जो शुद्धान्मा वही उपादेय है ॥ ६१ ॥

अथ विषयकथायामज्ञानं जीवानां ये कर्मपरमाणवः संवद्धा भवन्ति तन्वर्णयन्ति कथयन्ति;—

विषयकमायहिं रंगियहं, जे अणुया लग्गनि ।

जीवपणसहं मोहियहं, ते जिण कम्म भणन्ति ॥ ६२ ॥

विषयकथायै. रंगितानां ये अणवः लग्गनि ।

जीवप्रदेसेषु मोहितानां तान् जिनाः कर्म भणन्ति ॥ ६२ ॥

विषयकमायहिं रंगियहं जे अणुया लग्गनि विषयकथायै रंगितानां ज्ञानानां ये परमाणवो लग्गा भवन्ति जीवपणसिहिं मोहियहं ते जिण कम्म भणन्ति । वेणु लग्गा भवन्ति । जीवप्रदेसेषु । केषां । मोहितानां जीवानां तान् कर्मसंबन्धान् जिनाः कर्मान् कथयन्ति । तथादि । शुद्धात्मानुभूतिवित्तश्रौतविषयकथायै ज्ञानानां ज्ञानविषयभावात्संगति-मोहकर्मोदयपरिणतानां च जीवानाम् कर्मसंयोगायोग्यत्वभावात्संगतिज्ञानानां ज्ञानपर्याय-दृष्टविषयज्ञानावरणादिकर्मरूपेण परिणमन्तीत्यर्थः ॥ अत्र च एष विषयकथायकथायै कर्मो-पाजनं करोति न एष परमात्मा रीतसंगतिविषयकथायकथायै साध्याणुपायेषो अर्थात् वि-सात्पर्यायः ॥ ६२ ॥ इति कर्मस्यरूपकथनमुत्तराख्येन सूत्रपञ्चम्येण च ।

अधापीन्द्रियनिर्गममलविभाषणमुपनिषत्प्रकाशायाः शुद्धनिर्गमनयेन कर्मजिज्ञासा इत्यभिप्राय-मनसि धृत्वा सूत्रं कथयन्ति,—

आगे विषयकथायैमें लीन जीवोंके ओ कर्मपरमाणुओंके समूह बनते हैं ये कर्म करते जाते हैं ऐसा कहते हैं;—[ विषयकथायैः ] विषयकथायैमें [ रंगितानां ] रंगी [ मोहितानां ] मोटी जीवोंके [ जीवप्रदेसेषु ] जीवके प्रदेशमें [ ये अणवः ] ये परमाणु [ लग्गन्ति ] लगते हैं संबन्धते हैं [ तान् ] उन परमाणुओंके समूहों ( समूहों ) को [ जिनाः ] जिनेन्द्रदेव [ कर्म ] कर्म [ भणन्ति ] कहते हैं ॥ भाष्य—शुद्ध ज्ञानानां अनुभूतिमें मिल जो विषयकथाय उनमें रंगे हुए आ गलनये. अभावमें उरकर्मके किसे हुए मोहकर्मके उत्पत्तर परिणत हुए जैसे रागी मूषी मोटी सीसारी जीवोंके कर्मके—वेणु ओ पुद्गलकंद हे ये ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्मरूप होकर परिणतते हैं । जैसे वेणुके बिचने सीसारीमें मूषी लगकर मूषरूप होके परिणतता है जैसे ही रागी मूषी मोटी जीवोंके विषयकथायदर्शमें पुद्गलरूप कर्मरूप होके परिणतता है । जैसे कर्मके उत्पत्तर करते हैं वही उरकर्मके परिणतता होके कर्मके रूप बनते हैं उरकर्मके उत्पत्तर होते हैं ।

इति सूत्रं कथयन्ति । कर्मस्य रूपकथनमुत्तराख्येन सूत्रपञ्चम्येण च ।

बंधमपि मोक्षमपि सकलं जीव जीवानां कर्म जनयति ।

आत्मा किमपि करोति नैव निश्चय एवं भणति ॥ ६५ ॥

बंधुवि मोक्षुवि सयत्तु जिय जीवहं कम्म जणेइ बंधमपि मोक्षमपि ममत्वं हे जीव जीवानां कर्म कर्तृ जनयति अप्पा किंपिवि कुणइ णवि णिच्छउ एउ मणेइ आत्मा किमपि न करोति बंधमोक्षस्वरूपं निश्चय एवं भणति । तथाया । अनुपचरिताम-  
द्भूतव्यवहारेण द्रव्यबंधं तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावबंधं तथा नयद्वयेन द्रव्यभावमोक्षमपि यद्यपि जीवः करोति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावप्राहृकेन शुद्धनिश्चयनयेन न करोत्येव भणति । कोसौ । निश्चय इति । अत्र य एव शुद्धनिश्चयेन बंधमोक्षौ न करोति स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ६५ ॥

अथ स्थलसंख्यावाह्यं प्रश्नेपकं कथयति;—

सो णत्थित्ति पएसो चउरासीजोणिलक्खमज्झम्मि ।

जिणवयणं ण लहंतो जत्थ ण डुलुडुद्धिओ जीवो ॥ ६६ ॥ क्षे०

स नास्त्यत्र प्रदेशः चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये ।

जिनवचनं न लममानः यत्र न अमितः जीवः ॥ ६६ ॥

सो णत्थित्ति पएसो म प्रदेशो नाम्यत्र जगति । म किं । चउरासी जोणिलक्खम-  
ज्झम्मि जिणवयणं ण लहंतो जत्थ ण डुलुडुद्धिओ जीवो चतुरशीतियोनिलक्षेषु मध्ये

वियोगसे मोक्ष हे ऐसा कहते हैं,—[ हे जीव ] हे जीव [ बंधमपि ] बंधको [ मोक्ष-  
मपि ] और मोक्षको [ सकलं ] सबको [ जीवानां ] जीवोंके [ कर्म ] कर्म ही [ जन-  
यति ] करता है [ आत्मा ] आत्मा [ किमपि ] कुछ भी [ नैव करोति ] नहीं करता  
[ निश्चयः ] निश्चयनय [ एवं ] ऐसा [ भणति ] कहता है अर्थात् निश्चयनयसे भगवा-  
नने ऐसा कहा है । भावार्थ—अनादिकालकी सर्वबंधवाली अवधार्यस्वरूप अनुपचरिताम-  
द्भूतव्यवहारनयमे ज्ञानाचरणादि द्रव्य कर्मबंध और अशुद्धनिश्चयनयमे रागादि भावकर्मके  
बंधको तथा दोनों नयोसे द्रव्यकर्म भावकर्मकी मुक्तिको यद्यपि जीव करता है तौभी शुद्ध-  
पारिणामिकपरमभावके ग्रहण करनेवाले शुद्धनिश्चयनयमे नहीं करताहै बंध और मोक्षमे  
रहित है ऐसा भगवानने कहा है । यहां जो शुद्धनिश्चयनयकर बंध और मोक्षका कर्ता  
नहीं वही शुद्धात्मा आगधने योग्य है ॥ ६५ ॥

आगे दोहाग्रंथोंकी मूल्यमस्यामे बाहर उक्तंच स्वरूप प्रश्नेपकको कहते हैं,—[ अत्र ]  
इम जगत्तमे [ म कः अपि ] ऐसा कोरे भी [ प्रदेशः नाम्नि ] प्रदेश ( म्यान ) नहीं है  
[ यत्र ] त्रिम जगत् [ चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये ] बीसमालायाम योनिमें दोहर [ त्रि-

भूत्वा जिनवचनमलभमानो यत्र न भ्रमितो जीव इति । तथाहि । भेदाभेदरत्नत्रयप्रति-  
पादकं जिनवचनमलभमानः सन्नयं जीवोऽनादिकांते यत्र चतुर्गतीनियोनिलश्रेषु मध्ये  
भूत्वा न भ्रमितः सोत्र जगति कोपि प्रदेशो नास्ति इति । अत्र यदेव भेदाभेदरत्नत्रयप्रति-  
पादकं जिनवचनमलभमानो भ्रमितो जीवस्तदेवोपादेयात्मसुखप्रतिपादकत्वाद्दुपादेयनिश्चि-  
तात्पर्यार्थः ॥ ६६ ॥

अथात्मा पंगुवन् स्वयं न याति न पंचि कर्मैव नयन्यानयति पंचि कथयति,—

अप्पा पंगुह् अणुहरइ, अप्पु ण जाइ ण एइ ।

भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय, विहि आणइं विहि णेइ ॥ ६७ ॥

आत्मा पंगोः अनुहरति आत्मा न याति न आयाति ।

भुवनत्रयस्य अपि मध्ये जीव विधिः आनयति विधिः नयति ॥ ६७ ॥

अप्पा पंगुह् अणुहरइ अप्पुण जाइ ण एइ आत्मा पंगोरनुगमि महतो भवति  
अथमात्मा न याति न आगच्छति । क । भुवणत्तयहंवि मज्झि त्रिय विहि आणइ विहि  
णेइ भुवनत्रयस्यापि मध्ये हे जीव विधिरानयति विधिर्नयतीति । तथा । अथमात्मा  
शुद्धनिश्चयेनानंतवीर्यत्वात् शुभाशुभकर्मरूपनिगलद्वयराहित्योपि व्यवहारेण अनारिगमसारे  
स्वशुद्धात्मभावनाप्रतिबंधपचेन मनोवचनवायत्रयेणोपार्जितेन कर्मणा निर्मितेन पुण्यवापनिग-  
लद्वयेन हृदतरं बद्धः मनः पंगुवद्भूत्वा स्वयं न याति न आगच्छति न एवात्मा परमात्मो-  
पलंभप्रतिपन्नभूतेन विधिगच्छत्वात्पंचेन कर्मणा भुवनत्रये नीयते तथंपानीयते पंचि । अत्र

नवचनं अलभमानः ] जिनवचनको नहीं प्राप्त करता हुआ [ जीवः ] यह जीव [ न  
भ्रमितः ] नहीं भटकता । भावार्थः—इस जगतमें कोई ऐसा स्थान नहीं रहा कि जगत्तर  
यह जीव निश्चय व्यवहार रत्नत्रयको कहनेवाले जिनवचनको नहीं पाता हुआ अनादिवा-  
स्तो पौराणीलाग्योनिर्मे होकर न घूमा हो अर्थात् जिनवचनकी प्रतीति न करनेसे सब-  
जगह प्यौर सध योनियोमें भ्रमणकिया जन्म मरण किये । यहां यह साक्ष्य है कि जिन-  
वचनके न पानेसे यह जीव जगतमें भ्रमा इसलिये जिनवचन ही आराधने योग्य  
है ॥ ६६ ॥

आमे आत्मा पंगलेकी तरह थाप न नो करी जाता है और न आता है कर्मही  
इसको ले जाते है और ले आते है ऐसा कहते है,—[ हे जीव ] हे जीव [ आत्मा ]  
यह आत्मा [ पंगोः अनुहरति ] वागलेके समान है । आत्मा ] अपि न याति न  
कही जाता है [ न आयाति ] न नयति । भुवनत्रयस्य अपि मध्ये  
इस जीवको [ विधिः ] नयति । [ विधिः ] आनयति  
ले जाता है । भावार्थः—

वीतरागमदानंदैकरूपात्मवर्षकारोपादेयभूतात्परमात्मनो यद्विभ्रं शुभाशुभकर्मद्वयं तद्वैपत्तिं  
भावार्थः ॥ ६७ ॥ इति कर्मशक्तिस्वरूपकथनस्थले मूत्राष्टकं गतं ।

अत ऊर्ध्वं भेदाभेदभावनामुख्यतया पृथक् पृथक् स्वतंत्रमूत्रनवकं कथयति,—

अप्पा अप्पुजि परु जि परु, अप्पा परु जि ण होइ ।

परु जि कयाइवि अप्पु णवि, णियमिं पभणहिं जोइ ॥ ६८ ॥

आत्मा आत्मा एव परः एव परः आत्मा परः एव न भवति ।

पर एव कदाचिदपि आत्मा नैव नियमेन प्रभणंति योगिनः ॥ ६८ ॥

अप्पा अप्पु जि परु जि परु, अप्पा परु जि ण होइ आत्मासैव पर एव परः आत्मा  
पर एव न भवति परु जि कयाइवि अप्पु णवि णियमिं पभणहिं जोइ पर एव कदाचि-  
दपि आत्मा नैव भवति नियमेन निभयेन भणंति कथयंति । के कथयंति । परमयोगिन इति ।  
तथादि । शुद्धात्मा केवलज्ञानादिस्वभावः शुद्धात्मासैव परः कामक्रोधादिस्वभावः पर एव  
दुर्बलः । परमात्माभिधानं तदैकरूपस्वभावं त्यज्वा कामक्रोधादिरूपो न भवति । कामक्रोधादि-  
स्वभावः परः क्वचि काले शुद्धात्मा न भवतीति परमयोगिनः कथयंति । अत्र गोत्रमुग्गादुत्तरे-  
षुभूतानिभ्रः कामक्रोधादिभ्यो भिन्नो यः शुद्धात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ६८ ॥

नेपाका होनेसे शुभ अशुभकर्मरूपबंधनमे रहित है तीभी व्यवहारनयमे इस अनादि सेमा-  
रमे निवृत्तशुद्धात्माही भावनामे विमुख जो मन वचन काय इन तीनोंमे उपार्जे कर्मोंका  
उत्पन्न हुए पुण्यपापरूप बंधनोंकर अच्छीतरह बंधा हुआ पांगनेके समान आप न कही  
उत्पन्न है न कही आना है । जेमे बंदीवान आपमे न कही जाता है और न कही जाता  
है बंदीशुभेकर के गया जाता है और आना है आप तो पांगनेके समान है । वही  
आना वरनात्माही प्रातिके गेठनेवाले चतुर्गतिरूपसंगारके कारणस्वरूप कर्मोंकर तीरे  
उत्पन्ने सम्व आगमन करना है एक गतिमे दृग्गी गतिमे जाता है । यही गांगत बंद  
है ईह केउत्पन्न परम अनेदरूप तथा सबतरह उपादेयरूप परमात्मागे ( अपने शरूपमे )  
जिक से शुभ अशुभ कर्म है ये त्यागने योग्य है ॥ ६७ ॥

अथ शुद्धनिश्चयेनोत्पत्तिर्मरणं बंधमोक्षौ न करोत्यांशेति प्रतिपादयति;—

णवि उत्पज्जह् णवि मरह्, बंधु ण मोक्खु करेह् ।

जिउ परमत्थेण जोहया, जिणवरु एउ भणेह् ॥ ६९ ॥

नापि उत्पद्यते नापि म्रियते बंधं न मोक्षं करोति ।

जीवः परमार्थेन योगिन् जिनवरः एवं भणति ॥ ६९ ॥

नाप्युत्पद्यते नापि म्रियते बंधमोक्षं च न करोति । कोसौ कर्ता । जीवः । केन । परमार्थेन हे योगिन् जिनवर एवं श्रूते कथयति । तथाहि । यद्यप्यात्मा शुद्धात्मानुभूत्यभावे सति शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणम्य जीवितमरणशुभाशुभबंधान् करोति । शुद्धात्मानुभूति-सद्भावे तु शुद्धोपयोगेन परिणम्य मोक्षं च करोति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभाव-प्राप्त्येव शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन न करोति । अत्राह शिष्यः । यदि शुद्धद्रव्यार्थिकलक्षणेन शुद्धनिश्चयेन मोक्षं च न करोति तर्हि शुद्धनयेन मोक्षो नास्तीति तदर्थमनुष्ठानं कृत्वा । परिहारमाह । मोक्षो हि बंधपूर्वकः स च बंधः शुद्धनिश्चयेन नास्ति तेन कारणेन बंधप्र-निपक्षभूतो मोक्षः सोपि शुद्धनिश्चयेन नास्ति यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बंधो भवति तदा

शुद्धात्मस्वरूपही है । पर जो कामक्रोधादि पर वस्तु भावकर्म द्रव्यकर्म मोकर्म हैं ये पर ही हैं अपने नहीं हैं, जो यह आत्मा संसार अवस्थामें यद्यपि अशुद्धनिश्चयनयकर काम-क्रोधादिरूप हो गया है तौभी परमभावके प्रादक शुद्धनिश्चयनयकर अपने ज्ञानादि निज-भावको छोड़कर कामक्रोधादिरूप नहीं होता अर्थात् निजभावरूप ही है । ये रागादिविभा-वपरिणाम उपाधिक हैं परके संबंधसे हैं निजभाव नहीं हैं इसलिये आत्मा कभी इन रागादिरूप नहीं होता ऐसा योगीश्वर कहते हैं । यहां उपादेयरूप मोक्षसुख ( अतींद्रिय सुख ) से तन्मय और काम क्रोधादिकसे भिन्न जो शुद्धात्मा है वही उपादेय है ऐसा अभिप्राय है ॥ ६८ ॥

आगे शुद्धनिश्चयनयकर आत्मा जन्म मरण बंध और मोक्षको नहीं करता है जैसा है वैसा ही है ऐसा निरूपण करते हैं;—[ हे योगिन् ] हे योगीश्वर [ परमार्थेन ] निश्चयनयकर विचारा जाये तो [ जीवः ] यह जीव [ नापि उत्पद्यते ] न तो उत्पन्न होता है [ नापि म्रियते ] न मरता है [ च ] और [ न बंधं मोक्षं ] न बंध मोक्षको [ करोति ] करता है अर्थात् शुद्ध निश्चयसे बंधमोक्षसे रहित है [ एवं ] ऐसा [ जिन-वरः ] जिनेन्द्रदेव [ भणति ] कहते हैं । भावार्थ—यद्यपि यह आत्मा शुद्धात्मानुभूतिके अभावके होनेपर शुभअशुभ उपयोगोंसे परिणमनकरके जीवन मरण शुभअशुभकर्मबंधको करता है और शुद्धात्मानुभूतिके प्रगट होनेपर शुद्धोपयोगसे परिणत होकर मोक्षको करता है, तौभी शुद्ध पारिणामिक परमभावप्रादक शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर न बंधका कर्ता है और





तुहं जीवहं एकवि सण्ण नियमेन निश्चयेन हे आत्मन् हे जीव विजानीहि त्वं । कस्य नास्ति । जीवस्य न केवलमेतन्नास्ति संज्ञापि नास्तीति । अत्र संज्ञाशब्देनाहारादिर्ममा नामसंज्ञा वा प्राज्ञा । तथाहि । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिर्विपरीतैः क्रोधमानमायालोभप्रभृ- निविभावपरिणामैर्यान्नुपार्जितानि कर्माणि तदुदयजनितान्युद्भवादीनि शुद्धनिश्चयेन न संति जीवस्य । ते कस्मान्न संति । केवलज्ञानानंतगुणैः कृत्वा निश्चयेनानादिसंतानागतो- द्भवादिभ्यो भिन्नत्वादिति । अत्र उपादेयरूपानंतमुखाविनाभूतशुद्धजीवात्तच्छकानाद्यानि भिन्नान्युद्भवादीनि तानि हेयानीति तात्पर्यार्थः ॥ ७० ॥

यशुद्भवादीनि स्वरूपाणि शुद्धनिश्चयेन जीवस्य न संति तर्हि कस्य संतीति प्रश्ने देहस्य भवतीति प्रतिपादयति;—

देहहं उन्मत्त जरमरण, देहहं षण्णु विचिचु ।

देहहं रोय विद्याणि तुहं, देहहं लिगु विचिचु ॥ ७१ ॥

देहस्य उद्भवः जरा मरणं देहस्य वर्णः विचित्रः ।

देहस्य रोगान् विजानीहि त्वं देहस्य लिगं विचित्रं ॥ ७१ ॥

देहस्य भवति । किं किं । उन्मत्त उत्पत्तिः जरामरणं च वर्णो विचित्रः । वर्णशब्देनात्र

इन सब विकारोंसे रहित है ऐसा कहते हैं;—[ हे आत्मन् ] हे जीव आत्माराम [ जीवस्य ] जीवके [ उद्भवः न ] जन्म नहीं [ अस्ति ] है [ जरामरणः ] जरा मरण [ रोगा अपि ] रोगभी [ लिगान्यपि ] चिह्न भी [ वर्णोः ] वर्ण [ एका संज्ञा अपि ] आहारादिक एकभी संज्ञा वा नाम नहीं है ऐसा [ त्वं ] तू [ नियमेन ] निश्चयकर [ विजानीहि ] जान । भावार्थ—वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसे विपरीत जो क्रोध मान माया लोभ आदि विभाव परिणाम उनकर उपार्जन किये कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए जन्ममरण आदि अनेक विकार हैं ये शुद्धनिश्चयनयकर जीवके नहीं हैं, क्योंकि निश्चय- नयकर आत्मा केवलज्ञानादि अनंत गुणोंकर पूर्ण है और अनादिसंतानसे प्राप्त जन्म जग मरण रोग शोक भय, स्त्री पुरुष नपुंसकलिंग, सपेद काला बगैरः वर्ण, आहार भय मैथुन परिग्रहरूप संज्ञा—इन सबोंसे भिन्न है । यहाँ उपादेयरूप अनंतगुणका धाम जो शुद्धजीव उससे भिन्न जन्मादिक हैं ये सब त्याज्य हैं एक आत्मा ही उपादेय है यह तात्पर्य जानना ॥ ७० ॥

आगे जो शुद्धनिश्चयनयकर जन्ममरणानि जीवके नहीं है तो प्रश्न में है ऐसा शिष्यके प्रश्न करनेपर समाधान यह है कि ये सब देहके हैं ऐसा बयान करने है — श्रीगुरु कहते हैं कि हे शिष्य [ त्वं ] ; [ देहस्य ] देहके [ उद्भव ] जन्म [ जरामरण ] जरा मरण होते हैं अर्थात् नया शरीर धरना बिटोना और छोड़ना १८



व्यवस्था । परः सर्वोक्तव्यमित्यर्थं भूतं परं इत्यादिभावमात्मानं जानीति, पंचेन्द्रियविषयप्रभृ-  
तिव्यवस्थादिकव्यवस्थां शुक्या परमगमाधीं स्थित्वा तमेव भावयति भावार्थः ॥ ७२ ॥

एतः तं चिन्तमानेषु विद्यमानेषु शुद्धात्मानं भावयन्त्यभिप्रायं मनसि धृत्या सूत्रं  
प्रतिपादयति,—

छिद्रं च भिन्नं च जाडं च उडं, जोहय एह मरीक ।

अप्या भावयति निरमलं च, जिं पावहि भवतीर ॥ ७३ ॥

छिद्रता भिन्नता यातु इयं योगिन् इदं शरीरम् ।

आत्मानं भावयति निर्मलं येन प्राप्नोति भवतीर ॥ ७३ ॥

छिद्रं च भिन्नं च जाडं च उडं जोहय एह मरीक छिद्रता वा द्विधा भवतु भिन्नतां  
वा छिद्रा भवतु इयं वा यातु हे योगिन् इदं शरीरं तथापि एवं किं कुरु । अप्या भावयति  
निरमलं च आत्मानं रजसादिद्वन्द्वद्वन्द्वभावं भावय । किं विदितं । निर्मलं भावकर्म-  
द्वन्द्वकर्मनोक्तमस्ति । येन किं भवति । जिं पावहि भवतीर येन परमात्मध्यानेन प्राप्नोति  
भवतीर एवं हे जीव । किं । भवतीर स्वमात्मावगावगतानमिति । अत्र योमी देहस्य छेदनादि-  
व्यवस्थाविद्यमानेषु चिन्तितो भवतीर इह मत् शुद्धात्मानं भावयतीति संपादनादर्थाच्छ्लोभं स  
प्रतिपादयति भावार्थः ॥ ७३ ॥

[ परः ब्रह्म ] परम ब्रह्म शुद्धमभाष है [ मं ] उसको तू [ आत्मानं ] आत्मा [ मन्यस्व ]  
जान । भावार्थ—यदि व्यवहार मनमें जीवके जरा मरण हैं तौभी शुद्धनिश्चयनमकर  
जीवके नहीं हैं देहके हैं ऐसा जानकर भय मत करे तू अपने चित्तमें ऐसा समझ कि  
जो बोई जग मरणरहित अमंड पर ब्रह्म है वैसा ही मेरा स्वरूप है शुद्धात्मा सपसे  
उन्मूट है ऐसा तू अपना गभाष जान । पांच इंद्रियोंके विषयोंको आदिदे समस्त विक-  
ल्पजालोंको छोड़कर परमगमाधिमें स्थिर होकर निज आत्माको ही ध्याय यह तात्पर्य  
है ॥ ७२ ॥

आगे जो देह छिद्र जावे भिन्न जावे क्षय हो जावे तौभी तू भय मत करे केवल शुद्ध  
आत्माका ध्यानकर ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर सूत्र कहते हैं—[ हे योगिन् ] हे योगी  
[ इदं शरीरं ] यह शरीर [ छिद्रतां ] छिद्रजावे दो टुकड़े हो जायें [ भिन्नतां ] अथवा  
भिन्न जावे छेदमहित हो जावे [ क्षयं यातु ] नाशको प्राप्त होवे तौभी तू भय मतकरे  
मनमें रोद मत लवे [ निर्मलं आत्मानं ] अपने निर्मल आत्माका ही [ भावय ] ध्यान-  
कर अर्थात् चतुर्गुण चिदानन्द शुद्धस्वभाव तथा भावकर्म ब्रह्मकर्म नोक्तमसे रहित अपने  
आत्माका चिन्तन कर 'येन' जिन परमात्मक ध्यानमें तू [ भवतीर ] भवमागरका  
पार [ प्राप्नोति ] पावे । भावार्थ—जो देहके छेदनादि कार्य हान ना रागद्वेषादि वि-

तदनंतरं निश्चयसम्यग्दृष्टिमुख्यत्वेन स्वतंत्रमूत्रमेकं कथयति;—

अपि अप्पु मुणंतु जिउ, सम्मादिट्टि ह्वेइ ।  
सम्माइट्टिउ जीवइउ, लहु कम्मइ मुचेइ ॥ ७७ ॥

आत्मना आत्मानं जानन् जीवः सम्यग्दृष्टिः भवति  
सम्यग्दृष्टिः जीवः लघु कर्मणा मुच्यते ॥ ७७ ॥

पि अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्टि ह्वेइ आत्मनात्मानं जानन् सन् जीवो  
गस्यवेदनज्ञानपरिणतेनांतरात्मना स्वशुद्धात्मानं जानन्ननुभवन् सन् जीवः कर्त्तो  
गसम्यग्दृष्टिर्भवति । निश्चयसम्यक्त्वभावनायां फलं कथ्यते सम्माइट्टिउ जीवइउ  
लहु कम्मइ मुचेइ सम्यग्दृष्टिः जीवो लघु शीघ्रं ज्ञानावरणादिकर्मणा मुच्यते इति । अत्र  
यैवै कारणेन वीतरागसम्यग्दृष्टिः किल कर्मणा शीघ्रं मुच्यते तेनैव कारणेन वीतरागस-  
रिप्राप्तुस्तुं शुद्धात्मानुभूताधिनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वेमेव भावनीयमित्यभिप्रायः । तथापि  
भीतुं दुःशाचार्यैर्भोग्नाभूते निश्चयसम्यक्त्वलक्षणं—“सहज्वरवो सवणो सम्मादिट्टो ह्वेइ  
नियमेन । मम्मत्तपरिणदो उण सवेइ दुट्टु कम्मइ” ॥ ७७ ॥

यन कर । भावार्थ—देखो सुने अनुभवे भोगोंकी अभिलाषारूप सब विभाव परिणानोंको  
छोड़कर निजस्वरूपका ध्यानकर । यहां उपादेयरूप अतीन्द्रियमुख्यमे तन्मई और सब  
भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्ममे जुदा जो शुद्धात्मा है वही अभेद रत्नत्रयको धारण करनेवाले  
निश्चयसम्यक्को उपादेय है ऐसा तात्पर्य हुआ ॥ ७६ ॥

पेमें तीन प्रकार आत्मार्थ कहनेवाले प्रथम महाधिकारमें जुदे जुदे भतंत्र भेदभावनाके  
स्वरूपे नौ दोहाय्य करे । आगे निश्चयकर सम्यग्दृष्टीकी मुख्यतामे स्वतंत्र एक दोहा-  
य्य करते हैं;—[ आत्मानं ] अपनेकी [ आत्मना ] अपनेमें [ जानन् ] जान  
हुआ यह [ जीवः ] जीव [ सम्यग्दृष्टिः ] सम्यग्दृष्टि [ भवति ] होता है [ सम्पादितः ]  
जीवः ] योग सम्यग्दृष्टि हुआगता [ लघु ] जल्दी [ कर्मणा ] कर्मोंमें [ मुच्यते ]  
हूट जाता है ॥ भावार्थ—यह आत्मा वीतराग मार्गवेदनज्ञानमें परिणत हुआ अंतरा-  
होकर अपनेको अनुभवता हुआ वीतराग सम्यग्दृष्टि होता है तब सम्यग्दृष्टि होनेके कार-  
णमे ज्ञानवर्णादि कर्मोंका शीघ्र ही हूट जाना है रहित हो जाना है । यहां त्रिप ही  
संज्ञाके सम्यग्दृष्टि होनेमें यह जीव कर्मोंमें हूटकर निश्चय हो जाना है इमीद्वारा वीतराग  
सम्यग्दृष्टि अनुभवत ही शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग सम्यक्त्व है वही सवणो योग्य है ऐसी  
लक्षण है ॥ ७७ ॥ इसी ही स्वतंत्र आत्माके उपादेय भोग्नाभूत निश्चयसम्यक्त्वके  
लक्षण है “सहज्वरवो सवणो सम्मादिट्टो ह्वेइ” इत्यादि—इसका अर्थ यह है कि आत्मनात्मानं जानन्

अत उच्ये मिथ्यादृष्टिलक्षणकथनमुत्पत्त्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते तथा;—

॥ पञ्चपरत्तञ्जीवदृष्ट, मिच्छादिदृष्टि ह्वेइ ।

बंधइ बहुविधकम्मडा, जे संसार भमेइ ॥ ७८ ॥

॥ पर्यायरक्तो जीवः मिथ्यादृष्टिः भवति ।

वभाति बहुविधकर्माणि यैः संसारं भ्रमति ॥ ७८ ॥

पञ्चपरत्तञ्जीवदृष्ट मिच्छादिदृष्टि ह्वेइ पर्यायरक्तो जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति परमात्मानुभूतिरूपिप्रतिपक्षभूतामिनिवेशरूपा व्यावहारिकमूढप्रयादिपंचविंशतिमलांतर्भाविनी मिथ्या वितथा व्यलीका च सा दृष्टिरभिप्रायो रूपिः प्रलयः श्रद्धानं यस्य स भवति मिथ्यादृष्टिः । स च किं विशिष्टः । नरनारकादिविभावपर्यायरक्तः । तस्य मिथ्यापरिणामस्य फलं कथ्यते । बंधइ बहुविधकम्मडा जे संसार भमेइ वभाति बहुविधकर्माणि यैः संसारं भ्रमति येन मिथ्यात्वपरिणामेन शुद्धात्मोपलब्धेः प्रतिपक्षभूतानि बहुविधकर्माणि वभाति तैश्च कर्मभिर्द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपं पंचप्रकारं संसारं परिभ्रमतीति । तथा षोडशं मोक्षप्राप्तौ निश्चयमिथ्यादृष्टिलक्षणं । “जो पुणु परदब्बुरओ मिच्छादृष्टी ह्वेइ सो साह । मिच्छत्तपरिणदो उण वज्जदि दुट्टुट्टुक्कम्महि” ॥ पुनश्चोक्तं तैरेव । “जे पज्जणु गिरदा जीवा परम्मइगत्ति गिरिट्ठा । आदसहावम्मि ठिदा ते मगममया मुणोयव्वा” ॥ अत्र स्वसंविन्नरूपादीनरागसम्यक्त्वान् प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं हेयमिति भावार्थः ॥ ७८ ॥

हुआ जो यति वह निश्चयकर सम्यग्दृष्टि होता है फिर वह सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वरूप परिणमता हुआ दुष्ट आठ कर्मोंको क्षय करता है ॥ ७७ ॥

इसके बाद मिथ्यादृष्टिके लक्षणके कथनकी मुख्यतासे आठ दोहा कहते हैं;—[ पर्यायरक्तः जीवः ] शरीर आदि पर्यायमें लीन हुआ जो अज्ञानी जीव है वह [ मिथ्यादृष्टिः ] मिथ्यादृष्टि [ भवति ] होता है और फिर वह [ बहुविधकर्माणि ] अनेक प्रकारके कर्मोंको [ वभाति ] बांधता है [ यैः ] जिनसे कि [ संसारं ] संसारमें [ भ्रमति ] भ्रमण करता है । भावार्थ—परमात्माकी अनुभूतिरूप श्रद्धासे विमुख जो आठ मूढ आठ मल एह अनादतन तीन मूढता इन पचीस दोषोंकर सहित अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्व परिणाम जिसके है वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है । वह मिथ्यादृष्टि नर नारकादि विभाव पर्यायोंमें लीन रहता है । उस मिथ्यात्व परिणामसे शुद्धात्माके अनुभवसे परान्मुख अनेक तरहके कर्मोंको बांधता है जिनमें कि द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूपी पांच प्रकारके संसारमें भटकता है । ऐसा कोई शरीर नहीं जो इसने न धारण किया हो, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है कि जहां न उपाजा हो और मरण किया हो, ऐसा कोई काल नहीं है कि जिसमें इसने जन्म मरण न किये हो, ऐसा कोई भव-रूप जो इसने पटा

अथ मिथ्यात्वोपार्जितकर्मशक्तिं कथयति;—

॥ कम्मइं दिदघणचिक्खणइं, गरुवइं वज्जसमाइं ।

णाणविचक्खणु जीवडउ, उप्पहि पाडहि ताइं ॥ ७९ ॥

१७ कर्माणि दृढघनचिक्खानि गुरुकाणि वज्रसमानि ।

ज्ञानविचक्षणं जीवं उपपद्ये पातयंति तानि ॥ ७९ ॥

कम्मइं दिदघणचिक्खणइं गरुवइं वज्जसमाइं कर्माणि भवंति । किं विविद्वानि । दृढानि बलिष्ठानि घनानि निविद्वानि चिक्खणान्यपनेतुमशक्यानि विनाशयितुमशक्यानि गुरुकानि महानि वज्रसमान्यभेदानि च । इत्थंभूतानि कर्माणि किं कुर्वन्ति । पाणनि-यससु जीवडउ उप्पहिं पाडइं ताइं ज्ञानविचक्षणं जीवमुत्पद्ये पातयंति । एतै कर्माणि युगपत्सोऽलोकप्रकाशरुकेवलज्ञानाद्यनंतगुणविचक्षणं दक्षं जीवमभेदरत्नत्रयस्वरूप-मिश्रयमोक्षमार्गात्प्रतिपक्षभूत उन्मार्गं पातयंतीति । अत्रायमेवाभेदरत्नत्रयरूपो निष्प्र-यमोक्षमार्ग उपादेय इत्यभिप्रायः ॥ ७९ ॥

न हो पौर ऐमे अशुद्धभाव नहीं हैं जो इसके न हुए हों । इस तरह अनंत परावर्तन श्रमने किये हैं । ऐमाही कथन मोक्षपाहुडमें निश्चय मिथ्यादृष्टिके लक्षणमें श्रीकुंदकुंदाचार्यने कहा है—“जो पुण” इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि जो अज्ञानी जीव द्रव्यकर्म भावकर्म नोद्धर्मरूप परद्रव्यमें लीन हो रहे हैं वो साधुके मत धारण करनेपर भी मिथ्या-दृष्टि ही है मध्यादृष्टि नहीं और मिथ्यात्वकर परिणमते दुःखदेनेवाले आठ कर्मोको बांधने हैं । फिर भी उन आचार्योंने ही मोक्षपाहुडमें कहा है—“जे पज्जयेसु” इत्यादि । उसका अर्थ यह है कि जो नर नारकादि पर्यायोंमें मगन होरहे हैं वे जीव परपर्यायने रत मिथ्यादृष्टि हैं ऐमा भगवानने कहा है और जो उपयोग लक्षणरूप निजभावमें फिउ रहे हैं वे स्वममयरूप मध्यादृष्टि हैं ऐमा जानो । मार्गांत यह है कि जो परपर्यायमें रत हैं वे हो परसमय (मिथ्यादृष्टि) हैं और जो आत्मस्वभावमें मगे हुए हैं वे स्वमयर (मध्यादृष्टि) हैं मिथ्यादृष्टि नहीं हैं । यहांपर आत्मज्ञानरूपी धीतराग सम्यक्त्वसे परानुम जो मिथ्यात्व है वह त्यागने योग्य है ॥ ७८ ॥

अने मिथ्यात्वकर अनेक प्रकार उपार्जन किये कर्मोंमें यह जीव समार वनमें भ्रमण है उस कर्मेकिको कहते हैं,—[ तानि कर्माणि ] वे ज्ञानावगणादि कर्म [ ज्ञानवि-चक्षणं ] ज्ञानके गुणमें बहू [ जीवं ] इस जीवको [ उत्पद्ये ] मोटे मार्गमें [ पातयंति ] दृष्टकने दूरा दे । कर्म है व कर्म [ दृढघनचिक्खानि ] बलवान है, कर्म है दिदघणचिक्खानेको अशक्य है इत्यन्तव । वचन है [ गुरुकाणि ] नाग है [ वज्रस-मानि ] हीन बहूद समान न-य है । आराध - यह जीव परकामयने हीः ३:३३

अथ मिथ्यापरिणता जीवो विपरीतं तत्त्वं जानातीति निरूपयति,—

१ जिउ मिच्छत्तं परिणमिउं, विचरिउ तच्चु मुणेइ ।

कम्मविणिम्मियभावडा, ते अप्पाणु भणेइ ॥ ८० ॥

११ जीवः मिथ्यात्वेन परिणतः विपरीतं तत्त्वं मनुते ।

कर्मविनिर्मितभावान् तान् आत्मानं भणति ॥ ८० ॥

जिउ मिच्छत्तं परिणमिउ विचरिउ तच्चु मुणेइ जीवो मिथ्यात्वेन परिणतः सन् विपरीतं तत्त्वं जानाति शुद्धात्मानुभूतिरचिविलक्षणेन मिथ्यात्वेन परिणतः सन् जीवः परमात्मादितत्त्वं च यथावन् वस्तुस्वरूपमपि विपरीतं मिथ्यात्वरगादिपरिणतं जानाति । एतन्न किं करोति । कम्मविणिम्मियभावडा ते अप्पाणु भणेइ कर्मविनिर्मितान् भावान् समात्मानं भणति विनिष्टभेदज्ञानाभावाद्गौरस्थूलकृपादिकर्मजनितदेहधर्मात्मानं जानातीत्यर्थः । अत्र तेभ्यः कर्मजनितभावेभ्यो भिन्नो रागादिनिवृत्तिकाले स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति तात्पर्यं ॥ ८० ॥

प्रकाशनेवाले केवलज्ञान आदिक अनंत गुणोंसे बुद्धिमान चतुर हैं तौभी इस जीवको वे संसारके कारण कर्म ज्ञानादि गुणोंका आच्छादनकरके अभेदरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्गसे विपरीत खोटे मार्गमें डालते हैं अर्थात् मोक्षमार्गसे भुलाकर भववनमें भटकते हैं । यहां यह अभिप्राय है कि संसारके कारण जो कर्म और उनके कारण मिथ्यात्वरगादि परिणाम हैं वे सब हेय हैं तथा अभेदरत्नत्रयरूप निश्चय मोक्षमार्ग है वह उपादेय है ॥ ७९ ॥

आगे मिथ्यात्वरिणतसे यह जीव तत्त्वको यथार्थ नहीं जानता विपरीत जानता है ऐसा कहते हैं;—[ जीवः ] यह जीव [ मिथ्यात्वेन परिणतः ] अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणया [ तत्त्वं ] आत्माको आदि लेकर तत्त्वोंके स्वरूपको [ विपरीतं ] अन्यका अन्य [ मनुते ] श्रद्धान करता है यथार्थ नहीं जानता । वस्तुका स्वरूप तो जैसा है वैसा ही है तौभी वह मिथ्याती जीव वस्तुके स्वरूपको विपरीत जानता है अपना जो शुद्धज्ञानादि-सहित स्वरूप है उसको मिथ्यात्वरगादिरूप जानता है । उससे क्या करता है! [ कर्म-विनिर्मितभावान् ] कर्मोंकर रचे गये जो शरीरादि परभाव हैं [ तान् ] उनको [ आत्मानं ] अपने [ भणति ] कहता है अर्थात् भेदविज्ञानके अभावसे गौरा श्याम स्थूल कृश इत्यादि कर्मजनित देहके स्वरूपको अपने जानता है इसीसे संसारमें भ्रमण करता है । भावार्थ—यहां पर कर्मोंसे उपार्जन किये भावोंसे भिन्न जो शुद्ध आत्मा है वही जिस समय रागादि दूर होते हैं उससमय उपादेय है क्योंकि तभी शुद्ध आत्माका ज्ञान होता है ऐसा हुआ ॥ ८० ॥



अथानंतरं तत्पूर्वोक्तकर्मजनितभावान् येन मिथ्यापरिणामेन कृत्वा बहिरात्माननि से-  
जयति तं परिणामं सूत्रपंचकेन विवृणोति;—

१) ह्रं गौरो ह्रं सामलउ, ह्रं जि विभिण्णउ वण्णु ।

ह्रं तणु अंगउं धूलु ह्रं, एह्रं मूढउ मण्णु ॥ ८१ ॥

१) अहं गौरः अहं श्यामः अहमेव विभिन्नः वर्णः ।

अहं तन्वगः स्थूलः अहं एवं मूढं मन्यस्य ॥ ८१ ॥

अहं गौरो गौरवर्णः अहं श्यामः श्यामवर्णः । अहमेव भिन्नो नानावर्णः भिन्नवर्णः ।  
क । वर्णविषये रूपविषये । पुनश्च कथंभूतोहं । तन्वगः कृशांग । पुनश्च कथंभूतोहं ।  
मूढः स्थूलशरीरः । इत्थंभूतं मूढात्मानं मन्यस्य । एवं पूर्वोक्तमिथ्यापरिणामपरिणतं  
जीवं मूढान्मानं जानीहीति । अयमत्र भावार्थः । निश्चयनगेनात्मनो भिन्नान् । कर्म-  
जनितान् गौरम्बुन्दारिभावान् मयेथा हेयभूतानानि सर्वप्रकारोपादेयभूते वीतरागनिस्तानं-  
ईदम्भावे शुद्धजीवे यो योजयति स विषयकपायाधीनतया स्वशुद्धान्मानुभूतेभ्युनः सन्  
मूढात्मा भवतीति ॥ ८१ ॥ अथ ।

ह्रं वरु वंभणु वइसु ह्रं, ह्रं ग्वत्तिउ ह्रं सेसु ।

पुरिसु णाउंसउ इत्थि ह्रं, मण्णह मूढु विसेसु ॥ ८२ ॥

अहं वरः ब्राह्मणः वैश्यः अहं अहं क्षत्रियः अहं श्रेयः ।

पुरणः ननुमकः मी अहं मन्यते मूढः विशेषे ॥ ८२ ॥

ह्रं वरु वंभणु वइसु ह्रं ह्रं ग्वत्तिउ ह्रं सेसु अहं वरगे विनिष्टो ब्राह्मणः अहं वैश्यो

इत्येव वद उत पूर्वं कथितं कर्मजनित भावोक्तो जिग मिथ्यास्य परिणाममे बहिरात्मा  
अने मानसो द्वे योः वो अपने हं नही ऐमे परिणामोक्तो पांच दोहापूर्वोमे कहते हैं;—  
[अहं] में [गौरः] गौर ह [अहं] में [श्यामः] काळा ह [अहमेव] में ही [वि-  
भिन्नः वर्णः] अनेकवर्णवाया ह [अहं] में [तन्वगः] कृश (पतले) शरीरवाया ह  
[अहं] में [स्थूलः] मूढा ह [एवं] इत्यप्रकार मिथ्यास्यपरिणामकर परिणत मिथ्यास्य  
अर्थो न [मूढं] मूढ [मन्यस्य] मान । भावार्थ—यह है कि मिथ्या नयमे अन्तर्गते  
जिग हो कर्मजनित गौर मूढादि भाव है ये मयोवा लास्य हं योः गौ मकः ब्राह्म-  
णो वैश्यो क्षत्रियो मीथ्यास्यपरिणामव जो शुद्धजीव है वर इत्य भिन्न है नो मी जो पुरण  
पुरिसु वइसु ह्रं ह्रं ग्वत्तिउ ह्रं सेसु अहं वरगे विनिष्टो ब्राह्मणः अहं वैश्यो  
इत्येव वद उत पूर्वं कथितं कर्मजनित भावोक्तो जिग मिथ्यास्य परिणाममे बहिरात्मा

अथानंतरं तत्पूर्वोक्तकर्मजनितभावान् येन मिथ्यापरिणामेन कृत्वा बहिरात्माननि से-  
जयति तं परिणामं सूत्रपंचकेन विवृणोति;—

बणिक् अहं क्षत्रियोहं श्रेयः शूद्रादिः । पुनश्च कथंभूतः । पुरिसु णउंसउ इत्थि हउं मण्णइ मूढ विमेषु पुरुषो नपुंसकः स्त्रीलिंगोहं मन्यते मूढो विशेषं ब्राह्मणादिविशेषमिति । इदमत्र गात्पर्यं । यन्निश्चयनयेन परमात्मनो भिन्नानपि कर्मजनितान् ब्राह्मणादिभेदान् सर्वप्रकारेण हेयभूतानपि निश्चयनयेनोपादेयभूते पीतरागसदानंदैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि योजयति संयंपान् करोति । कोसौ कथंभूतो । ज्ञानपरिणतः स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनारहितो मूढात्मेति ॥ ८२ ॥ अध ।

॥ तरुणउ वृद्धउ रूपडउ, मूरउ पंडित दिव्वु ।

खणणउ वंदउं सेवडउ, मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८३ ॥

। तरुणः वृद्धः रूपस्त्री शूरः पंडितः दिव्यः ।

क्षपणकः वंदकः श्वेतपटः मूढः मन्यते सर्वम् ॥ ८३ ॥

तरुणउ वृद्धउ रूपडउ मूरउ पंडित दिव्वु तरुणो यौवनस्योहं वृद्धोहं रूपम्यहं शूरः सुभटोहं पंडितोहं दिव्योहं । पुनश्च त्रिविनिष्टः । खणणउ वंदउं सेवडउ क्षपणको दिगंबरोहं वंदको पांडोहं श्वेतपटादिर्लिंगधारकोहमिति मूढात्मा सर्वं मन्यत इति । अयमत्र गात्पर्यायः । यद्यपि व्यवहारेणाभिन्नान् तथापि निश्चयेन पीतरागसहजानंदैकस्वभावात्परमात्मनः भिन्नान् कर्मोदयोत्पन्नान् तरुणवृद्धादिविभावपर्यायान् हेयानपि माध्यादुपादेयभूते स्वशुद्धात्मतत्त्वे योजयति । कोसौ । ख्यातिपूजालाभादिविभावपरिणामार्थिनतया परमात्मभावेनाच्युतः मन् मूढात्मेति ॥ ८३ ॥ अध ।

हं [अहं] में [वैश्यः] बणिक् हं [अहं] में [क्षत्रियः] शत्री हं [अहं] में [श्रेयः] इनके सिवाय शूद्र हं [अहं] में [पुरुषः नपुंसकः स्त्री] पुरुष हं नपुंसक हं और स्त्री हं । इसप्रकार शरीरके भावोंको मूर्ख अपने मानता है । सो ये सब शरीरके हैं आत्माके नहीं हैं । भावार्थ—यहां पर ऐसा है कि निश्चयनयसे ये ब्राह्मणादि भेद कर्मजनित हैं परमात्माके नहीं है इसलिये सब तरह आत्मज्ञानीके त्याग्यरूप हैं तो भी जो निश्चयनयकर आराधने योग्य पीतराग सदा आनंदस्वभाव निज शुद्धात्मामें इन भेदोंको लगाता है अर्थात् अपने को ब्राह्मण शत्री वैश्य शूद्र मानता है स्त्री पुरुष नपुंसक मानता है वह कर्मोंका बंध करता है बड़ी अज्ञानसे परिणत हुआ निजशुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे रहित हुआ मूढात्मा है जानवान नहीं है ॥ ८२ ॥

आगे फिर मूढके लक्षण कहते हैं,—[ तरुणः ] में जवान ह [ वृद्धः ] बुढ़ा हं [ रूपस्त्री ] रूपवान ह [ शूरः ] शस्त्री ह [ पंडितः ] पंडित हं [ दिव्यः ] सबमें श्रेष्ठ ह [ क्षपणकः ] दिगंबर ह [ वंदकः ] बाढ़मतका आचार्य हं [ श्वेतपटः ] और मे श्वेतानर ह इत्यादि [ सर्व ] सब शरीरके भेदोंको [ मूढः ] मूर्ख [ मन्यते ] अपने मानता

॥ जणणी जणणुवि कंत घरु, पुत्तुवि मित्तुवि दब्बु ।  
मायाजालुवि अप्पणउं, मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८४ ॥

११ जननी जननः अपि कांता गृहं पुत्रोपि मित्रमपि द्रव्यं ।

मायाजालमपि आत्मनः मूढः मन्यते सर्वं ॥ ८४ ॥

जणणी जणणुवि कंत घरु पुत्तुवि मित्तुवि दब्बु जननी माता जननः पितापि कांता भार्या गृहं पुत्रोपि मित्रमपि द्रव्यं सुवर्णादि यत्तत्सर्वं मायाजालुवि अप्पणउं मूढउ मण्णइ सव्वु मायाजालमप्यसत्यमपि कृत्रिममपि आत्मीयं स्वकीयं मन्यते । कोत्तौ । मूढो मूढात्मा । कतिसंख्योपेतमपि । सर्वमपीति । अयमत्र भावार्थः । जनन्यादिकं परस्वप्नमपि शुद्धात्मनो मित्रमपि हेयस्वाशेषनारकादिदुःखस्य कारणत्वाद्द्वेषमपि साक्षादुपादेय-भूतानाहुत्वत्त्वलक्षणपारमार्थिकसौख्यादभिन्ने वीतरागपरमानन्दैकस्वभावे शुद्धात्मनो योजयति । स फः । मनोवचनकायव्यापारपरिणतः स्वशुद्धात्मद्रव्यभावनाशून्यो मूढा-त्मनि ॥ ८४ ॥ अथ ।

हे । ये भेद जीवके नहीं हैं । भावार्थ—यहांपर यह है कि यद्यपि व्यवहार नयकर ये सब तरह नृत्वादि शरीरके भेद आत्माके कहे जाते हैं तौ भी निश्चयनयकर वीतराग महानंद एक स्वभाव जो परमात्मा उससे मिल हैं । ये तहणादि विभावपर्याय कर्मके उदयकर उत्पन्न हुए हैं इसलिये त्यागने योग्य है तौ भी उनको साक्षात् उपादेयका मित्र शुद्धात्मतत्त्वमें जो लगाना है अर्थात् आत्माके मानता है वह अज्ञानी जीव बड़ा प्रतिष्ठा धनका लाभ इत्यादि विभावपरिणामोंके आधीन होकर परमात्माकी भावनासे रहित हुआ मूढात्मा है वह जीवके ही भाव मानता है ॥ ८३ ॥

आगे फिर भी मूढके लक्षण कहते हैं:—[ जननी ] माता [ जननः ] पिता [ अपि ] और [ कांता ] भी [ गृहं ] घर [ पुत्रः अपि ] और भेटा बेटा [ मित्रमपि ] मित्र वरिष्ठः सब कुटुम्बजन वदिन भांती नाना मामा भाई बंध और [ द्रव्यं ] रत्न मानिक मोती सुवर्ण चांदी धन धान्य द्विपद बांदी धान नौकर चौपाये गाय बैल घोडा घोड़ी ऊँच हाथी रथ वाजकी वदनी ये [ सर्वं ] सब [ मायाजालमपि ] अमन्य है कर्मजनित है तौ भी [ मूढः ] अज्ञानी जीव [ आत्मीयं ] अपने [ मन्यते ] मानता है । भावार्थ—ये माता पिता आदि सब कुटुम्बजन परस्वप्न भी हैं सब धारणके हे, शुद्धात्मान मिल भी है स्वयं स्वकी है देवत्व सम्यक् नारकादिदुःखोंके कारण होनेमें जाय भी है उनको जो ईश्वर साक्षात् उपादेयकर जन कुटुम्बजन परमार्थके मूढमें प्रामाण्य वीतराग परम-देवत्व परस्वप्नर के मूढ मन्यते लगाना है अर्थात् अपने मानता है वह सब वदनी वदक्य वदक्य हुआ मूढ अपने या मूढकी भावनामें मूढ ( रहित ) मूढात्मा है

१) दुःखग्रहं कारणि जे विसय, ते सुहहेउ रमेइ ।  
मिच्छादृष्टिउ जीवडउ, इत्यु ण काइ करेइ ॥ ८५ ॥

१: दुःखस्य कारणं ये विषयाः तान् सुखहेतून् रमते ।  
मिथ्यादृष्टिः जीवः अत्र न किं करोति ॥ ८५ ॥

दुःखग्रहं कारणि जे विसय ते सुहहेउ रमेइ दुःखस्य कारणं ये विषयान् विषयान् सुखहेतून् मत्वा रमते । स कः । मिच्छादृष्टिउ जीवडउ मिथ्यादृष्टिर्जीवः इत्यु ण काइ करेइ अत्र जगति योगौ दुःखरूपविषयान् निश्चयनयेन सुखरूपान् मन्यते स मिथ्यादृष्टिः किमदृश्यं पापं न करोति अपि तु सर्वं करोत्येवेति । अत्र तात्पर्यं । मिथ्यादृष्टिर्जीवो वीतरागनिर्विकल्पममाधिमनुष्यपरमानन्दपरमममरमीभावरूपसुखरमापेक्षया निश्चयेन दुःखरूपानपि विषयान् सुखहेतून् मत्वा अनुभवतीत्यर्थः ॥ ८५ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये “जिउ मिच्छे” इत्यादिसूत्राष्टकेन मिथ्यादृष्टिपरिणतिच्याख्यानस्यैवं ममाप्तं ।

तदनंतरं सम्यग्दृष्टिभावनाख्यातयानमुत्पत्वेन “कालु लहेविणु” इत्यादि सूत्राष्टकं कथ्यते अथ,—

२) कालु लहेविणु जोइया, जिमु जिमु मोहु गलेइ ।  
तिमु तिमु दंसणु लहेइ जिउ, णियमं अप्पु मुणेइ ॥ ८६ ॥

२: कालं लब्ध्वा योगिन् यथा यथा मोहः गलति ।  
तथा तथा दर्शनं लभते जीवः नियमेन आत्मानं मनुते ॥ ८६ ॥

पेमा जानो, अर्थात् अतीन्द्रियसुखरूप आत्मामें पर वस्तुका क्या प्रयोजन है । जो पर वस्तुको अपना मानता है वही मूर्ख है ॥ ८४ ॥

अब और भी मूढ़का लक्षण कहते हैं—[ दुःखस्य ] दुःखके [ कारणं ] कारण [ ये ] जो [ विषयाः ] पाप इंद्रियोंके विषय हैं [ तान् ] उनको [ सुखहेतून् ] सुखके कारण जानकर [ रमते ] रमण करता है वह [ मिथ्यादृष्टिः जीवः ] मिथ्यादृष्टि जीव [ अत्र ] इस ससारमें [ किं न करोति ] क्या पाप नहीं करता सभी पाप करता है अर्थान् जीवोंकी हिंसा करता है झूठ बोलता है दूसरेका धन हरता है दूसरेकी स्त्री सेवन करता है अति नृप्या करता है बहुत आरंभ करता है खेती करता है खोटे २ व्यसन सेवता है जो न करनेके काम में उनको करता है । भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव वीतराग निर्विकल्प परमममाधिमं उत्पन्न परमानन्द परमममरमीभावरूप सुखरूपं पशन्मुमुक्षुश्चा निश्चयकर मत्वा दुःखरूप विषयोंको सुखके कारण समझकर सेवन करता है सो इनमें सुख नहीं है ॥ ८५ ॥

काल लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ फाळं लच्छ्या हे योगिन यथा यथा मोहो विगलति तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ तथा तथा दर्शनं सम्यक्त्वं लभते जीवः । तदनंतरं किं करोति । णियमं अप्पु मुणेइ नियमनात्मानं मनुते जानातीत्यर्थः । तथाहि— एकंद्रियविकलंद्रियपंचंद्रियमंत्रिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलशुद्धात्मोपदेशादीनामुत्तरोत्तरदुर्लभक्रमेण दुःप्रामाण्यं काललच्छिः कथंचित्कारुणादीन्यायेन तां लच्छ्या परमागमरुचिदन्तरेण मिथ्यात्वादिभेदभिन्नपरमात्मोपलम्भप्रतिपत्तेर्यथा यथा मोहो विगलति तथा तथा शुद्धात्मोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वं लभते । शुद्धात्मकर्मणोर्भेदज्ञानेन शुद्धानन्तत्वं मनुते जानातीति । अत्र यस्त्वोपादेयभूतस्य शुद्धात्मनो रुचिपरिणामेन निश्चयसम्यग्दर्शितो जीव स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ८६ ॥

अत ऊर्ध्वं पूर्वोक्तन्यायेन सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा मिथ्यादृष्टिभावनायाः प्रतिपन्नभूतां वादनी भेदभावनां करोति तादृशीं क्रमेण सूत्रसमूहेन विवृणोति;—

११ अप्पा गोरउ किण्हु णवि, अप्पा रत्तु ण होइ ।

अप्पा सुहुमुचि धूलु णवि, णाणित्ता णाणं जोइ ॥ ८७ ॥

११ आत्मा गौरः कृष्णः नापि आत्मा रक्तः न भवति ।

आत्मा सूक्ष्मोपि स्थूलः नैव ज्ञानी ज्ञानेन पश्यति ॥ ८७ ॥

इस प्रकार तीनतरहके आत्माके कहनेवाले पहले महा अधिकारमें “विउ निच्छत्ते” इत्यादि आठ दोहाओंसे मिथ्यादृष्टिकी परिणतिका व्याख्यान समाप्त किया । इसके आगे सम्यग्दृष्टिकी भावनाके व्याख्यानकी मुख्यतासे “काल लहेविणु” इत्यादि आठ दोहाएँ कहते हैं;—[ हे योगिन ] हे योगी [ कालं लच्छ्या ] काल पाकर [ यथा यथा ] जैसा जैसा [ मोहः ] मोह [ गलति ] गलता है कम होता जाना है [ तथा तथा ] वैसा वैसा [ जीवः ] यह जीव [ दर्शनं ] सम्यग्दर्शनको [ लभते ] पाता है फिर [ नियमनं ] निश्चयसे [ आत्मानं ] अपने स्वरूपको [ मनुते ] जानना है । भावार्थ—एकंद्रीते विकलत्रय (दो इंद्री ते इंद्री चो इंद्री) होना दुर्लभ है, विकलत्रयसे पंचेंद्री, पंचेंद्रीसे सैनी पर्याप्त, उससे मनुष्य होना कठिन है । मनुष्यमें भी आर्यक्षेत्र उत्तमकुल शुद्धात्मना उपदेश आदि मिलना बहुत कठिन है । और किमीतरह “कारुणादीय न्यायसे” काठको छिपको पाकर सब दुर्लभ सामग्री मिलनेपर भी जैन शास्त्रोक्त मार्गकर मिथ्यात्वादिके इ हो जानेसे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होते हुए जैसा जैसा मोह शीघ्र होता जाता है वैसा २ शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व होता है । शुद्ध आत्मा और कर्मको जुदे २ जानता है । जिन शुद्धात्मकी रुचिरूप परिणामसे यह जीव निश्चयसम्यग्दर्शित होता है वही उपादेय है यह तात्पर्य हुआ ॥ ८६ ॥

आत्मा गौरो न भवति कृष्णो न भवति रक्तो न भवति आत्मा मृन्मोषि न भवति स्थूलोपि नैव । तर्हि किंचिद्विशिष्टः । ज्ञानी ज्ञानस्वरूपः ज्ञानेन करणभूतेन पश्यति । अथवा "जाणित जाणइ जोइ" इति पाठांतरं, ज्ञानी योगी म जानायात्मानं । अथवा ज्ञानी ज्ञानस्वरूपेण आत्मा । कामी जानाति । योगीति । तथाहि—कृष्णगौरादिक्रममात्रं व्यवहारेण जीवसंबंधानपि तथापि शुद्धात्मनो मिथ्या कर्मजनितान् हेयान् धीतरागद्वेष-वेदनज्ञानी स्वशुद्धात्मतत्त्वे तान् न योजयति संबंधान् करोतीति भावार्थः ॥ ८७ ॥ अथ ।

१) अप्या वंभणु चइसु णधि, णधि स्वत्तिउ णधि सेसु ।

पुरिसु णउंसउ इत्थि णधि, जाणित मुणइ अमेसु ॥ ८८ ॥

१) आत्मा ब्राह्मणः वैश्यः नापि नापि क्षत्रियः नापि शेषः ।

पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि ज्ञानी मनुते अशेषं ॥ ८८ ॥

अप्या वंभणु चइसु णधि णधि स्वत्तिउ णधि मेसु पुरिसु णउंसउ इत्थि णधि आत्मा ब्राह्मणो न भवति वैश्यापि नैव नापि क्षत्रियो नापि शेषः शूद्रादिः पुरुषनपुंसक-स्त्रीलिंगरूपोपि नैव । तर्हि किंचिद्विशिष्टः । जाणित मुणइ अमेसु ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञानी मन । किं करोति । मनुते जानाति । कं । अशेषं वस्तुज्ञानं वस्तुममृतमिति । तथा । यानेव ब्राह्मणादिवर्णभेदान् पुष्टिगादिद्विगभेदान् व्यवहारेण परमात्मपदार्था-दभिन्नान् शुद्धनिभयेन मिथ्या साक्षात्पेयभूतान् धीतरागनिर्विकल्पगताधिप्युतो कतिरागा

इत्येते वाद पूर्वकथित रीतिसे सम्यग्दृष्टि होकर सिध्यात्वकी भावनासे विपरीत जमी भेदवि-  
ज्ञानकी भावनाको करता है वैसी भेदविज्ञानभावनाका स्वरूप क्रमसे सातदोहायुगीने बदलते  
हैं;—[ आत्मा ] आत्मा [ गौरः कृष्णः नापि ] सफेद नदी है काला नदी है  
[ आत्मा ] आत्मा [ रक्तः ] लाल [ न भवति ] नदी है [ आत्मा ] आत्मा [ पुरुषः  
अपि स्थूलः नैव ] सूक्ष्म भी नहीं है धोर स्थूल भी नहीं है [ ज्ञानी ] ज्ञानस्वरूप है  
[ ज्ञानेन ] ज्ञानदृष्टिसे [ पश्यति ] देखा जाता है अथवा ज्ञानी पुरुष योगी ही स्वप्न  
आत्माको जानता है । भावार्थ—ये स्वेन वाजे आदि धर्म व्यवहारनयकर शरीरके  
संबंधसे जीवके बंधे जाते हैं सीमी शुद्धनिभयनयकर शुद्धात्मसे जुड़े हैं कर्मजनित  
हैं त्यागने योग्य हैं । जो धीतरागद्वेषभेदन ज्ञानी है वह निजशुद्धात्मतत्त्वे इन धर्मको  
नहीं समझता अर्थात् इनको अपने नही समझता है ॥ ८७ ॥

आगे ब्राह्मणादिवर्ण आत्माके नहीं है ऐसा वर्णन करने है [ आत्मा ] आत्मा [ वैश्यः  
नापि ] ब्राह्मण नहीं है वैश्य भी नहीं है [ क्षत्रियः नापि ] क्षत्रिय नहीं है [ शेषः  
नापि ] शेष भी [ नापि ] नापि [ पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि ] पुरुष नपुंसक स्त्री  
भी नहीं है [ ज्ञानी ] ज्ञानस्वरूप शुद्धात्म, अशेष, साक्षात्पेयभूतान् धीतरागनिर्विकल्पगताधिप्युतो

स्वात्मनि योजयति नानेव तद्विपरिणामभावनात्तन्नाम्ना म्यशुद्धात्मस्वरूपं योत्सवती  
तात्पर्यार्थः ॥ ८८ ॥ अथ ।

अप्पा वंदउ म्वचणु णवि, अप्पा गुरउ ण होइ ।  
अप्पा लिंमिउ एकु णवि, णाणिउ जाणइ जोइ ॥ ८९ ॥

॥ आत्मा वंदकः क्षपणः नापि आत्मा गुरवः न भवति ।  
आत्मा लिंगी एकः नापि ज्ञानी जानाति योगी ॥ ८९ ॥

आत्मा वंदको बौद्धो न भवति आत्मा क्षपणको दिगंबरो न भवति आत्मा गुरव-  
व्दवाच्यः श्रेतांबरो न भवति । आत्मा एकदंडत्रिदंडद्विदंडमपरमहंससंज्ञाः संन्यासी  
शिखी मुंडी योगदंडाक्षमालातिलककुलकूपोपप्रभृतिवेषधारी नैकोपि कश्चिदपि लिंगी न  
भवति । तर्हि कथंभूतो भवति । ज्ञानी । तमात्मानं कोमौ जानाति योगी ध्यायति ।  
तथाहि—यद्यप्यात्मा व्यवहारेण वंदकादिलिंगी भण्यते तथापि शुद्धनिश्चयनयेनैकोपि लिंगी  
न भवतीति । अयमत्र भावार्थः । देहाश्रितं द्रव्यलिंगमुपचरितामद्भूतव्यवहारेण जीवस्वरूपं  
भण्यते वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपं भावलिंगं तु यद्यपि शुद्धात्मस्वरूपमाधकत्वादुपचरितं  
शुद्धजीवस्वरूपं भण्यते तथापि सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन न भण्यत इति ॥ ८९ ॥ अथ ।

जानता है । भावार्थ—जो ब्राह्मणादिवर्णभेद हैं और पुरुषलिंगादि तीन लिंग हैं वे बर्दा  
व्यवहारनयकर देहके संबंधसे जीवके कहे जाते हैं तौभी शुद्धनिश्चयनयकर आलाते  
भिन्न हैं और साक्षात् त्यागने योग्य हैं उनको वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसे रहित मिथ्या-  
दृष्टि जीव अपने जानता है और उन्हींको मिथ्यात्वसे रहित सम्यग्दृष्टि जीव अपने नहीं  
समझता । आपको तो ज्ञानस्वभावरूप जानता है ॥ ८८ ॥

आगे वंदक क्षपणकादि भेद भी जीवके नहीं हैं ऐसा कहते हैं;—[ आत्मा ] ज्ञानी  
[ वंदकः क्षपणः नापि ] बौद्धका आचार्य नहीं है दिगंबर भी नहीं है [ आत्मा ]  
आत्मा [ गुरवः न भवति ] श्रेताम्बर भी नहीं है [ आत्मा ] आत्मा [ एकः अपि ]  
कोई भी [ लिंगी ] वेशका धारी [ न ] नहीं है अर्थात् एक दंडी त्रिदंडी हंस परमहंस  
संन्यासी जटाधारी मुंहित रत्नाश्रकी माला तिलक कुलक घोप वगैरः भेषोंमें कोई भी  
भेषधारी नहीं है एक [ ज्ञानी ] ज्ञानस्वरूप हैं उस आत्माको [ योगी ] ध्यानी मुनी  
ध्यानारूढ होकर [ जानाति ] जानता है ध्यान करता है ॥ भावार्थ—यद्यपि व्यवहार-  
नयकर यह आत्मा वंदकादि अनेक भेषोंको धरता है तौभी शुद्धनिश्चय नयकर कोई भी  
भेष जीवके नहीं है देहके है । यदा देहके आश्रयमे जो द्रव्यलिंग है यह उपचरिताम-  
द्भूतव्यवहारनयकर जीवका स्वरूप कहा जाना है तौभी निश्चयनयकर जीवका स्वरूप नहीं

॥ अप्पा गुरुः णपि सिस्सु णपि, णपि मामिउ णपि भिणु ।  
सूउ कायरु होइ णपि, णपि उच्चासु णपि णिणु ॥ ९० ॥

॥ आत्मा गुरुः नैव शिष्यः नापि नैव स्वामी नैव शून्यः ।

शूरः कातरः भवति नैव नैव उत्तमः नैव नीचः ॥ ९० ॥

आत्मा गुरुर्नैव भवति शिष्योपि न भवति नैव स्वामी नैव शून्यः शूरो न भवति कातरो दीनमन्त्रो नैव भवति नैवोत्तमोत्तमशून्यप्रमृतः नैव नीचो नीचशून्यप्रमृत इति । तथाथा । गुरुशिष्यादिसंबंधान् यद्यपि व्यवहारेण जीवात्मरूपमयापि शुद्धनिश्चयं न परमात्म-द्रव्याद्विज्ञानं देयभूतान् पीतरागपरमानंदैकत्वशुद्धात्मोपलब्धेभ्युक्तो ब्रह्मिण्यत्मा स्वात्मसंबन्धान् करोति तानेव पीतरागनिर्विकल्पममाधिष्ठो अंगगत्वा परमात्मरूपान् ज्ञानार्थं च भावार्थः ॥ ९० ॥ अध ।

॥ अप्पा माणुसु देउ णपि, अप्पा तिरिउ ण होइ ।

अप्पा णारउ कर्हिणि णपि, णाणिउ जाणइं जाइ ॥ ९१ ॥

॥ आत्मा मनुष्यः देवः नापि आत्मा तिर्यक् न भवति ।

आत्मा नारकः कापि नैव ज्ञानी जानाति योगी ॥ ९१ ॥

अप्पा माणुसु देउ णपि अप्पा तिरिउ ण होइ अप्पा णारउ कर्हिणि णपि

है क्योंकि जब देह ही जीवकी नहीं तो भेष भंगे होसकता है इसलिये द्रव्यनिगमे सर्वथा ही नहीं है और पीतरागनिर्विकल्पममाधिरूप भावस्तिग यद्यपि शुद्धात्मरूपका साधक है इसलिये उपवासनयकर जीवका स्वरूप कहा जाता है सोभी परमदृशम शून्यनिश्चयनका भावस्तिग भी जीवका नहीं है । भावस्तिग साधनरूप है यह भी परम अवस्थाका साधक नहीं है ॥ ९१ ॥

आगे यह गुरु शिष्यादिक भी नहीं है;—[ आत्मा ] आत्मा [ गुरुः नैव ] गुरु नहीं है [ शिष्यः नापि ] शिष्य भी नहीं है [ स्वामी नैव ] स्वामी नहीं है [ शून्यः नैव ] शून्य नहीं है [ शूरः कातरः नैव ] शूरही नहीं है बन्दीन नहीं है [ उत्तमः नैव ] उत्तमही नहीं है [ नीचः नैव भवति ] नीच ही नहीं है । आदाय-ये सब गुरु शिष्य स्वामी शिष्यादि संबन्ध बन्धन व्यवहारसमये जीवके स्वरूप हैं तो ही गुरु निश्चयनयोगे शुद्ध आत्मसंज्ञे हैं आत्मसंज्ञे नहीं है स्वामो बोध है इस बोधके पीतरागपरमानंद निज शुद्धात्मकी धर्मिणे रहित ब्रह्मिण्यत्मा निश्चयार्थे और करने कर्म-ज्ञाना है और इन्ही बोधके पीतरागनिर्विकल्पममाधिष्ठो रहता हुआ परमात्म स्वरूपका जीव पररूप (दृशरे) जन्मा है ॥ ९० ॥



यदि पुण्यपापादिरूपः परमात्मा न भवति तर्हि कीदृशो भवतीति प्रश्ने प्रबुद्धम् ॥ ११ ॥

२. अप्पा संजमु सीलु तउ, अप्पा दंसणु णाणु ।

अप्पा सासयमोक्खपउ, जाणंनउ अप्पाणु ॥ १४ ॥

आत्मा संयमः शीलं तपः आत्मा दर्शनं ज्ञानं ।

आत्मा शाश्वतमोक्षपदं जानन् आत्मानं ॥ १४ ॥

अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु अप्पा सासय मोक्खपउ आत्मा संयमो भवति शीलं भवति तपश्चरणं भवति आत्मा दर्शनं भवति ज्ञानं भवति शाश्वतमोक्षपदं च भवति । अथवा पाठांतरं “सामयमुक्खपउ” शाश्वतमोक्षस्य पंथा मार्गः अथवा “मानवमुक्खपउ” शाश्वतसौख्यपदं स्वरूपं च भवति । किं कुर्वन् मन् । जाणंतउ अप्पाणु जानन्तु भवन् । कं । आत्मानमिति । तद्यथा । वहिरंगेन्द्रियसंयमप्राप्तिसंयमवलेन साधनानुसंधानेन निश्चयेन स्वशुद्धात्मनि संयमनान् स्वविकरणान् संयमो भवति वहिरंगमहकारिकारणभूतेन कामक्रोधविवर्जनलक्षणैः प्रतपरिरक्षणशीलेन निश्चयेनाभ्यंतरे स्वशुद्धात्मद्रव्यनिर्मलानुभवनेन शीलं भवति । वहिरंगेन सहकारिकारणभूतानुसंधानादिद्वन्द्वविधनपश्चरते निश्चयनयेनाभ्यंतरे समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन परमात्मस्वभावे प्रवपनाद्विजयनात्तपश्चरते

पुण्यपापादि समस्त संकल्पविकल्परहित निजशुद्धात्मद्रव्यमे सम्यक् यद्दान इव चारित्ररूप अभेदरत्नत्रयस्वरूप परम समाधिमे तिष्ठता सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धात्माने जुडे जानता है ॥ १३ ॥

ऐसे वहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मारूप तीनप्रकारके आत्माका जिसमे कथन है ऐसे पहले अधिकारमे मिय्यादृष्टिकी भावनासे रहित जो सम्यग्दृष्टिकी भावना उसकी मुख्यतासे आठ दोहासूत्र कहे । आगे भेदविज्ञानकी मुख्यतासे “अप्पा संजमु” इत्यादि इह तीम दोहापर्यंत श्लोकमूत्रोको छोड़कर पहला अधिकार पूर्ण करते हुए व्याख्यान करते हैं उसमें भी जो निष्पत्ते प्रश्न किया कि यदि पुण्यपापादिरूप आत्मा नहीं है तो कैसा है ऐसे प्रश्नका श्रीगुरु समाधान करते हैं;—[ आत्मा ] निजपुण्यपर्यायका धारक ज्ञानस्वरूप चिदानंद ही [ संयम ] संयम है [ शीलः तपः ] शील है तप है [ आत्मा ] आत्मा [ दर्शनं ज्ञानं ] दर्शन ज्ञान है और [ आत्मानं जानन् ] अपनेको जानना अनुभवता हुआ [ आत्मा ] आत्मा [ शाश्वतमोक्षपदं ] अविनाशी सुखदा स्थाव मोक्ष मार्ग है । इसी कथनको विशेषताकर कहते हैं । भावार्थ—पाच इन्द्रिया और मनका रोकना व छह कायके जीवोकी दया स्वरूप ऐसे इन्द्रिय मयम तथा प्राणमयम इन दोनोंके बलसे साध्यमाधक भावकर निश्चयमे अपने शुद्धात्मस्वरूपमे निर होनेमे आत्माको जानना जानता है । वहिरंगेन्द्रियसंयमप्राप्तिसंयमवलेन साधनानुसंधानेन निश्चयेन स्वशुद्धात्मनि संयमनान् स्वविकरणान् संयमो भवति वहिरंगमहकारिकारणभूतेन कामक्रोधविवर्जनलक्षणैः प्रतपरिरक्षणशीलेन निश्चयेनाभ्यंतरे स्वशुद्धात्मद्रव्यनिर्मलानुभवनेन शीलं भवति । वहिरंगेन सहकारिकारणभूतानुसंधानादिद्वन्द्वविधनपश्चरते निश्चयनयेनाभ्यंतरे समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन परमात्मस्वभावे प्रवपनाद्विजयनात्तपश्चरते

भवति । स्वशुद्धात्मवोपादेय इति रुचिकरणाभिध्वयसम्यक्त्वं भवति । रीतरागम्यमंवेदन-  
शान्तानुभवनाग्निभयज्ञानं भवति । मिथ्यान्वरागादिममत्वविकल्पजात्यागमैः परमात्मनन्दे,  
परमममरसीभावपरिणमनाद्य मोक्षमार्गो भवतीति । अत्र बहिर्गद्द्रव्येन्द्रियमयमादिप्रतिरा-  
दनादभ्यन्तरे शुद्धात्मानुभूतिरूपभावसंयमादिपरिणमनादुपादेयसुखसाधक-प्रदानमैवोपादेय  
इति तात्पर्यार्थः ॥ ९४ ॥

अथ स्वशुद्धात्ममंचितं विहाय निध्वयनयेनान्यदर्शनज्ञानयात्रिंशं नामान्यभिप्रायं मनसि  
संप्रदायं सूत्रं कथयति,—

२८। अणु जि दंसणु अतिथ णचि, अणुजि अतिथ ण णाणु ।

अणु जि चरणु ण अतिथ जिघ, मिद्धिदि अप्पा जाणु ॥ ९५ ॥

अण्यन् एव दर्शनं अस्ति नापि अन्यदपि अस्ति न ज्ञानं ।

अण्यन् एव चरणं न अस्ति जीव मुक्त्वा आत्मानं जानीहि ॥ ९५ ॥

अणु जि दंसणु अतिथ णचि अणुजि अतिथ ण णाणु अणु जि चरणु ण अतिथ  
जिघ अण्यदेव दर्शनं नाम्नि अन्यदेव ज्ञानं नाम्नि अन्यदेव चरणं नाम्नि न जीव । मि-  
द्ध्या । मिद्धिदि अप्पा जाणु मुक्त्वा न्यक्त्वा । कं । आत्मानं जानीहि । तथापि ।  
यद्यपि यहद्रव्यपंचान्निष्कायगततत्त्वव्यवस्थायाः साध्यसाधकभावेन निध्वयनस्य चरित्रं शु-  
द्धा-

त्यागरूप प्रतकी रक्षा यह व्यवहारशील है और निध्वयकर अंतरंगमें अपने शुद्धात्मद्रव्यका  
निर्मल अनुभव यह शील कहा जाता है सो शीलरूप आत्मा ही चरा गया है, बाह्य  
सहकारी कारणभूत जो अनशनादि बाह्य प्रकारका तप है उससे तथा निध्वयकर अन्त-  
रंगमें सब परद्रव्यकी इच्छाके रोकनेसे परमात्मस्वभाव ( निजस्वभाव ) में प्रतापरूप यह  
रहा है इसकारण और समस्तविभावपरिणामोके जीतनेसे आत्मा ही 'तपश्चरणा' है और  
आत्मा ही निजस्वरूपकी रुचिरूप तपस्वरूप है यह सर्वथा उपादेयरूप है इससे तपस्वरूप  
भी आत्मा ही है अन्य कोई नहीं है, धीतरागम्यसंवेदन ज्ञानके अनुभवसे आत्मा ही नि-  
ध्वयज्ञानरूप है और मिथ्यान्वरागादिममत्वविकल्पप्रकारके त्यागकर परमात्मस्वरूपके परम-  
समरसीभावके परिणमनसे आत्मा ही मोक्षमार्ग है । तात्पर्य यह है कि बहिर्गद्द्रव्येन्द्रिय-  
संयमादिके पालनेसे अंतरंगमें शुद्धात्माके अनुभवरूप भावसंयमादिके परिणमनसे उपा-  
देयभूत जो अतीन्द्रियभूत उसके साधकपनेसे आत्मा ही उपादेय है ॥ ९५ ॥

आगे निजशुद्धात्मस्वरूपको लोडकर निध्वयनयम द्वारा कोई दर्शन न-क-र-  
नहीं है इस अभिप्रायको जनक रूपका साधकभूत कहने है;—[ हे जीव  
[ आत्मानं ] आत्माको [ मुक्त्वा ] लोडकर [ अन्यदपि ] दूसरा क-  
दर्शन [ न एव ] नहीं है [ अन्यदपि ] अन्य कोई [ ज्ञानं न अस्ति ]



कृत्वा । अप्पा विमलु मुएवि मुक्त्वा त्यक्त्वा । कं । आत्मानं । कथंभूतं । विमलं रागा-  
दिरहितमिति । तथाहि । यद्यपि व्यवहारनयेन निर्वाणम्यानचैत्यचैत्यालयादिकं तीर्थभूतपुरुष-  
गुणस्मरणार्थं तीर्थं भवति तथापि वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चिद्रूपोत्तेन संसारमुद्गत-  
रणममर्थत्वाभिन्नश्रयनयेन स्यात्मतत्त्वमेव तीर्थं भवति तदुपदेशात्पारंपर्येण परमात्मतत्त्वला-  
भो भवतीति । व्यवहारेण शिशादीक्षादायको यद्यपि गुरुर्भवति तथापि निश्चयनयेन पंचे-  
द्रियविषयप्रभृतिसमस्तविभावपरिणामपरिन्यागकाले संसारविच्छित्तिकारणत्वान् स्वशुद्धान्मेव  
गुरुः । यद्यपि प्राथमिकापेक्षया स्वविकल्पापेक्षया चित्तस्थितिकरणार्थं तीर्थकरपुण्यहेतुभूतं  
साध्यसाधकभावेन परंपरया निर्वाणकारणं च जिनप्रतिमादिकं व्यवहारेण देवो भण्यते  
तथापि निश्चयनयेन परमाराध्यत्वाद्गीतरागनिर्विकल्पत्रिगुणपरमममाधिकाले स्वशुद्धान्मव-  
भाव एव देव इति । एवं निश्चयव्यवहाराभ्यां साध्यसाधकभावेन तीर्थगुरुदेवतास्वरूपं  
ज्ञानव्यमिति भावार्थः ॥ ९६ ॥

दूसरे [ तीर्थ ] तीर्थको [ मा गच्छ ] मत जावै [ अन्यत् एव ] दूसरे [ गुरुं ] गुरुको  
[ मा मेवस्व ] मत सेवै [ अन्यत् एव ] अन्य [ देवं ] देवको [ मा चित्तय ] मत ध्यावै  
[ आत्मानं विमलं ] रागादिमलरहित आत्माको [ मुक्त्वा ] छोड़कर अर्थात् अपना  
आत्मा ही तीर्थ है वहां रमण कर, आत्मा ही गुरु है उसकी सेवा कर, और आत्मा ही  
देव है उसीकी आराधना कर । अपने सिवाय दूसरेका सेवन मत करै । इसी कथनको  
विस्तारसे कहते हैं । भावार्थ—यद्यपि व्यवहार नयसे मोक्षके स्यानक सम्भेदशिखर आदि  
च जिनप्रतिमा जिनमंदिर आदि तीर्थ हैं क्योंकि वहां गये महान पुरुषोंके गुणोंकी याद  
होती है तौभी वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप छेदरहित जिहाजकर संसाररूपी समुद्रके  
तरनेको समर्थ जो निज आत्मतत्त्व है वही निश्चयकर तीर्थ है उसके उपदेश परंपरासे  
परमात्मतत्त्वका लय होता है । यद्यपि व्यवहार नयकर दीक्षाशिक्षाका देनेवाला दिगंबर  
गुरु होना है तौभी निश्चयनयकर विषय कषाय आदिक समस्त विभावपरिणामोंके त्याग-  
नेके समय निजशुद्धात्मा ही गुरु है उसीसे संसारकी निवृत्ति होती है । यद्यपि प्रथम  
अवस्थामें चित्तकी स्थिरताकेलिये व्यवहारनयकर जिनप्रतिमादिक देव बदे जाते हैं और  
वे परंपरासे निर्वाणके कारण हैं तौभी निश्चयनयकर परम आराधने योग्य वीतरागनिर्वि-  
कल्प परमसमाधिके समय निज शुद्धात्मभाव ही देव है अन्य नहीं । इसप्रकार निश्चय  
व्यवहारनयकर साध्यसाधक भावसे तीर्थ गुरु देवका स्वरूप जानना चाहिये । निश्चयदेव  
निश्चयगुरु निश्चयतीर्थ निज आत्मा ही है वही माधने योग्य है और व्यवहार देव  
जिनेंद्र तथा उनकी प्रतिमा, व्यवहार गुरु महामुनिराज, व्यवहार तीर्थ निद्र क्षेत्रादिक ये  
सब निश्चयके साधक हैं इसलिये प्रथम अवस्थामें आराधने योग्य हैं । तदा निश्चयनयकर



अथ निर्मलमात्मानं ध्याय त्वं येन श्वातेनांतर्मुहूर्तेनैव मोक्षपदं लभ्यत इति निरूपयति;—

अप्या हायति निम्नलउ, किं बहुए अपणेण ।

जो हायंतह परमपउ, एउमह एउएणेण ॥ ९८ ॥

आत्मानं ध्यायन् निर्मलं किं बहुना अन्येन ।

यं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते एकक्षणेन ॥ ९८ ॥

अप्या हायति निम्नलउ आत्मानं ध्यायन् । कथंभूतं । निर्मलं किं बहुए अपणेण किं बहुनान्येन शुद्धात्मवर्तिभूतेन रागादिविकल्पजालमालाप्रपंचेन जो हायंतह परमपउ एउमह यं परमात्मानं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते । येन करणभूतेन । एउएणेण एकक्षणेनांतर्मुहूर्तेनापि । तथाहि । रामशुभाशुभसंस्कारविकल्परहितेन स्वशुद्धात्मतत्त्व-ध्यानेनांतर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेन तदेष निरंतरं ध्यातव्यमिति । तथा चोक्तं बृहदारण्यकब्राह्मणे । पोटनार्थेवराणां एकक्षणे तीर्थकरोत्पत्तिवासरे प्रथमे धामप्यधो-मिद्धिः अंतर्मुहूर्तेन निर्वृतः । अत्राह शिष्यः । यस्तंमुहूर्तपरमात्मध्यानेन मोक्षो भवति तर्हि इदानीमस्माकं तद्गानं पुर्वोक्तानां किं न भवति । परिहारमाह । यादृशं तेषां प्रथमसंहन-

पेसा है कि आत्माका निश्चय यह सम्यग्दर्शन है आत्माका जानना वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मामें निश्चल होना यह सम्यक् चारित्र है यह निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मोक्षके कारण हैं इनसे बंध कैसे हो सकता है कभी नहीं हो सकता ॥ ९७ ॥

आगे ऐसा पढ़ते हैं कि जो निर्मल आत्माको ही ध्यावै जिसके ध्यान करनेसे अंत-र्मुहूर्तमें ( सत्काल ) मोक्षपदकी प्राप्ति हो;—हे योगी तू [ निर्मल आत्मानं ] निर्मल आत्माका ही [ ध्यायन् ] ध्यान कर [ अन्येन बहुना किं ] और बहुत पदार्थोंसे क्या । देना काल पदार्थ आत्मासे भिन्न हैं उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है रागादिविकल्पजालके समुहोंके प्रपंचसे क्या फायदा एक निज स्वरूपको ध्यावो [ यं ] जिस परमात्माके [ ध्यायमानानां ] ध्यानकरनेवालोंको [ एकक्षणेन ] क्षणमात्रमें [ परमपदं ] मोक्षपद [ लभ्यते ] मिलता है । भावार्थ—सब शुभाशुभ संस्कार विकल्परहित निजशुद्ध आत्म-स्वरूपके ध्यान करनेसे शीघ्र ही मोक्ष मिलती है इस लिये वही हमेशा ध्यान करने योग्य है । ऐसा ही बृहदारण्यक शास्त्रमें कहा है । सोलह तीर्थकरोको एक ही समय तीर्थकरोके उत्पत्तिके दिन पहले चारित्र ज्ञानकी सिद्धि हुई फिर अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष होगई । यद्वापर शिष्य प्रश्न करता है कि यदि परमात्माके ध्यानसे अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष होती है तो इस समय ध्यानकरनेवाले हमलोगोंको क्यों नहीं होती । उसका समाधान इस तरह है कि जैसा निर्विकल्पशुद्धध्यान वज्रवृषभनाराच संहनना वालोंके चौथेकालमें होता है

नसहितानां शुद्धध्यानं भवति तादृशमिदानीं नास्तीति । तथा चोक्तं । “अत्रेदानीं निषेधंति शुद्धध्यानं जिनोत्तमाः । धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तनं” । अत्र येन कारणेन परमात्मध्यानेनांतर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेन संसारस्थितिच्छेदनार्थमिदानीं-मपि तदेव ध्यातव्यमिति भावार्थः ॥ ९८ ॥

अथ यस्य वीतरागमनसि शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराणतपश्चरणानि किं कुर्वतीति कथयति;—

अप्पा णियमणि णिम्मलउ, णियमं वसइ ण जासु ।

सत्थपुराणइं तवचरणु, सुक्खु जि करहिं कि तासु ॥ ९९ ॥

आत्मा निजमनसि निर्मलः नियमेन वसति न यस्य ।

शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं मोक्षं अपि कुर्वति किं तस्य ॥ ९९ ॥

अप्पा णियमणि णिम्मलउ णियमं वसइ ण जासु आत्मा निजमनसि निर्मलो नियमेन वसति निष्ठति न यस्य सत्थपुराणइं तवचरणु सुक्खु जि करहिं कि तासु शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं च मोक्षमपि किं कुर्वति तस्येति । तद्यथा । वीतरागनिर्विकल्प-समाधिरूपा यस्य शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराणतपश्चरणानि निरर्थकानि भवन्ति । तर्हि किं सर्वथा निष्फलानि । नैव । यदि वीतरागमनस्यसत्वरूपस्वशुद्धात्मोपादेयमारता-

वैमा अब नहीं होसकता । ऐसा ही दूसरे ग्रंथोंमें कहा है—“अत्रेत्यादि” इसका अर्थ यह है कि श्रीसर्वज्ञवीतरागदेव इस भरतक्षेत्रमें इस पंचमकालमें शुद्धध्यानका निषेध करने हैं इस समय धर्मध्यान हो सकता है शुद्धध्यान नहीं हो सकता । उपशमधेनी और शतकधेनी दोनों ही इस समय नहीं हैं सातवां गुणस्थानतक गुणस्थान है ऊपरके गुणस्थान नहीं हैं । इस जगह तात्पर्य यह है कि जिस कारण परमात्माके ध्यानसे अंतर्मुहूर्तेमें मोक्ष होती है इसलिये संसारकी स्थिति घटानेके वास्ते अब भी धर्मध्यानका आराधन करना चाहिये जिससे परंपगय मोक्ष भी मिलसकती है ॥ ९८ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि जिसके रागरहित मनमें शुद्धात्माकी भावना नहीं है उसके लक्ष्य पुण्यन तपश्चरण क्या करसकते हैं अर्थात् कुछभी नहीं कर सकते;—[यस्य] जिसके [निजमनसि] निज मनमें [निर्मलः प्राग्मा] निर्मल आत्मा [नियमेन] नियमसे [न वसति] नहीं रहता [तस्य] उस जीवके [शास्त्रपुराणानि] शास्त्र पुण्यन [तपश्चरणमपि] तपस्या भी [किं] क्या [मोक्षं] मोक्षको [कुर्वति] करसकते हैं कभी नहीं करसकते । भावार्थ— निजमनसि निर्मलसमाधिरूप शुद्धात्मभावना जिसके नहीं है उसके लक्ष्य पुण्यन तपश्चरण तब व्यर्थ है । यही शास्त्र प्रशंसा करता है कि क्या कि-

सहितानि भवन्ति तदा मोक्षस्यैव ग्रहिरंगसहकारिकारणानि भवन्ति तद्भावे पुण्यबंधकारणानि भवन्ति । निध्यात्वरागादिमहितानि पापबंधकारणानि च विद्यानुवादसंक्षितदशमपूर्वधुनं पठित्वा भर्गपुरुषादिवदिनि भावार्थः ॥ ९९ ॥

अथात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति दर्शयति;—

जोइय अप्पें जाणिएण, जगु जाणियउ ह्वेइ ।

अप्पहं केरइ भावइइ, विंविउ जेण वसेइ ॥ १०० ॥

योगिन् आत्मना ज्ञातेन जगत् ज्ञातं भवति ।

आत्मनः कृते भावे विंबितं येन वसति ॥ १०० ॥

जोइय अप्पें जाणिएण हे योगिन् आत्मना ज्ञातेन । किं भवति । जगु जाणियउ ह्वेइ जगन्निभुवनं ज्ञातं भवति । कम्मन् । अप्पहं केरइ भावइइ विंविउ जेण वसेइ आत्मनः संबंधिनि भावे केवलज्ञानपर्याये विंबितं प्रतिविंबितं येन कारणेन वसति निष्ठतीति । अयमर्थः । वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन परमात्मतत्त्वे ज्ञाते मनि समस्तद्वादशांगमस्वरूपं ज्ञातं भवति । कर्माशम्माद्रापवपांडवाद्यो महापुरुषा जिनदीक्षं गृहीत्वा द्वादशांगं पठित्वा द्वादशांगाध्ययनफलभूते निश्चयरत्नप्रयात्मके परमात्मध्याने निष्ठंति तेन कारणेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन निजात्मनि ज्ञाते मनि सर्वं ज्ञातं भवतीति । अथवा

कुल ही निरर्थक हैं । उसका समाधान ऐसा है कि विलकुल तो नहीं हैं लेकिन वीतराग सम्यक्स्वरूप निज शुद्धात्माकी भावना सहित हों तब तो मोक्षके ही बाध सहकारी कारण हैं यदि वे वीतरागसम्यक्त्वके अभावरूप हों तो पुण्यबंधके कारण हैं और जो निध्यात्वरागादि सहित हों तो पापबंधके कारण हैं जैसेकि रुद्र वगैरः विद्यानुवादानाया दशमं पूर्वतक शास्त्र पढ़कर भ्रष्ट ही जाते हैं ॥ ९९ ॥

आगे जिन भव्यजीवोंने आत्मा जानलिया उन्होंने सब जाना ऐसा दिखलाते हैं;—  
[ हे योगिन् ] हे योगी [ आत्मना ज्ञातेन ] एक अपने आत्माके जाननेमें [ जगत् ज्ञातं भवति ] यह तीन लोक जाना जाता है [ येन ] क्योंकि [ आत्मनः कृते भावे ] आत्माके भाव रूप केवलज्ञानमें [ विंबितं ] यह लोक प्रतिविंबित हुआ [ वसति ] वस रहा है । भावार्थ—वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानसे शुद्धात्मतत्त्वके जाननेपर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है । क्योंकि जैसे रामचंद्र पांडव भरत सगर आदि महान् पुरुष भी जिनराजकी दीक्षा लेकर फिर द्वादशांगकी पढ़कर द्वादशांग पढ़नेका फल निश्चयरत्नप्रय स्वरूप जो शुद्धपरमात्मा उसके ध्यानमें लीन हुए निष्ठे । इसलिये वीतरागस्वसंवेदन ज्ञानकर अपने आत्माका जानना ही सार है आत्माके जाननेमें सबका जानना



प्रभाकरभट्ट श्रीण्यपि परिहृत्य । पञ्चाङ्गि कुम् । नियमिं अप्ठु वियाणु निग्रवंनानं  
विजानीहीति । तथाया । मकलविगदैकज्ञानम्यरूपान्मन्मपदायां निग्रयननेन निग्रं  
श्रीण्यपि धर्मार्थकामान् त्यक्त्वा वीतरागममवेदनत्प्रणे शुद्धात्मानुभूतिज्ञाने मित्वात्मानं  
जानीहीति भावार्थः ॥ १०७ ॥

अप्पा णाणहं गम्मु पर, णाणु वियाणइ जेण ।

तिण्णिवि मिड्ढिवि जाणि तुह्णं, अप्पा णाणं तेण ॥ १०८ ॥

आत्मा ज्ञानस्य गम्यः परः ज्ञानं विजानाति येन ।

श्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं आत्मानं ज्ञानेन तेन ॥ १०८ ॥

अप्पा णाणहं गम्मु पर आत्मा ज्ञानस्य गम्यो विषयः परः । कौयो । नियमेन ।  
कस्मान् । णाणु वियाणइ जेण ज्ञानं कर्तुं विजानान्यात्मानं येन कारणेन अतः कारणान्  
तिण्णिवि मिड्ढिवि जाणि तुह्णं श्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट अप्पा णाणं  
तेण । कं जानीहि । आत्मानं । केन । ज्ञानेन तेन कारणेनेति । तथाहि । निजशुद्धात्मानं  
ज्ञानस्यैव गम्यः । कस्मादिति चेत् । मतिज्ञानादिपञ्चकविकल्परहितं यत्परमपदं परमात्म-  
व्याच्यं साक्षात्सोपकारणं तद्रूपो योसौ परमात्मा तमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पस्वमवेद-  
नज्ञानगुणेन विना दुर्धरानुष्ठानं कुर्वाणोपि बहवोपि न लभन्ते यतः कारणात् । तथा चोक्तं  
समयसारे । “ णाणगुणेहिं त्रिहीणा एदं तु पदं बहुवि ण लहंति । तं गिण्हं मुपदमदं उद  
इच्छसि दुक्खपरिमोक्खं ” । अत्र धर्मार्थकामादिसर्वपरद्रव्येच्छां योमौ मुंचति स्वशुद्धात्म-  
मुखाभूते तपो भवति स एव निःपरिग्रहो भण्यते स एवात्मानं जानातीति भावार्थः ।

[ ये अपि भिन्नाः ] जो जुदे भाव हैं [ तेषि ] वेमी [ ज्ञानं न भवंति ] ज्ञान नहीं है वे  
सब भाव ज्ञानसे रहित जडरूप हैं [ तान् ] उन [ त्रीणि अपि ] धर्म अर्थ कामरूप  
तीनों भावोंको [ परिहृत्य ] छोड़कर [ नियमेन ] निश्चयसे [ आत्मानं ] आत्माको  
[ त्वं ] तू [ विजानीहि ] जान । भावार्थ—हे प्रभाकरभट्ट मुनिरूप धर्म, अर्थरूप संसा-  
रके प्रयोजन, काम ( विषयाभिलाष ) ये तीनों ही आत्मासे भिन्न हैं ज्ञानरूप नहीं है ।  
निश्चयनयकरके सब तरफसे निर्मल केवल ज्ञानस्वरूप परमात्मपदार्थसे भिन्न तीनों ही धर्म  
अर्थ काम पुरुषार्थोंको छोड़कर वीतराग स्वमवेदनस्वरूप शुद्धात्मानुभवरूपज्ञानमें रहकर  
आत्माको जान ॥ १०७ ॥

आगे आत्माका स्वरूप दिखलाते हैं;—[ आत्मा ] आत्मा [ परः ] नियमसे [ ज्ञानस्य ]  
ज्ञानके [ गम्यः ] गोचर है [ येन ] क्योंकि [ ज्ञानं ] ज्ञान ही [ विजानाति ] आत्माको  
जानता है [ तेन ] इसलिये [ न्वं ] हे प्रभाकरभट्ट तू [ त्रीणि अपि मुक्त्वा ] धर्म अर्थ  
काम इन तीनोंही भावोंको छोड़कर [ ज्ञानेन ] ज्ञानमें [ आत्मानं ] निजआत्माको

एतं च । “अपरिग्रहो अगिन्दो भणिभो णाणी दु णिच्छदे धम्मं । अपरिग्रहो दु  
धम्मरस जाणगो तेण सो होदि” ॥ १०८ ॥

अथ;—

णाणिय णाणिउ णाणिण णाणिउं जा ण मुणेहि ।  
ता अण्णारिणं णाणमउं, किं पर चंभु लहेहि ॥ १०९ ॥

शानिन् शानी शानिना शानिनं यावत् न जान्ति ।

तावत् अज्ञानेन ज्ञानमयं किं परं ब्रह्म लभसे ॥ १०९ ॥

णाणिय हे शानिन् णाणिउ शानी निजाला णाणिण शानिना निजालना करण-  
भूतेन । कथंभूतो निजाला । णाणिउ शानी ज्ञानलक्षणः तमित्यंभूतमात्मानं जा ण  
मुणेहि यावत्कालं न जानामि ता अण्णारिणं णाणमउं तावत्कालमज्ञानेन मिथ्यात्वरा-

[ जान्तिहेहि ] ज्ञान । भावार्थ—निजशुद्धात्मा ज्ञानके ही मोचर ( जानने योग्य ) है  
क्योंकि मतिज्ञानादि पांच भेदोंरहित जो परमात्मशब्दका अर्थ परमपद है वही साक्षात्  
मोक्षका कारण है उस स्वरूप परमात्माको वीतराग निर्बिकल्प स्वसंवेदन ज्ञानके बिना  
दुर्धर तपके करनेवाले भी बहुतसे प्राणी नहीं पाते । इसलिये ज्ञानसे ही अपना स्वरूप  
अनुभव कर । ऐसा ही कथन श्रीकुंदकुंदाचार्यने समयसारजीमें किया है “णाणमुणेहि”  
इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि सम्यग्ज्ञान नामा निज गुणसे रहित पुरुष इस ब्रह्मपदको  
पहुत कष्ट करके भी नहीं पाते अर्थात् जो महान दुर्धर तप करौ तौभी नहीं मिलता ।  
इसलिये जो तू दुःखसे छूटना चाहता है सिद्धपदकी इच्छा रखता है तो आत्मज्ञानकर  
निजपदको प्राप्त कर । यहां सारांश यह है कि जो धर्म अर्थ कामादि सब परद्रव्यकी  
इच्छाको छोड़ता है वही निज शुद्धात्मस्वरूप अमृतमें वृत्त हुआ सिद्धांतमें परिमहरहित  
कहा जाता है और निर्मम कहा जाता है और वही अपने आत्माको जानता है । ऐसा  
ही समयसारजीमें कहा है “अपरिग्रहो” इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जिन-  
सिद्धांतमें परिमहरहित और इच्छारहित शानी कहा गया है जो धर्मको भी नहीं चाहता  
है अर्थात् जिसके व्यवहारधर्मकी भी कामना नहीं है उसके अर्थ तथा कामकी इच्छा  
कहांसे होवे । वह आत्मज्ञानी सब अमिलापाओंसे रहित है जिसके धर्मका भी परिमह नहीं  
है तो अन्य परिमह कहांसे हो इसलिये वह शानी परिमही नहीं है केवल निजस्वरूपका  
जाननेवाला ही होता है ॥ १०८ ॥

आगे ज्ञानसे ही परब्रह्मकी प्राप्ति होती है ऐसा कहते हैं;—[ हे शानिन् ] हे शानी  
[ शानी ] ज्ञानवान् अपना आत्मा [ शानिना ] सम्यग्ज्ञानकरके [ शानिनं ] ज्ञानवशण-

गादिविकल्पजालेन ज्ञानमयं । किं परं वंशु लहेहि किं परमुच्छृष्टं ब्रह्मस्यभावं लभमे किं तु नैवेति । तद्यथा । यावत्कालमात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन आत्मने निमित्तं आत्मनः सकाशान् आत्मनि स्थितं समन्तरागादिविकल्पजातं मुक्त्वा न जानासि तावत्कालं परमब्रह्मशब्दवाच्यं निर्दोषिपरमात्मानं किं लभमे नैवेति भावार्थः ॥ १०९ ॥

अथानंतरं सूत्रचतुष्टयेनांतरस्थले परलोकशब्दव्युत्पत्त्या परलोकशब्दवाच्यं परमात्मानं कथयति;—

जोइज्जइ तिं वंशु परु, जाणिज्जइ तिं सोइ ।

वंशु मुणेविणु जेण लहु, गम्मिज्जइ परलोइ ॥ ११० ॥

दृश्यते तेन ब्रह्म परः ज्ञायते तेन स एव ।

ब्रह्म मत्वा येन लघु गम्यते परलोके ॥ ११० ॥

जोइज्जइ दृश्यते तिं तेन पुरुषेण तेन कारणेन वा । कोसौ दृश्यते । वंशु परु ब्रह्म-शब्दवाच्यः शुद्धात्मा । कथंभूतः । परः उत्कृष्टः । अथवा पर इति पाठे नियमेन । न केवलं दृश्यते जाणिज्जइ ज्ञायते तेन पुरुषेण तेन कारणेन वा सोइ स एव शुद्धात्मा । केन कारणेन । वंशु मुणेविणु जेण लहु येन पुरुषेण येन कारणेन वा ब्रह्मशब्दवाच्यनि-र्दोषिपरमात्मानं मत्वा ज्ञात्वा पश्चान् गम्मिज्जइ परलोइ तेनैव पूर्वोक्तेन ब्रह्मस्वरूपे परिहा-

वाले आत्माको [ यावत् ] जबतक [ न ] नहीं [ जानासि ] जानता [ तावत् ] तब-तक [ अज्ञानेन ] अज्ञानी होनेसे [ ज्ञानमयं ] ज्ञानमय [ परं ब्रह्म ] अपने स्वरूपको [ किं लभसे ] क्या पासकता है कभी नहीं पासकता । जो कोई आत्माको पाता है तो ज्ञानसे ही पासकता है । भावार्थ—जबतक यह जीव अपनेको आपकर अपनी प्रायिके लिये आपसे अपनेमें तिष्ठता नहीं जान ले तबतक निर्दोष शुद्ध परमात्मा सिद्ध परमेष्टीको क्या पासकता है कभी नहीं पासकता । जो आत्माको जानता है वही परमात्माको जानता है ॥ १०९ ॥

इसप्रकार प्रथम महासलमें चार दोहाओंकर अंतरस्थलमें ज्ञानका व्याख्यान किया । आगे चार सूत्रोंकर अंतरस्थलमें परलोक शब्दकी व्युत्पत्तिकर परलोक शब्दमें परमात्माको ही कहते हैं;—[ तेन ] उस कारणसे उसी पुरुषसे [ परः ब्रह्म ] शुद्धात्मा नियमसे [ दृश्यते ] देखा जाता है [ तेन ] उसी पुरुषमें निश्चयसे [ स एव ] वही शुद्धात्मा [ ज्ञायते ] जाना जाता है [ येन ] जो पुरुष जिसकारण [ ब्रह्म मत्वा ] अपना स्वरूप जानकर [ परलोके लघु गम्यते ] परमात्मतत्त्वमें शीघ्र ही प्राप्त होता है । भावार्थ—जो

नपुरुषेण तेनैव धारणेन वा गम्यते । क । परलोके परलोकप्रवृत्त्याद्ये परमात्मतत्त्वे ।  
 तिं च । योमौ शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण केवलज्ञानदर्शनस्वभावः परमात्मा स सर्वेषां  
 मूर्धभेदेन्द्रियादिजीवानां शरीरे पृथक् पृथक् रूपेण तिष्ठति न एव परमब्रह्मा स एव परम-  
 विष्णुः न एव परमशिवः इति, व्यक्तिरूपेण पुनर्भगवानर्हन्नेव मुक्तिगतसिद्धात्मा व  
 परमब्रह्मा विष्णुः शिवो वा भण्यते । तेन नान्यः कोपि परिकल्पितः जगद्रापी तथैवै-  
 को परमब्रह्मा शिवो वासीति । अयमप्रार्थः । यत्रामौ मुक्तात्मा लोकात्मे तिष्ठति स एव  
 ब्रह्मलोकः न एव विष्णुलोकः स एव शिवलोको नान्यः कोपीति भावार्थः ॥ ११० ॥

अथ,—

मुनिवरविंदहं हरिहरहं, जो मणि णिवसइ देउ ।

परहं जि परतरु णाणमउ, सो बुचइ परलोज ॥ १११ ॥

मुनिवरवृंदानां हरिहराणां यः मनसि निवसति देवः ।

परस्मात् अपि परतरः ज्ञानमयः स उच्यते परलोकः ॥ १११ ॥

मुनिवरविंदहं हरिहरहं मुनिवरवृंदानां हरिहराणां च जो मणि णिवसइ देउ

कोई शुद्धात्मा अपना स्वरूप शुद्ध निश्चयनकर शक्तिरूपसे केवलज्ञान केवलदर्शन  
 स्वभाव है वही वास्तवमें ( असलमें ) परमेश्वर है । परमेश्वरमें और जीवमें जातिभेद नहीं  
 है जबतक कर्मोंसे बंधा हुआ है तबतक संसारमें भ्रमण करता है । सूक्ष्म वादर एकेन्द्रि-  
 यादि जीवोंके शरीरमें जुदा जुदा तिष्ठता है और जब कर्मोंसे रहित होजाता है तब सिद्ध  
 कहलाता है । संसारअवस्थामें शक्तिरूप परमात्मा है और सिद्ध अवस्थामें व्यक्तिरूप  
 है । यही आत्मा परब्रह्म परमविष्णु परमशिव शक्तिरूप है और प्रगटरूपसे भगवान् अर्हत  
 अथवा मुक्तिको प्राप्त हुए सिद्धात्मा ही परमब्रह्मा परमविष्णु परमशिव कहे जाते हैं ।  
 यह निश्चयसे जानो । ऐसा कहनेसे अन्य कोई भी कल्पना किया हुआ जगतमें व्यापक  
 परमब्रह्म परमविष्णु परमशिव नहीं है । साराश यह है कि जिसलोकके शिखरपर अनंत,  
 सिद्ध विराज रहे हैं वही लोकका शिखर परम धाम ब्रह्मलोक वही विष्णुलोक और  
 वही शिवलोक है अन्य कोईभी ब्रह्मलोक विष्णुलोक शिवलोक नहीं है । ये सब निर्वाण  
 क्षेत्रके नाम हैं और ब्रह्मा विष्णु शिव ये सब सिद्ध परमेष्ठीके नाम हैं । सो भगवान् तो  
 व्यक्तिरूप परमात्मा हैं तथा यह जीव शक्तिरूप परमात्मा है । इसमें सदेह नहीं है ।  
 जितने भगवान्के उतने सब शक्तिरूप इस जीवके नाम हैं । यह जीव ही शुद्धनयकर  
 भगवान् है ॥ ११० ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि भगवानका ही नाम परलोक है;—[ यः ] जो आत्मदेव  
 [ मुनिवरवृंदानां हरिहराणां ] मुनीश्वरोंके समूह के तथा इद्र वा वासुदेव, रद्रीके

रम्यमानः अनुभवन्निति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । आत्माभ्यंतरपरिप्रदग्हितः मयुद्धात्मवत्-  
भावनोत्पन्नवीतरागपरमानंदसहितो मुनिर्यत्सुखं लभते तद्देवेन्द्रादपि न लभत इति ।  
तथा चोक्तं । “दृश्यमाने जगत्स्मिन्महता मोहवद्दिना । विमुक्तविषयामंगाः सुखादे-  
तपोधनाः ॥ ११८ ॥

अप्पादंसणि जिणवरहं, जं सुहु होइ अणंतु ।

तं सुहु लहइ विराउ जिउ, जाणंतउ सिउ संतु ॥ ११९ ॥

आत्मदर्शने जिनवराणां यत् सुखं भवति अनंतं ।

तत् सुखं लभते विरागः जीवः जानन् शिवं गांतं ॥ ११९ ॥

अप्पा इत्यादि । अप्पादंसणि निजशुद्धात्मदर्शने जिणवरहं उच्चम्यावम्यायां जिनवराणां  
जं सुहु होइ अणंतु यत्सुखं भवत्यनंतं तं सुहु तत्पूर्वोक्तसुखं लहइ लभते । कोमां  
विराउ जिउ वीतरागभावनापरिणतो जीवः । किं कुर्वन् सन् । जाणंतउ जानन्ननुभवन्  
सन् । कं । सिउ शिवशब्दवाच्यं निजशुद्धात्मस्वभावं । कथंभूतं । संतु गांतं रागादि-  
विभावरहितमिति । अयमत्र भावार्थः । दीक्षाकाले शिवशब्दवाच्यस्वशुद्धात्मानुभवत्  
यत्सुखं भवति जिनवराणां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतो जीवस्तत्सुखं लभत इति ॥ ११९ ॥

रमता हुआ [ नैव ] नहीं [ लभते ] पाता ॥ भावार्थ—बाह्य और अंतरंग परिप्रद-  
रहित निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परमानंद उसकर सहित पर-  
मुनि जो सुख पाता है उस सुखको इंद्रादिक भी नहीं पाते । जगतमें सुखी साधु ही हैं  
अन्य कोई नहीं । यही कथन अन्यशास्त्रोंमें भी कहा है—“दृश्यमाने इत्यादि” इसका  
अर्थ ऐसा है कि महामोहरूपी अमिसे जलते हुए इस जगतमें देव मनुष्य तिर्यक नारक  
सब दुःखी हैं और जिनके तप ही धन है तथा सब विषयोंका मबंध जिन्होंने छोड़ दिया  
है ऐसे साधु मुनि ही इस जगतमें सुखी हैं ॥ ११८ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि वैरागी मुनि ही निज आत्माको जानते हुए निर्विकल्प  
सुखको पाते हैं;—[ आत्मदर्शने ] निजशुद्धात्माके दर्शनमें [ यन् अनंतं सुखं ] जो अनंत  
अद्वैत सुख [ जिनवराणां ] मुनि अवस्थामें जिनेश्वर देवोंके [ भवति ] होता है [ त-  
सुखं ] वह सुख [ विरागः जीवः ] वीतराग भावनाको परिणत हुआ मुनिराज [ जि-  
गांतं जानन् ] निज शुद्धात्मस्वभावको तथा रागादिरहित ज्ञान भावको जानता हुआ  
[ लभते ] पाता है । भावार्थ—दीक्षाके समय तीर्थकरदेव निज शुद्ध आत्माके  
अनुभवते हुए जो निर्विकल्प सुख पाते हैं वही मुनि रागादिरहित निर्विकल्प समाधिमें  
रत निश्च मुनि पाते हैं ॥ ११० ॥

अथ कामक्रोधादिपरितारेण शिवशब्दवाच्यः परमात्मा दृश्यत इत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयन्ति,—

जोह्य णियमणि णिम्मलए, पर दीसइ सिउ संतु ।

अंधरे णिम्मलि घणरहिण, भाणु जि जेम फुरंतु ॥ १२० ॥

योगिन् निजमनसि निर्मले परं दृश्यते शिवः शांतः ।

अंधरे निर्मले घनरहिने भानुः इव यथा स्फुरन् ॥ १२० ॥

जोह्य इत्यादि । जोह्य हे योगिन् णियमणि निजमनसि । कथंभूते । णिम्मलए निर्मले परं नियमेन दीसइ दृश्यते । कोमौ । कर्मतापन्नः सिउ शिवशब्दवाच्यो निजपरमात्मा । कथंभूतः । संतु शांतः रागादिरहितः । दृष्टान्तमाह । अंधरे आकाशे । कथंभूते । णिम्मलि निर्मले । पुनरपि कथंभूते । घणरहिण घनरहिते । क इव । भाणु जि भानुरिव यथा । किं कुर्वन् । फुरंतु स्फुरन् प्रकाशमान इति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यथा घनपटाटोपविघटने मति निर्मलाकाशे दिनकरः प्रकाशते तथा शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतानां कामक्रोधादिविकल्परूपघनानां विनाशे मति निर्मलचिन्ताशने केवलज्ञानाश्रयानंतगुणकरकलितः निजशुद्धात्मादित्यः प्रकाशं करोतीति ॥ १२० ॥

अथ यथा मलिने दर्पणे रूपं न दृश्यते तथा रागादिमलिनचिन्ते शुद्धात्मस्वरूपं न दृश्यत इति विरूपयन्ति,—

राणं रंणिण हिययटण, देउ ण दीसइ संतु ।

दप्पणि मइलइ विंधु जिम, एहउ जाणि णिभंतु ॥ १२१ ॥

रागेन रंजिते हृदये देवः न दृश्यते शांतः ।

दर्पणे मलिने विंधं यथा एतन् जानीहि निर्भांतं ॥ १२१ ॥

आगे काम क्रोधादिकके त्यागनेसे शिव शब्दसे कहा गया परमात्मा दीस जाता है ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर यह गाथागूत्र कहते हैं;—[ योगिन् ] हे योगी [ निर्मले निजमनसि ] निर्मल अपने मनमें [ शिवः शांतः ] निज परमात्मा रागादि रहित [ परं ] नियमसे [ दृश्यते ] दीसता है [ यथा ] जैसे [ घनरहिने निर्मले ] बादल रहित निर्मल [ अंधरे ] आकाशमें [ स्फुरन् ] भासमान ( प्रकाशमान ) [ भानुः इव ] सूर्यके समान । भावार्थ—जैसे मेघमालाके आडंबरसे सूर्य नहीं भासता और मेघके आडंबरके दूर होनेपर निर्मल आकाशमें सूर्य प्रगट दीखता है उसी तरह शुद्धआत्माकी अनुवृत्तिके छत्रु जो कामक्रोधादि विकल्परूप मेघ हैं उनके नाश होनेपर निर्मल मनरूपी आकाशमें केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप किरणोकर सहित निज शुद्धात्मारूपी सूर्य प्रकाश करता है ॥ १२० ॥

आगे जैसे भेले दर्पणमें रूप नहीं दीखता उसीतरह रागादिकर मलिन चिन्तों शुद्ध

तथाहि । पूर्वसूत्रकथितेन चित्ताकुलोत्पादकेन स्त्रीरूपावलोकनसेवनचिंतादिमनुत्पन्नेन रागादिकलोलमालाजालेन रहिते निजशुद्धात्मद्रव्यसम्बन्धश्रद्धानसहजसमुत्पन्नवीतरागपरमसुखसुधारसस्वरूपेण निर्मलनीरेण पूर्णे वीतरागस्वमंवेदनजनितमानमसरोवरे परमात्मा लीन-  
स्तिष्ठति । कथंभूतः । निर्मलगुणसादृश्येन हंस इव हंसपक्षि इव । कुत्र प्रसिद्धः ।  
सरोवरे । हंस इवेत्यभिप्रायो भगवतां श्रीयोगीन्द्रदेवानां ॥ १२३ ॥

उक्तंच;—

देउ ण देउलि णवि सिलइ, णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।

अस्सउ णिरंजणु णाणमउ, सिउ संठिउ समचित्ति ॥ १२४ ॥

देवः न देवकुले नैव शिलायां नैव लेपे नैव चित्रे ।

अक्षयः निरंजनः ज्ञानमयः शिवः संसितः समचित्ते ॥ १२४ ॥

देउ इत्यादि । देउ देवः परमाराध्यः ण नास्ति । कस्मिन् कस्मिन् नास्ति । देउले देवकुले देवतागृहे णवि सिलइ नैव शिलाप्रतिमायां णवि लिप्पइ नैव लेपप्रतिमायां णवि चित्ति नैव चित्रप्रतिमायां । तर्हि क तिष्ठति । निश्चयेन अस्सउ अक्षयः णिरंजणु कर्माजनरहितः । पुनरपि किं विशिष्टः । णाणमउ ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निरुत्तः सिउ शिवशब्दवाच्यो निजपरमात्मा । एवं गुणविशिष्टः परमात्मा देव इति । संठिउ संशितः

सो हे प्रभाकरभट्ट [ मम ] शुभे [ एवं ] ऐसा [ प्रतिभाति ] मान्म पडता हे । ऐसा षचन श्री योगीन्द्रदेवने प्रभाकरभट्टसे कहा । भावार्थ—पहले दोहेमें जो कहा था कि चित्तको भाकुलताके उपजानेवाले स्त्रीरूपका देवना सेवन चिंतादिकोंने उत्पन्न हुए रागादि-  
तरंगोंके समूह हैं उनकर रहित निज शुद्धात्म द्रव्यका सम्बन्ध श्रद्धान स्वाभाविकज्ञान उभये उत्पन्न वीतराग परमसुखरूप अमृतरस उस स्वरूप निर्मलनीरसे भरे हुए ज्ञानियोंके मानसरोवरमें परमात्मादेवरूपी हंस निरंतर रहता है । वह आत्मदेव निर्मलगुणोंकी उच्चक-  
ताकर हंस समान है । जैसे हंसोंका निवासस्थान मानसरोवर है वैसे ब्रह्मका निवासस्थान ज्ञानियोंका निर्मलचित्त है । ऐसा श्री योगीन्द्रदेवका अभिप्राय है ॥ १२३ ॥

आगे हमी बातको हट्ट करते हैं;— [ देवः ] आत्मदेव [ देवकुले ] देवालयमें ( मंदिरमें ) [ न ] नहीं है [ शिलायां नैव ] पाषाणकी प्रतिमामें भी नहीं है [ लेपे नैव ] लेपमें भी नहीं है [ चित्रे नैव ] चित्रामका मूर्तिमें भी नहीं है । लेप और चित्रमकी मूर्ति औरिक बन बनाने हे पहिलजन तो धानुपाषाणकी ही प्रतिमा बनो हे सो औरिक इष्टावस्थाके देवोंमें लेप चित्रामका भी नाम नागया । वह देव सिद्धे उत्पन्न होता रहता । वह देव [ अक्षयः ] अविनाशी है [ निरंजनः ] कर्माजनसे रहित है [ ज्ञानमयः ] सबके मानके परे है [ शिवः ] ऐसा निज परमात्मा [ समचित्ते ]

समचित्ति समभावे समभावपरिणतमनसि इति । तद्यथा । यद्यपि व्यवहारेण धर्मवर्तना-  
निमित्तं स्थापनारूपेण पूर्वोक्तगुणलक्षणो देवो देवगृहादी तिष्ठति तथापि निश्चयेन शत्रुमित्र-  
सुखदुःखजीवितमरणदिग्गमत्कारूपे वीतरागसहजानन्दैकरूपपरमात्मतत्त्वसम्यक्भ्रद्धानज्ञाना-  
नुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकसमचित्ते समशब्दवाच्यः परमात्मा तिष्ठतीति भावार्थः ॥  
तथा चोक्तं समचित्तपरिणतभ्रमणलक्षणं । “समसत्तुयं धुवग्नो समसुहदुक्खो पसंसणि-  
इसमो । समलोद्दु कंचणोपि थ जीवियमरणे समो समणो ॥ १२४ ॥ इत्येकत्रिंशत्सूत्रै-  
श्रुलिकाश्रयं गतं ।

अथ श्रुतगन्त्यायाहं प्रक्षेपकद्वयं कथ्यते;—

मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरुवि मणस्स ।

धीहिवि समरसि ह्वाहं, पुञ्ज चडाचउं कस्स ॥ १२५ ॥

मनः मिलितं, परमेश्वरस्य परमेश्वरः अपि मनसः ।

द्वयोरपि समरसयोः गूतयोः पूजां समारोपयामि कस्य ॥ १२५ ॥

मणु इत्यादि । मणु मनो विकल्परूपं मिलियउ मिलितं तन्मयं जानं । कस्य  
मयंधित्वेन । परमेसरहं परमेश्वरस्य परमेसरुवि मणस्स परमेश्वरोपि मनःसंबंधित्वेन लीनो

संस्थितः ] समभावमें तिष्ठता है अर्थात् समभावको परिणत हुए साधुओंके मनमें  
विराज रहा है अन्य जगह नहीं है । भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयकर धर्मकी प्रवृत्तिके-  
लिये स्थापनारूप अरहंतदेव देवालयमें तिष्ठता है धातुपापाणकी प्रतिमाको देव कहते  
हैं तौभी निश्चयनयकर शत्रुमित्र सुखदुःख जीवितमरण जिसमें समान है तथा वीतराग  
सहजानंदरूप परमात्मतत्त्वका सम्यक् भ्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमें लीन ऐसे  
ज्ञानियोंके सम चित्तमें परमात्मा तिष्ठता है । ऐसाही अन्यजगह भी समचित्तको परिणत  
हुए मुनियोंका लक्षण कहा है । “समसत्तु” इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जिसके सुख  
दुख समान है, शत्रुमित्र वर्ग समान हैं, प्रशंसा निंदा समान हैं, पत्थर और सोना समान  
है, और जीवन मरण जिसके समान हैं ऐसा समभावका धारण करनेवाला मुनि  
होता है । अर्थात् ऐसे समभावके धारक शांतचित्त योगीधरोंके चित्तमें चिदानंद देव  
तिष्ठता है ॥ १२४ ॥

इस प्रकार इकतीस दोहामुत्रोंकर चुलिका श्रुत कहा । चुलिका नाम अंतका है सो  
पहले श्रुतका अंत यहांतक हुआ । आगे श्रुतकी सख्यासे सिवाय दो प्रक्षेपक दोहा  
कहते हैं;—[ मनः ] विकल्परूप मन [ परमेश्वरस्य मिलितं ] भगवान् आत्मारामसे  
मिलगया तन्मई होगया [ परमेश्वरः अपि ] और परमेश्वर भी [ मनसः ] मनसे



जनः कीदृशिवि समरसि ह्वाहं एवं द्वयोरपि समरमीभूतयोः पुञ्ज पूजां चकारं  
 मनारोत्तगानि । कस्म कस्य निभयनयेन न कस्यापीति । अयमग्र भावार्थः । इती  
 व्यञ्जाननेन गृह्यगव्यायां विषयकथायदुर्घ्यानवंचनार्थं धर्मवर्धनार्थं च पूजाभिरुक्त-  
 नादिन्दवद्गोमि तथापि वीतरागनिर्विकल्पममाधिरतानां तत्काले बहिरंगभ्यासा-  
 भ्यात् स्वर्गमेव जन्मति ॥ १२५ ॥

जेज गिरंजपि मणु धरिउ, विसगकसायहिं जंतु ।

मोक्षग्रहं कारणु एत्ताडउ, अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥ १२६ ॥

येन निरंजने मनः धृतं विषयकथायेषु गच्छत् ।

मोक्षस्य कारणं एतान्देव अन्यः न तंत्रः न भंत्रः ॥ १२६ ॥

मनो धीमतामनिर्विकल्पमवेदनज्ञानकण्ठेन व्याख्येयं निजशुद्धामश्रयं व्याख्येयं च । अत्र  
 मोक्षं लभते नान्यो मंत्रप्रदादिवक्रिष्टोपीति भाषार्यः ॥ १२६ ॥

एवं परमात्मप्रकाशवृत्तौ मन्त्रोपपत्तयं विनाय इत्येवमिदं पुनश्चात्तदीयवृत्तौ विहितं ।  
 तत्र प्रत्यादशनामा प्रथममहाधिकारः समाप्तः ॥ १ ॥

जीव शुद्धामश्रयवर्ती भावनामे उल्लेखे विवक्षयार्थोऽयं ज्ञाने ह्यपि । अत्र चोक्तं ।  
 समवेदनं ज्ञानके बलमे पीठे दृष्टात्तत्र निजशुद्धामश्रयमे व्याख्येयं च । अत्र चोक्तं ।  
 पाशा दे दृग्गता कोर्दे मंत्र प्रदादिमे चतुर होनेपर भी मोक्ष नहीं पाया ॥ १२६ ॥

इत्यत्र परमात्मप्रकाशवृत्तौ टीकायै तीन होयकीं विद्याय चोक्तं । अत्र चोक्तं ।  
 श्रीमते बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मारूप तीनपदार आत्माचो बलमेदं च दृष्टात्तत्र  
 धिकार पूर्ण विद्या ॥ १ ॥

विद्यायै नमः ।  
 श्रीगणेशाय नमः ।



अत ऊर्ध्वं स्थलसंख्याबहिर्भूतान् प्रश्लेषकान् विहाय चतुर्दशाधिकगतद्वयप्रतिज्ञैः  
सूत्रैर्मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयमहाधिकारः प्रारभ्यते । तद्वै  
सूत्रदशकपर्यंतं मोक्षमुख्यतया व्याख्यानं करोति । तद्यथा;—

सिरिगुरु अक्खहिं मुक्खु मह्, मुक्खहं कारणं तत्तु ।

मोक्खहं केरउ अण्णु फल्ल, जं जाणउं परमतत्तु ॥ १२७ ॥

श्रीगुरो व्याख्याहि मोक्षं मम मोक्षस्य कारणं तर्ह्यं ।

मोक्षस्य संबंधि अन्यन् फलं येन जानामि परमार्थं ॥ १२७ ॥

सिरि गुरु इत्यादि । सिरिगुरु हे श्रीगुरो योगीन्द्रदेव अक्खहिं कथय मोक्षु कथं  
मह् मम, न केवलं मोक्षं मोक्खहं कारणु मोक्षस्य कारणं । कथंभूतं । तत्तु त्वयं  
मोक्खहं केरउ मोक्षस्य संबंधि अण्णु अन्यन् । किं । फल्लु फलं । एतन्नयेन ज्ञातेन किं  
भवति । जं जाणउं येन प्रथम्य व्याख्यानेन जानाम्यहं कर्ता । फं । परमतत्तु परमार्थ-  
मिति । तद्यथा । प्रभाकरभट्टः श्रीयोगीन्द्रदेवान् विज्ञान्य मोक्षं मोक्षफलं मोक्षसारमिति  
प्रथं पृच्छतीति मात्तार्थः ॥ १२७ ॥

अथ तदेव प्रथं क्रमेण भगवान् कथयति;—

जोइय मुक्खगुवि मोक्खफल्लु, पुच्छिउ मोक्खहं हेउ ।

मो जिणमामिउ णिसुणि तुहं जेणविघाणहि भेउ ॥ १२८ ॥

योगिन् मोक्षोपि मोक्षफलं पृष्टं मोक्षस्य हेतुः ।

तन् त्रिनमस्वितं निश्चयु त्वं येन विज्ञानासि भेदं ॥ १२८ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् मुक्खगुवि मोक्षोपि मुक्खफल्लु मोक्षफलं पुच्छिउ

इतरे वाद प्रकृत्याकी सत्याके बाहर अर्थात् शेषकोके विहाय दोसो बीरद दोसो  
त्रोने मोक्ष मोक्षफल और मोक्षमार्गके कथनकी मुख्यतामे दृग्ता महा अधिकार भाषि  
करने हे । उन्ने भी पहले दम दोहा तक मोक्षकी मुख्यतामे व्याख्यान करने हे;—  
[ हे श्रीगुरो ] हे श्रीगुरु [ मम ] ममे [ मोक्ष ] मोक्ष [ तर्ह्यं मोक्षस्य कारणं ]  
संबंधि मोक्षका कारण [ अन्यन् ] और [ मोक्षस्य संबंधि ] मोक्षका [ फलं ] फल  
[ व्याख्याहि ] व्याख्या करो [ येन ] त्रिनमे [ हे मे ] परमार्थ [ जानामि ] जाना  
करने ॥ मात्तार्थ—प्रभाकरभट्ट श्रीयोगीन्द्रदेवमे त्रिनतीहारेके मोक्ष, मोक्षका कारण और  
मोक्षका फल इन तीनोंको पृच्छा हे ॥ १२७ ॥

अथ जोइय जोइय मोक्षोपि मोक्षफलं पृष्टं मोक्षस्य हेतुः—[ योगिन् ] हे योगी तूने [ मोक्षोपि ]  
मोक्षोपि [ मोक्षफलं ] मोक्षका फल [ मोक्षस्य ] मोक्षका [ हेतुः ] कारण

पृष्टं त्वया षट्भूतेन । पुनरपि कः पृष्टः । मोक्षरहं हेतु मोक्षस्य हेतुः कारणं । तन्नयं जिणभासितु जिनभाषितं णिसुणि निश्चयेन शृणु समाकर्णय जेण येन प्रयेण हातेन पियाणाहि भेउ विजानासि भेदं प्रयाणां संबंधिनमिति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । श्रीयोगीन्द्रदेवाः कथयन्ति हे प्रभाकरभट्ट शुद्धात्मोपलंभलक्षणं मोक्षं केवलज्ञानान्तरगतचतुष्टयव्यक्तिरूपं मोक्षफलं भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं मोक्षमार्गं च क्रमेण प्रतिपादयाम्यहं त्वं शृण्वन्ति ॥ १२८ ॥

अथ धर्मार्थकाममोक्षणां मध्ये गुरुरकारणत्वान्मोक्ष एवोत्तम इति अभिप्रायं मनसि संप्रप्रायं सूत्रमिदं प्रतिपादयति,—

धम्महं अत्थहं कामहंवि, एयहं सयलहं मोक्खु ।

उत्तमु पभणहि णाणि जिय, अण्णं जेण ण सुक्खु ॥ १२९ ॥

धर्मस्य अर्थस्य कामस्यापि एतेषां सकलानां मोक्षं ।

उत्तमं प्रभणंति ज्ञानिनः जीव अन्येन येन न सुखं ॥ १२९ ॥

धम्महं इत्यादि । धम्महं धर्मस्य धर्माद्वा अत्थहं अर्थस्य अर्थाद्वा कामहंवि कामस्यापि कामाद्वा एयहं सयलहं एतेषां सकलानां संबंधित्वेन एतेभ्यो वा सकाशान् मोक्खु मोक्षं उत्तमु पभणहि उत्तमं विनिष्टं प्रभणंति । के कथयन्ति । णाणि ज्ञानिनः जिय हे जीव । कम्मादुत्तमं प्रभणंति मोक्षं । अण्णइ अन्येन धर्मार्थकामादिना जेण येन कारणेन ण सुक्खु नान्नि परमसुखं इति । तथाया—धर्मशब्देनात्र पुण्यं कथ्यते अर्थश-

[ पृष्टं ] पूछा [ तत् ] उसको [ जिनभाषितं ] जिनेश्वरदेवके कहे प्रमाण [ त्वं ] तू [ निशृणु ] निश्चयकर सुन [ येन ] जिससे कि [ भेदं ] भेद [ विजानासि ] अच्छीतरह जान जावे । भावार्थ—श्री योगीन्द्रदेवगुरु शिष्यसे कहते हैं कि हे प्रभाकरभट्ट योगी शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष, केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयका प्रगटपना स्वरूप मोक्षफल और निश्चय व्यवहार रत्नत्रयरूप मोक्षका मार्ग इन तीनोंको क्रमसे जिन आज्ञाप्रमाण तुझको कहूंगा । उनको तू अच्छीतरह चित्तमें धारण कर जिससे सब भेद मालूम होजावे ॥ १२८ ॥

अब धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारोंमेंसे सुखका मूल कारण मोक्ष ही सबसे उत्तम है ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर हम गाथासूत्रको कटते हैं;—[ हे जीव ] हे जीव [ धर्मस्य ] धर्म [ अर्थस्य ] अर्थ [ कामस्य अपि ] और काम [ एतेषां सकलानां ] इन सब पुरुषार्थोंमेंसे [ मोक्षं उत्तमं ] मोक्षको उत्तम [ ज्ञानिनः ] ज्ञानी पुरुष [ प्रभणंति ] कहते हैं [ येन ] क्योंकि [ अन्येन ] अन्य धर्म अर्थ कामादि पदार्थोंसे [ सुखं ] परमसुख [ न ] नहीं है ॥ भावार्थ—धर्मशब्दसे यहा पुण्य समग्रता, अर्थशब्दसे पुण्यका



परमात्मा परशब्देनोच्यते तस्यैवंगुणविशिष्टस्य परमात्मनो लोको लोकनमवलोकनं धीतरा-  
गपरमानंदसमरसीभावानुभवनं लोक इति परलोकशब्दस्यार्थः । अथवा पूर्वोक्तलक्षणः  
परमात्मा परशब्देनोच्यते । निश्चयेन परशिवशब्दवाच्यो मुक्तप्रत्मा निव इत्युच्यते तस्य  
लोकः शिवलोक इति । अथवा परमब्रह्मशब्दवाच्यो मुक्तात्मा परमब्रह्म इति तस्य लोको  
ब्रह्मलोक इति । अथवा परमविष्णुशब्दवाच्यो मुक्तात्मा विष्णुरिति तस्य लोको विष्णुलोक  
इति परलोकशब्देन मोक्षो भण्यते परब्रह्म लोकाश्च परलोक इति । परलोकशब्दस्य व्युत्प-  
त्त्यर्थो ज्ञातव्यः नचान्यः कोपि परिकल्पितःशिवलोकादिरस्तीति । अत्र न एव परलोक-  
शब्दवाच्यः परमात्मोपादेय इति तात्पर्यं ॥ १३० ॥

अथ तमेव मोक्षं मुग्धदायकं दृष्टान्तद्वारेण दृश्यति;—

उत्तमु सुखं ण देहं जहं, उत्तमु सुखं ण होइ ।

तो किं इच्छंति, बंधणं हि यद्वा पमुगपि मोहं ॥ १३१ ॥

उत्तमं सुखं न ददाति यदि उत्तमो मोक्षो न भवति ।

ततः किं इच्छंति बंधनैः यद्वा पशवोपि तमेव ॥ १३१ ॥

उत्तमु इत्यादि । उत्तमु उत्तमं सुखं सुखं ण देहं जहं न ददाति यदि येन उत्तमु  
सुखं ण होइ उत्तमो मोक्षो न भवति तो तस्मान्कारणात् किं किमर्थं इच्छंति इच्छंति  
बंधणं हि बंधनैः यद्वा निषडाः । किं निषडाः । पमुगपि पशवोपि । किमिच्छंति ।  
सोइ तमेव मोक्षमिति । अयमत्र भावार्थः । मुग्धकारणत्वादेतोः बंधनयुक्तः पशवोपि

परमात्माका लोक अर्थात् अवलोकन धीतराग परमानंद समरसीभावका अनुभव सह पर-  
लोक कहा जाता है अथवा परमात्माको परमशिव कहते हैं उसका जो अवलोकन सह  
शिवलोक है, अथवा परमात्माका ही नाम परम ब्रह्म है उसका जो लोक सह ब्रह्मलोक है,  
अथवा उसीका नाम परमविष्णु है उसका जो लोक अर्थात् स्थान सह विष्णुलोक है मे  
सब मोक्षके नाम हैं यानी जितने परमात्माके नाम हैं उनके आगे लोक एगानेगे मोक्षके  
नाम हो जाते हैं दूसरा कोई कल्पना किया हुआ शिवलोक ब्रह्मलोक विष्णुलोक नहीं  
है । यहांपर सारांश यह हुआ कि परलोकके नामसे कहा गया परमात्मा ही उपादेय है  
ध्यान करने योग्य है अन्य कोई नहीं ॥ १३० ॥

आगे उसी मोक्षको अनंतमुग्धका देनेवाला दृष्टान्तके द्वारा यह बताने है;—[ यदि ]  
जो [ मोक्षः ] मोक्ष [ उत्तमं सुखं ] उत्तमसुखको [ न ददाति ] न देवे तो [ उत्तमः ]  
उत्तम [ न भवति ] नहीं होवे तब जो मोक्ष उत्तम ही न होवे [ ततः ] तो [ बंधनैः  
यद्वाः ] बंधनोभे बंधे [ पशवोपि ] पशु भी [ तमेव ] उग मोक्षही ही [ किं इच्छंति ]  
क्यों इच्छा करें । भावार्थ—बंधनके समान कोई दुःख नहीं है तब एतनेके समान

मोक्षमिच्छन्ति तेन कारणेन केवलज्ञानाद्यनंतगुणाविनाभूतस्योपादेयरूपस्थानंतमुत्तम इ-  
णत्वादिति ज्ञानितो विशेषेण मोक्षमिच्छन्ति ॥ १३१ ॥

अथ यदि तस्य मोक्षस्याधिकगुणगणो न भवति तर्हि लोको निजमनस्कर्मोपरि  
किमर्थं धरतीति निरूपयति;—

अणु जइ जगह जि अहियकर, गुणगणु तासु ण होइ ।  
तो तइलोउवि किं धरइ, णियसिर उप्परि सोइ ॥ १३२ ॥

अनु यदि जगत्तोपि अधिकतरः गुणगुणः तस्य न भवति ।

ततः त्रिलोकोपि किं धरति निजशिरसि उपरि तमेव ॥ १३२ ॥

अणु इत्यादि । अणु पुनः जइ यदि चेत् जगहं जि जगत्तोपि सकानात् अहियकर  
अतिशयेनाधिकः अधिकतरः । कोमौ । गुणगणु गुणगणाः तासु तस्य मोक्षस्य ण होइ  
न भवति तो ततः कारणान् तइलोउवि त्रिलोकोपि कर्ता । किं धरइ किमर्थं धरति ।  
कस्मिन् । णियसिर उप्परि निजशिरसि उपरि किं धरइ किं धरति सोइ तमेव मोक्ष-  
मिति । तद्यथा । यदि तस्य मोक्षस्य पूर्वोक्तः मध्यस्थादिगुणगणो न भवति तर्हि लोकः  
कर्ता निजमनस्कर्मोपरि तत्किं धरतीति । अत्रानेन गुणगणस्थापनेन किं कृतं भवति,  
सुद्धिमुत्तरदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्ममन्काराभिधानानां गुणानामभावं मोक्षं मन्यते चे

कोई सुख नहीं है बंधनसे बंधे जानवर भी छूटना चाहते हैं जब छूटते हैं तभी मुक्ति  
होते हैं । इस सामान्यबंधनके अभावसेही पशु सुखी होते हैं तो कर्मबंधनके अभावसे  
ज्ञानी जन परमसुखी होयें इसमें अचंभा क्या है । इसलिये केवलज्ञानादि अनंतसुखसे  
तन्मई अनंतसुखका कारण मोक्ष ही आदरने योग्य है इसकारण ज्ञानी पुरुष विशेषतः  
मोक्षको ही इच्छते हैं ॥ १३१ ॥

आगे जो मोक्षमें अधिकगुणोंका समूह नहीं होता तो मोक्षको तीनलोक अपने मनुष्य  
पर क्यों रखना ऐसा वन्यते हैं;—[अनु] फिर [यदि] जो [जगतः अपि] सब  
लोकमें भी [अधिकतरः] बहुत ज्यादा [गुणगणः] गुणोंका समूह [तस्य] उस  
मोक्षमें [न भवति] नहीं होता [ततः] तो [त्रिलोकः अपि] तीनों ही लोक [नि-  
जशिरसि] अपने मनुष्यके [उपरि] ऊपर [तमेव] उसी मोक्षको [किं धरति]  
क्यों रखना । भावार्थ—मोक्ष लोकके शिखर (अधभाग) पर है मोक्ष सब लोकमें मोक्षसे  
बहुत ज्यादा गुण है इसीलिये उनको लोक अपने शिखर रखना है । कोई किसीके  
अपने शिखर रखता है वह अपनेमें अधिक गुणवाला जानकर रखता है । यदि शक्ति-  
मयकत्व केवलदर्शनादि अनंतगुण मोक्षमें न होंगे ना मोक्ष सबके शिखर न होगा मोक्षके  
उपर अन्य कोईमान नहीं है सबके ऊपर मोक्ष ही है वीर मोक्षके आगे अनंत भगोके

वृद्धवैशेषिकास्ते निषिद्धाः । ये च प्रदीपनिर्वाणवज्जीवाभावं मोक्षं मन्यन्ते मौगतास्ते च निरस्ताः । यथोक्तं सांख्यैः । सुभावस्थावन् मुखज्ञानरहितो मोक्षस्तदपि निरस्तं । लोकापे निष्ठनीति वचनेन तु मंडिकमंता नैयायिकमनांतर्गता यत्रैव मुक्तमत्रैव तिष्ठतीति वदन्ति तेषु निरस्ता इति । जैनमते पुनरिन्द्रियजनितज्ञानमुपस्थाभावेन चातीन्द्रियज्ञानमुपस्थेति कर्मजनितेन्द्रियादिदशप्राणसहितम्याशुद्धजीवस्याभावे न पुनः शुद्धजीवस्येति भावार्थः॥१३२॥

हे वह शून्य है वहां कोई स्थान नहीं है । वह अनंत अलोक भी सिद्धोंके ज्ञानमें भाग रहा है । यहापर मोक्षमें अनंतगुणोंके स्थापन करनेसे मिथ्यादृष्टियोंका खंडन किया । कोई मिथ्यादृष्टि वैशेषिकादि ऐसा कहते हैं कि जो बुद्धि मुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म संस्कार इन नव गुणोंके अभावरूप मोक्ष है उनका निषेध किया, क्योंकि इंद्रिय जनित बुद्धिका तो अभाव है परंतु केवल बुद्धि अर्थात् केवलज्ञानका अभाव नहीं है; इंद्रियोंसे उत्पन्न मुखका अभाव है लेकिन अतीन्द्रियमुखकी पूर्णता है, दुःख इच्छा द्वेष यत्न इन विभावरूप गुणोंका तो अभाव है ही केवलरूप परिणामन है, व्यवहार धर्मका अभाव ही है और वस्तुका स्वभावरूप धर्म वह है ही, अधर्मका तो अभाव ठीक ही है और पर द्रव्यरूप संस्कार सर्वथा नहीं है स्वभावसंस्कार ही है । जो मूढ़ इन गुणोंका अभाव मानते हैं वे वृथा वफते हैं मोक्ष तो अनंतगुणरूप है । इसतरह निर्गुणवादियोंका निषेध किया । तथा बौद्धमती जीवके अभावको मोक्ष कहते हैं । वे मोक्ष ऐसा मानने हैं कि जैसे दीपकका निर्वाण (वुशना) उसीतरह जीवका अभाव वही मोक्ष है । ऐमी बौद्धकी श्रद्धाका भी तिरस्कार किया । क्योंकि जो जीवका ही अभाव होगया तो मोक्ष किसके हुई । जीवका शुद्ध होना वह मोक्ष है अभाव कहना वृथा है । सांख्यमतवाले ऐसा कहते हैं कि जो एकदम सोनेकी अवस्था है वही मोक्ष है जिसजगह न गुरु है न शान है ऐसी प्रतीतिका निवारण किया । नैयायिक मतवाले ऐसा कहते हैं कि जहांसे मुक्त हुआ वहीपर ही तिष्ठता है ऊपरको गमन नहीं करता । ऐसे नैयायिकके कथनका लोक मिश्र-पर तिष्ठता है इस वचनसे निषेध किया । क्योंकि बंधनसे छूटता है वहां वह नहीं रहता यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कैदी कैदसे छूटता है सब बंदीप्रहसे छूटकर अपने परी सरफ गमन करता है वह निजपर निर्वाण ही है । जैनमार्गमें तो इंद्रियजनित ज्ञान जोकि मनि श्रुत अवधि गन.पर्यय है उनका अभाव माना है और अतीन्द्रियरूप जो केवलज्ञान है वह वस्तुका स्वभाव है उसका अभाव आत्मामें नहीं होसकता । स्पर्श रस गंध रूप शब्द इन पांच इंद्रियविषयोंकर उत्पन्न हुए मुखका तो अभाव ही है लेकिन अतीन्द्रियमुख जो निराशुल परमाणंद है उसका अभाव नहीं है, कर्मजनित जो इंद्रियादि दस प्राण अर्थात् पांच इंद्रिया मन वचन काय आयु आसोच्छ्राम इन दस प्राणोंका भी अभाव है शब्दादि



अधोत्तमं मुखं न ददाति यदि मोक्षमहिं सिद्धाः कथं निरंतरं सेवन्ते तमिति कथयति,—

उत्तमु मुखसु ण देइ जइ, उत्तमु मुखसु ण होइ ।

तो किं सयलुवि कालु जिय, सिद्धवि सेवहिं सोइ ॥ १३३ ॥

उत्तमं मुखं न ददाति यदि उत्तमः मोक्षो न भवति ।

ततः किं सकलमपि कालं जीव सिद्धा अपि सेवन्ते तमेव ॥ १३३ ॥

उत्तमु इत्यादि । उत्तमु मुखसु उत्तमं मुखं ण देइ न ददाति जइ यदि चेत् उत्तमु उत्तमो मुखसु मोक्षः ण होइ न भवति तो ततः कारणान् किं किमर्थं सयलुवि कालु सकलमपि कालं जिय हे जीव सिद्धवि सिद्धा अपि सेवहिं मेवन्ते सेवितमेव मोक्षमिति । तथाहि । यद्यतीन्द्रियपरमाहादरूपमविनश्वरं मुखं न ददाति मोक्षमहिं कथमुत्तमो भवति उत्तमत्वाभावे च केवलज्ञानादिगुणमहिताः सिद्धा भगवन्तः किमर्थं निरंतरं सेवन्ते च चेत् । तस्मादेव ज्ञायते तत्मुखमुत्तमं ददतीति । उक्तं च सिद्धमुखं । “आत्मोपादाननिष्ठं स्वयमतिशयबद्धीतयापं विनालं, वृद्धिद्वामव्यपेनं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावं । अन्यद्व्यानेपथं निरूपमममितं शाश्वतं सर्वकालं दृक्कृष्टानंतमारं परममुखमतस्तस्य सिद्धय जानं” ॥ अत्रेदमेव निरंतरमभिलषनीयमिति भावार्थः ॥ १३३ ॥

निज प्राणोंका अभाव नहीं है । जीवकी अशुद्धताका अभाव है शुद्धपनेका अभाव नहीं यह निश्चयसे जानना ॥ १३२ ॥

आगे कहते हैं कि जो मोक्ष उत्तममुख नहीं दे तो सिद्ध उसे निरंतर क्यों सेवन करे ! ;—[ यदि ] जो [ उत्तमं मुखं ] उत्तम अविनाशी मुखको [ न ददाति ] नहीं देवे तो [ मोक्षः उत्तमः ] मोक्ष उत्तम भी [ न भवति ] नहीं होसकती उत्तम मुख देती है इसी लिये मोक्ष सबसे उत्तम है । जो मोक्षमें परमानंद नहीं होता [ ततः ] तो [ हे जीव ] हे जीव [ सिद्धा अपि ] सिद्ध परमेशी भी [ सकलमपि कालं ] सदा काल [ तमेव ] उगी मोक्षको [ किं सेवन्ते ] क्यों मेवन् करते कभी भी न सेवते । भावार्थ—वह मोक्ष अखंड मुख देती है इसीलिये उसे सिद्ध महाराज सेवते हैं मोक्ष परम आहादरूप है अविनश्वर है मन और इंद्रियोंमें रहित है इसीलिये उसे सदाकाल सिद्ध सेवते हैं केवलज्ञानादिगुणमहित सिद्ध भगवान् निरंतर निर्वाणमें ही निवास करते हैं ऐसा निश्चय है । सिद्धोंका मुख दूसरी जगह भी ऐसा कहा है “आत्मोपादान” इत्यादि । इसका अनिर्वाय यह है कि इस अध्यात्मज्ञानमें सिद्धोंके जो परममुख हुआ है वह कैसा है कि अपनी २ जो उपादानशक्ति उगीकर उत्पन्न हुआ है परकी महापतामें नहीं है स्वयं ( आप ही ) अतिशयरूप है मय वाषाओमें रहित है निराशय है निर्भीक है परती बदनीमें रहित है विषयविद्यामें रहित है भेदभावमें रहित है निर्द्वन्द्व

अथ सर्वेषां परमपुरुषाणां मोक्ष एव ध्येय इति प्रतिपादयति;—

हरिहरयन्त्रुवि जिणवरवि, मुणिवरविंदवि भव्व ।

परमणिरंजणि मणु धरिवि, मुक्खु जि झायहि सव्व ॥ १३४ ॥

हरिहरब्रह्माणोपि जिनवरा अपि मुनिवरसृदान्यपि भव्याः ।

परमनिरंजने मनः धृत्वा मोक्षं एव ध्यायंति सर्वे ॥ १३४ ॥

हरि हर इत्यादि । हरि हरवंभुवि हरिहरब्रह्माणोपि जिणवरवि जिनवरा अपि मुणिवरविंदवि मुनिवरसृदान्यपि भव्य शेषभव्या अपि, एते सर्वे किं कुरंति । परमनिरंजणि परमनिरंजनाभिधाने निजपरमात्मस्वरूपे मणु मनः धरिवि विषयकषायेषु गच्छन् सन् व्यापृत्य धृत्वा पश्चात् मुक्खु जि मोक्षमेव झायहि ध्यायंति मच्च सर्वेपि इति । तथा । हरिहरादयः सर्वेपि प्रसिद्धपुरुषाः स्यान्निपूजालाभारिसमस्तविवस्त्रजातेन सृष्टे शुद्धबुद्धैकस्यभावनिजालद्रव्यसम्यक्प्रज्ञानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नप्रयान्मवनिर्विकल्प्यगमाधिसमुत्पन्नवीनरागसहजानंदैकमुत्तरमानुभवेन पूर्णकलशवन् भग्निावग्ये निरंजनगन्दाभिधेयपरमात्मध्याने स्थित्वा मोक्षमेव ध्यायंतीति । अयमत्र भावार्थः । यद्यपि ध्यवहारंज

है जहां पर वस्तुकी अपेक्षा ही नहीं है अनुपम है अनंत है अपार है जिनका प्रमाण नहीं सदा काल साक्षता है महा उत्कृष्ट है अनंतसारता श्रिये हुए है । ऐसा परमगुण सिद्धोक्ति है अन्यके नहीं है । यहां तात्पर्य यह है कि हमेशा मोक्षका ही गुण अभिगमना करने योग्य है और संसारपर्याय सब होय है ॥ १३३ ॥

आगे सभी महान पुरुषोके मोक्ष ही ध्यावने योग्य है ऐसा कहते हैं;—[ हरिहर-ब्रह्माणोपि ] नारायण वा इंद्र रुद्र अन्य ज्ञानीपुरुष [जिनवरा अपि] श्री तीर्थंकर परमदेव [ मुनिवरसृदान्यपि ] मुनिधरोके समूह तथा [ भव्याः ] अन्य भी भग्यजीव [ परमनिरंजने ] परम निरंजनमें [ मनः धृत्वा ] मन रखकर [ सर्वे ] सब ही [ मोक्षं ] मोक्षको [ एव ] ही [ ध्यायंति ] ध्यावते हैं । यह मन विषयकषायोंमें ओ जाया है उसको पीछे छोटाकर अपने स्वरूपमें स्थिर अर्थात् निर्वाणका साधनेवाला करने है । भावार्थ—श्री तीर्थंकर देव तथा पञ्चवर्ती बलदेव वामुदेव प्रतिवागुदेव महादेव इत्यादि सब प्रसिद्ध पुरुष अपने शुद्ध ज्ञान अग्रंइस्वभाव जो निज आत्मद्रव्य उमका सम्यक् प्रज्ञान ज्ञान अक्षय-रूप जो अभेदरत्नप्रय उम भई समाधिंकर उत्पन्न वीतरागसहजानंद अर्थात्प्रियमुक्तास उमके अनुभवसे पूर्ण बन्धनों तरह भरे हुए निरंतर निराकार निजस्वरूप परमात्मके ध्यानमें स्थिर होकर मुक्त होते हैं । जैसे वह ध्यान है कि स्यान्नि ( मन्दिनि पृथा ( अमन महिमा ) और धनादिकका लाभ इत्यादि साम्प्र विषयज्ञानोंमें रहत है । महा बंधन आत्मध्यान ही मोक्षमार्ग बतलाया है और अपना स्वरूप ही ध्य वन योग्य है । न सर्व वः

मविकल्पावस्थायां वीतरागमयंशम्बरूपं तत्प्रतिविद्यानि तन्मंत्राभ्रगणि तद्गुणप्रद्युम्नस्य  
ध्येया भवन्ति तथापि वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुत्रिगुणपरमममाधिकारो निजशुद्धात्मैव ध्येय  
इति ॥ १३४ ॥

अथ भुवनत्रयेपि मोक्षं मुक्त्वा अन्यत्परमसुखकारणं नास्तीति निश्चिनोति;—

तिहुयणि जीवहं अस्थि णवि, सुख्वहं कारणु कोइ ।

सुखु सुएविणु एकु पर, तेणवि चित्तिहं सोइ ॥ १३५ ॥

त्रिभुवने जीवानां अस्ति नैव सुखस्य कारणं किमपि ।

मोक्षं मुक्त्वा एकं परं तेनैव चित्तय तमेव ॥ १३५ ॥

तिहुयणि इत्यादि । तिहुयणि त्रिभुवने जीवहं जीवानां अस्थि णवि अस्ति नैव ।  
किं नास्ति । सोवखहं कारणु सुखस्य कारणं कोइ किमपि वस्तु । किं कृत्वा । मुक्त्वा । सुखु  
सुएविणु एकु मोक्षं मुक्त्वाकं परं नियमेन तेणवि तेनैव कारणेन चित्तिहं चित्तय सोइ  
तमेव मोक्षमिति । तथाहि । त्रिभुवनेपि मोक्षं मुक्त्वा निरंतरातिशयसुखकारणमन्यत्पंचेन्द्रि-  
यविषयानुभवरूपं किमपि नास्ति तेन कारणेन हे प्रभाकरभट्ट वीतरागनिर्विकल्पपरम-  
सामायिके स्थित्वा निजशुद्धात्मस्वभावं ध्याय त्वमिति । अत्राह प्रभाकरभट्टः हे भगवन्-  
तीन्द्रियमोक्षमुखं निरंतरं वर्णयते भवद्भिस्त्वच्च न ज्ञायते जनैः । भगवानाह हे प्रभाकरभट्ट  
कोपि पुरुषो निर्व्याकुलचित्तः प्रस्तावे पंचेन्द्रियभोगमेवारहितस्तिष्ठति स केनापि देवदत्तनेन

हे कि यद्यपि व्यवहारनयकर प्रथम अवस्थामें वीतरागसर्वत्रका स्वरूप अथवा वीतरागके  
प्रतिविद्य अथवा वीतरागके नाम मंत्रके अक्षर अथवा वीतरागके सेवक महासुनि ध्यावने  
योग्य हैं तौमी वीतराग निर्विकल्पतीनगुप्तिरूप परम समाधिके समय अपना शुद्ध जाल्ना  
ही ध्यान करने योग्य है अन्य कोई भी दूसरा पदार्थ पूर्ण अवस्थामें ध्यावने योग्य  
नहीं है ॥ १३४ ॥

अब तीन लोकमें मोक्षके सिवाय अन्य कोई भी परमसुखका कारण नहीं ऐसा निश्चय  
करते हैं;—[ त्रिभुवने ] तीनलोकमें [ जीवानां ] जीवोंको [ मोक्षं मुक्त्वा ] मोक्षके  
सिवाय [ किमपि ] कोई भी वस्तु [ सुखस्य कारणं ] सुखका कारण [ नैव ] नहीं  
[ अस्ति ] है एक सुखका कारण मोक्ष ही है [ तेनैव ] इस कारण तू [ परं एकं त्वं  
एव ] नियमसे एक मोक्षका ही [ चित्तय ] चित्तवन कर जिसे कि महासुनि भी चित्तवन  
करते हैं । भावार्थ—श्रीयोगीन्द्राचार्य प्रभाकर भट्टसे कहते हैं कि वस्तु मोक्षके सिवाय  
अन्य सुखका कारण नहीं है और आत्मध्यानके सिवाय अन्य मोक्षका कारण नहीं है  
इसलिये तू वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें उदरकर निजशुद्धात्मस्वभावको ही ध्याय । यह  
श्रीगुरुने आज्ञा की । तब प्रभाकर भट्टने वीनती की हे भगवन् तुमने निरंतर अतींद्रि

दृष्टः सुरेन स्थितो भवान् । तेनोक्तं सुरमस्तीति तत्सुरमात्मोत्थं । कस्मादिनि चेत् । तत्काले श्रीमेवादिस्पर्शविषयो नास्ति भोजनादिजिह्वद्रियविषयो नास्ति विशिष्टरूपगंधमाल्यादिघ्राणेंद्रियविषयो नास्ति दिव्यस्त्रीरूपावलोकनादिलोचनविषयो नास्ति श्रवणरमणीय-गीतवाद्यादिशब्दविषयोपि नास्तीति तस्मान् शायते तत्सुरमात्मोत्थमिति । किं च । एक-देशव्यापाररहितानां तदेकदेशेनालोत्थसुरमुपलभ्यते वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानरतानां पुनर्निरवशेषपंचेंद्रियविषयमानसविकल्पजालनिरोधे सति विशेषेणोपलभ्यते । इदं तावन् स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्यं सिद्धात्मानं च सुगमं पुनरनुमानगम्यं । तथाहि । मुचाम्बनां शरीरेन्द्रियव्यापाराभावेपि सुरमस्तीति साध्यं । कस्माद्धेतोः । इदानीं पुनर्वीतरागनिर्विकल्पममा-भिख्यानां परमयोगिनां पंचेंद्रियविषयव्यापाराभावेपि स्वाम्बोत्थवीतरागपरमानंदसुगोपल-

मोक्षसुख वर्णन किया है सो ये जगत्के प्राणी अतीन्द्रियसुखको जानते ही नहीं हैं इंद्रिय-सुखकी ही सुख मानते हैं । तब गुरुने कहा कि हे प्रभाकर भट्ट कोई एक पुरुष निमग्न चित्त व्याकुलतारहित है और पंचेंद्रियके भोगोंसे रहित अकेला स्थित है उससमय किसी पुरुषने पूछा कि तुम सुखी हो । तब उसने कहा कि मुझसे तिष्ठ रहे हैं उस समयपर विषयसेवनादि सुख तो हैं ही नहीं उसने यह क्यों कहा कि हम सुखी हैं । इसलिये यह मालूम होता है सुख नाम व्याकुलता रहितका है सुखका मूल निर्व्याकुलपना है यह नि-र्व्याकुल अवस्था आत्मामें ही है विषय सेवनमें नहीं । भोजनादि जिह्वा इंद्रियका विषय भी उस समय नहीं है, स्त्रीसेवनादि स्पर्शका विषय नहीं है और गंधमाल्यादिक नाकका विषय भी नहीं है, दिव्य स्त्रियोंका रूप अवलोकनादि नेत्रका विषय भी नहीं और कानोंका मनोज्ञ गीत वादिश्रादि शब्द विषयभी नहीं है इसलिये जानते हैं कि सुग आत्मामें ही है । ऐसा नू निश्चयकर जो एकदेश विषयव्यापारसे रहित हैं उनके एकदेश चिर-ताका सुर है तो वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानियोंके समस्त पंच इंद्रियोंके विषय और मनके विकल्प जालोंकी रुकावट होनेपर विशेषतःसे निर्व्याकुल सुख उपजता है । इस-लिये ये दो बातें तो प्रत्यक्ष ही दृष्टि पड़ती हैं । जो पुरुष नीरोग और चिन्तारहित है उनके विषयसामग्रीके विना ही सुर भासता है और जो महामुनि शुद्धोपयोग अवस्थाने ध्यानारूढ है उनके निर्व्याकुलता प्रगट ही दीर रही है वे इंद्रादिक देवोंसे भी अधिक सुखी हैं । इसकारण जब संसार अवस्थामें ही सुरका मूल निर्व्याकुलता दीगर्नी है तो सिद्धोंके सुखकी बात ही क्या है । यद्यपि ये सिद्ध दृष्टिगोचर नहीं हैं तो भी अनुमानकर ऐसा जानाजाता है कि सिद्धोंके भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म नहीं तथा स्त्रियोंका प्रवृत्ति नहीं है कोई भी त्वक्त्पञ्जाळ नहीं है केवल अतीन्द्रिय आत्मीक सुर ही है वही सुख उपादेय है अन्य सुख सब दुःखरूप ही हैं । जो प्राणी गतियोंके पर्याय है उनमें

विधिरिति । अत्रेत्यभूतसुखमेवोपादेयमिति भावार्थः । तथागमं चोक्तमात्मोन्वयमतीन्द्रियसुखं ।  
 “अइसयमादसमुत्थं विमयातीदं अणोवममणं । अञ्जुच्छिण्णं च सुदं सुदुवणोमन-  
 सिद्धाणं” ॥ १३५ ॥

अथ यस्मिन् मोक्षे पूर्वोक्तमतीन्द्रियसुखमस्ति तस्य मोक्षस्य स्वरूपं कथयति;—

जीवहं सो पर सुखसु मुणि, जो परमप्पयलाहु ।

कम्मकलंकविमुक्काहं, णाणिय बोद्धहिं साहु ॥ १३६ ॥

जीवानां तं परं मोक्षं मन्यस्व यः परमात्मलाभः ।

कर्मकलंकविमुक्तानां ज्ञानिनः भ्रुवंति साधवः ॥ १३६ ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं जीवानां सो तं परं नियमेन मोक्षसु मोक्षं मुणि मन्यत  
 जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । तं कं । जो परमप्पयलाहु यः परमात्मलाभः । इत्यंभूतो मोक्षः  
 केषां भवति । कम्मकलंकविमुक्काहं ज्ञानावरणाद्यप्रविधकर्मकलंकविमुक्तानां । इत्यंभूतं  
 मोक्षं के भ्रुवंति । णाणिय बोद्धहिं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो भ्रुवंति । ते के । साहु  
 साधवः इति । तथाहि । केवलज्ञानाद्यनंतगुणव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारभूतस्य हि  
 परमालाभाभो मोक्षो भवतीति । स च केषां । पुत्रकलत्रममत्वस्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्प-  
 रहितध्यानेन भावकर्मद्रव्यकर्मकलंकरहितानां भव्यानां भवतीति ज्ञानिनः कथयति ।  
 अत्रायमेव मोक्षः पूर्वोक्तस्यानंतसुखस्योपादेयभूतस्य कारणत्वादुपादेय इति भावार्थः

कदापि सुख नहीं है । सुख तो सिद्धोंके है या महामुनीश्वरोंके सुखका लेशमात्र देखाजाता  
 है दूसरेके जगतकी विषयवासनाओंसे सुख नहीं है । ऐसा ही कथन श्रीप्रवचनसारमें किया  
 है । “अइसय” इत्यादि । सारांश यह है कि जो शुद्धोपयोगकर प्रसिद्ध ऐसे श्रीसिद्ध  
 परमेष्ठी हैं उनके अतीन्द्रियसुख है वह सर्वोत्कृष्ट है और आत्मजनित है तथा विषयवास-  
 नासे रहित है अनुपम है जिसके समान सुख तीनलोकमें भी नहीं है जिसका पार नहीं  
 वाधारहित ऐसा सुख सिद्धोंके है ॥ १३५ ॥

आगे जिस मोक्षमें ऐसा अतीन्द्रिय सुख है उस मोक्षका स्वरूप कहते हैं;—हे प्रभा-  
 करभट्ट जो [ कर्मकलंकविमुक्तानां जीवानां ] कर्मरूपी कलंकसे रहित जीवोंको [ यः  
 परमात्मलाभः ] जो परमात्मकी प्राप्ति है [ तं परं ] उसीको नियमसे तू [ मोक्षं  
 मन्यस्व ] मोक्ष जान ऐसा [ ज्ञानिनः साधवः ] ज्ञानवान् गुनिराज [ भ्रुवंति ] कहते  
 हैं, रक्षत्रयके योगमें मोक्षका साधन करते हैं इसमें उनका नाम साधु है । भावार्थ—  
 केवलज्ञानादि अनंतगुण प्रगट रूप जो कार्यसमयसार अर्थात् शुद्धपरमात्माका लाभ यह  
 मोक्ष है यह मोक्ष भव्यजीवोंके ही होता है । भव्य कैसे हैं कि पुत्रकलत्रादि पर वस्तु-  
 ओंके मन्वकों आदि लेकर मय विकल्पोंमें रहित जो आत्मध्यान उससे जिन्होंने भावकर्म

॥ १३६ ॥ एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये सूत्रदशकेन मोक्षस्वरूपनिरूपणस्थलं समाप्तं ।

अथ तस्यैव मोक्षस्यानंतचतुष्टयस्वरूपं फलं दर्शयति;—

दंसणु णाणु अणंतसुहु, समउ ण तुट्टइ जासु ।

सो पर सासउ भोक्खफलु, पिञ्जउ अत्थि ण तासु ॥ १३७ ॥

दर्शनं ज्ञानं अनंतमुखं समयं न पुट्यति यस्य ।

तत् परं शाश्वतं मोक्षफलं द्वितीयं अस्ति न तस्य ॥ १३७ ॥

दंसणु इत्यादि । दंसणु केवलदर्शनं णाणु केवलज्ञानं अणंतसुहु अनंतमुखं एतदुपलक्षणमनंतवीर्याद्यनंतगुणाः समउ ण तुट्टइ एतद्गुणकदंबकमेकममयमपि यावन्न पुट्यति न नश्यति जासु यस्य मोक्षपर्यायस्याभेदेन तदाधारजीवस्य वा सो पर तदेव केवलज्ञानादिस्वरूपं सासउ भोक्खफलु शाश्वतं मोक्षफलं भवति पिञ्जउ अत्थि ण तासु तस्यानंतज्ञानादिमोक्षफलस्यान्यं द्वितीयमधिकं किमपि नास्तीति । अयमत्र भावार्थः । अनंतज्ञानादिमोक्षफलं ज्ञात्वा समस्तसारादित्यागेन तदर्थमेव निरंतरं शुद्धात्मभावना कर्तव्येति ॥ १३७ ॥ एवं द्वितीयमहाधिकारे मोक्षफलकथनरूपेण स्वतंत्रसूत्रमेकं गतं ।

अथानंतरमेकोनविंशतिसूत्रपर्यंतं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गव्याख्यानस्थलं कथ्यते तथा;—

रज्जीवहं सुक्खहं हेउ घरु, दंसणु णाणु चरित्तु ।

ते पुणु तिण्णिणचि अप्पु मुणि, णिच्चट्टइ एहउ चुत्तु ॥ १३८ ॥

दृश्यकर्मरूपी कलंक क्षय किये हैं ऐसे जीवोंके निर्वाण होता है ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं । यहाँ पर अनंतमुखका कारण होनेसे मोक्ष ही उपादेय है ॥ १३६ ॥

इस प्रकार मोक्षका फल और मोक्ष मार्गका जिसमें कथन है ऐसा दूसरे महाधिकारमें दस दोहाओंसे मोक्षका स्वरूप दिखलाया ।

आगे मोक्षका फल अनंतचतुष्टय है यह दिखलाते हैं;—[ यस्य ] जिस मोक्षपर्यायके धारक शुद्धात्माके [ दर्शनं ज्ञानं अनंतमुखं ] केवलदर्शन केवलज्ञान अनंतमुख और अनंतवीर्य इन अनंतचतुष्टयोंको आदि देकर अनंत गुणोंका समूह [ समयं न पुट्यति ] एक समयमात्र भी नाश नहीं होता अर्थात् हमेशा अनंतगुण पाये जाते हैं । [ तस्य ] उस शुद्धात्माके [ तत् ] वही [ परं ] निश्चयसे [ शाश्वतं फलं ] हमेशा रहनेवाला मोक्षका फल [ अस्ति ] है [ द्वितीयं न ] इसके सिवाय दूसरा मोक्षरत्न नहीं है और इससे अधिक दूसरी वस्तु कोई नहीं है । भावार्थ—मोक्षका फल अनंत ज्ञानादि जानवर समस्तसारादिकका त्यागकरके उसीके लिये निरंतर शुद्धात्माकी भावना करनी चाहिये ॥ १३७ ॥

रायचंद्रजैनशास्त्रमालायाम् ।

दयात् पुनर्वीतरागचारित्ररूपं निर्विकल्पशुद्धात्ममत्तावलोकनमपि न संभवतीति भावार्थः ।  
निश्चयेनाभेदरत्नत्रयपरिणतो निजशुद्धात्मैव मोक्षमार्गो भवतीत्यस्मिन्नर्थे संवादगाथायाह ।  
“रयणत्तयं ण वट्ठइ अप्पाणं सुहत्तु अण्णदवियम्मि । तस्मा तत्तियमद्दञ्जो होदि हु मोक्खत्त  
कारणं आत्ता” ॥ १३९ ॥

अथ भेदरत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षमार्गं दर्शयति;—

॥ जं वोद्धइ व्यवहारणउ, दंसणु णाणु चरिच्चु ।  
तं परियाणहि जीव तुहं, जं परु होदि पविच्चु ॥ १४० ॥

यत् वृत्ते व्यवहारनयः दर्शनं ज्ञानं चारित्रं ।  
तत् परिजानीहि जीव त्वं येन परः भवसि पवित्रः ॥ १४० ॥

जं इत्यादि । जं यत् वुद्धइ वृत्ते । कोसौ कर्ता । व्यवहारणउ व्यवहारणयः । यत् किं  
वृत्ते । दंसणु णाणु चरिच्चु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं तं पूर्वोक्तं भेदरत्नत्रयस्वरूपं परिया-  
णहि परि समंतान् जानीहि जीव तुहं हे जीव त्वं कर्ता जिं येन भेदरत्नत्रयपरिमाणेन परु  
होदि परः उत्कृष्टो भवसि त्वं । पुनरपि किं विशिष्टस्त्वं । पविच्चु पवित्रः सर्वजनपू-  
इति । तद्यथा । हे जीव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपनिश्चयरत्नत्रयलक्षणनिश्चयमोक्षमार्ग-  
साधकं व्यवहारमोक्षमार्गं जानीहि त्वं येन ज्ञातेन कथंभूतो भविष्यसि ? परंपरया पवित्रः

आदि सात प्रकृतियोंका उपसम क्षयोपशम क्षय नहीं है तथा शुद्धात्मा ही उपादेय है  
ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन भी उनके नहीं है और चारित्रमोक्षके उदयसे वीतराग चारित्र-  
रूप निर्विकल्प शुद्धात्मका सत्तावलोकन भी कभी नहीं है । तात्पर्य यह है निश्चयकर  
अभेदरत्नत्रयको परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही मोक्षका मार्ग है । ऐसा ही द्रव्यसंप्रदाने  
साक्षीभूत गाथा कहा है । “रयणत्तयं” इत्यादि । उसका अर्थ ऐसा है कि रत्नत्रय आत्माको  
छोड़कर अन्य (दूसरी) द्रव्योंमें नहीं रहते इसलिये मोक्षका कारण उन तीनमें  
आगे भेदरत्नत्रयस्वरूप व्यवहार बढ़ परंपराय मोक्षका मार्ग है ऐसा दिखलाते हैं—

[ जीव ] हे जीव [ व्यवहारनयः ] व्यवहारनय [ यत् ] जो [ दर्शनं ज्ञानं चारित्र्यं ]  
दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनों को [ वृत्ते ] कहता है [ तत् ] उस व्यवहाररत्नत्रयको  
[ त्वं ] तू [ परिजानीहि ] जान [ येन ] जिससे कि [ परः पवित्रः ] उच्छिष्ट पवित्र  
[ भवमि ] होंगे । भावार्थ— हे जीव तू तत्त्वार्थका श्रद्धान्नाश्रक ज्ञान और अशुभ-  
क्रियाओंका त्यागरूप सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र व्यवहारमोक्षमार्गको जान क्योंकि  
ये निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयमोक्षमार्गके साधक हैं इनके ज्ञाननेमें किसी समय परमपवित्र  
रत्नमोक्ष हो जायगा । वहने व्यवहार रत्नत्रयकी मानि होजाये तब ही मोक्ष

परमात्मा भविष्यति इति । व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं कथ्यते । तथाथा । वीतराग-  
सर्वज्ञत्वानुपदङ्गत्वात्सम्यक्बुद्धिज्ञानज्ञानप्रभावानुष्ठानरूपो व्यवहारमोक्षमार्गः निजशुद्धा-  
स्वरूपबुद्धिज्ञानज्ञानानुष्ठानरूपो निश्चयमार्गः । अथवा साधको व्यवहारमोक्षमार्गः  
साधुो निश्चयमोक्षमार्गः । अत्राह शिष्यः । निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः तत्काले सविक-  
ल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति । अत्र परिहारमाह । भूतनैयमनयेन परंपरया  
भवतीति । अथवा सविकल्पनिर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा; तत्रानंतज्ञानरूपोऽङ्गि-  
त्यादि सविकल्पसाधको भवति, निर्विकल्पमसाधिरूपो साधुो भवतीति भावार्थः ॥  
सविकल्पनिर्विकल्पनिश्चयमोक्षमार्गविषये संबादगयायामाह । “अं पुन सगयं तथं सविषण्यं

मासि होमकर्ता है इसमें संदेह नहीं है । जो अनंतसिद्ध हुए और होयेंगे वे पहले  
व्यवहार रत्नत्रयको पाकर निश्चय रत्नत्रयरूप हुए । व्यवहार साधन है और निश्चयसाध्य  
है । व्यवहार निश्चयमोक्षमार्गका स्वरूप कहते हैं—वीतरागसर्वज्ञदेवके कहे हुए छह  
द्रव्य साततत्त्व नौ पदार्थ पंचासिकाय इनका भ्रद्धान इनके स्वरूपका ज्ञान और शुभ-  
क्रियाका आचरण यह व्यवहार मोक्षमार्ग है और निज शुद्ध आत्माका सम्यक् बुद्धान  
स्वरूपका ज्ञान और स्वरूपका आचरण यह निश्चयमोक्षमार्ग है । साधनके बिना सिद्धि  
नहीं होती इसलिये व्यवहारके बिना निश्चयकी प्राप्ति नहीं होती । यह कथन सुनकर  
शिष्यने प्रश्न किया कि हे प्रभो निश्चयमोक्षमार्ग जो निश्चय रत्नत्रय वह तो निर्विकल्प  
है और व्यवहार रत्नत्रय विकल्प सहित है सो यह विकल्पदशा निर्विकल्पपनेकी साधन  
कैसे होमकर्ता है इसकारण उसको साधक मत कहो । उसका समाधान करते हैं । जो  
बनादिकालका यह जीव विषय कषायोंकर मलीन होरहा है सो व्यवहारसाधनके बिना  
उज्ज्वल नहीं होसकता जब मित्यात्र अशुभ कषायादिककी क्षीणतासे देवगुरु धर्मकी श्रद्धा  
करै तत्त्वोंका ज्ञानपना होवे अशुभक्रिया मिट जावे तब गुरु वह अध्यात्मका अधिकारी  
होमकर्ता है । जैसे मलिन कपडेको धोवे तब रंगने योग्य होता है बिना धोये रंग  
नहीं लगता इसलिये परंपराय मोक्षका कारण व्यवहाररत्नत्रय कहा है । मोक्षका मार्ग दो  
प्रकार है एक व्यवहार दूसरा निश्चय, निश्चय तो साशान् मोक्षमार्ग है और व्यवहार  
परंपराय है । अथवा सविकल्प निर्विकल्पके भेदसे निश्चय मोक्षमार्ग भी दो प्रकारका  
है । जो भे अनन्यज्ञानरूप ह शुद्ध ह एक ह रेमा ‘सोह’ का चिंतवन है वह तो स-  
विकल्प निश्चयमोक्षमार्ग है उसको साधक कहते हैं और जहाँपर कुछ चिंतवन नहीं है  
कुछ सोचना नहीं है और कुछ चेष्टा नहीं है वह निर्विकल्पमसाधिरूप साधक है यह  
नापथ हुआ । इसी कथनके वारंम द्रव्यमष्टकी भाव्य देते हैं । “मा चिद्दृह” इत्यादि ।  
मागया यह ह कि हे जीव नु कुछ भी कायका चेष्टा मन कर कुछ बोधे भी मत



होइ तह य अवियणं । सवियणं सामवयं निरामयं विगयमंकणं ॥ १४० ॥ एवं पूर्व-  
एकोनविंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादनरूपेण सूत्रयं तं ।  
इदानीं चतुर्विंशसूत्रपर्यंतं व्यवहारमोक्षमार्गप्रथमावगमभूतव्यवहारसम्यक्तं मुमुक्षु-  
प्रतिपादयति । तथा;—

क दब्बइं जाणइं जह ठियइं, तहं जगि मण्णइं जो जि ।  
अप्पहं केरउ भावडउ, अविचलु दंसणु सो जि ॥ १४१ ॥

द्रव्याणि जानाति यथास्त्वितानि तथा जगति मन्यते य एव ।

आत्मनः संबन्धि भावः अविचलः दर्शनं स एव ॥ १४१ ॥

दब्बइं इत्यादि । दब्बइं द्रव्याणि जाणइं जानाति । कथंभूतानि । जहठियइं यथास्ति-  
तानि वीतरागस्वसंवेदनलक्षणस्य निश्चयसम्यग्ज्ञानस्य परंपरया कारणभूतेन परमागमज्ञाने  
परिष्ठिनतीति । न केवलं परिष्ठिनन्ति तह तथैव जगि इह जगति मण्णइं मन्यते । निज-  
सद्रव्यमेवोपादेयमिति रुचिररूपं यन्निश्चयसम्यक्तत्वं तस्य परंपरया कारणभूतेन । “पुइइं  
मदध्माएँ तथानायतानि पद् । अएँ शंकादयश्चेति दग्दोयाः पंचविंशतिः” ॥ लोकरुचि-  
पंचविंशतिसम्यक्त्वमलत्यागेन श्रद्धधातीति । एवं द्रव्याणि जानाति श्रद्धधाति । कोसो ।  
अप्पहं केरउ भावडउ आत्मनः संबन्धिभावः परिणामः । किंविशिष्टो भावः । अविचलु

मौन रह और कुछ चितवन भी मतकरै । सब बातों को छोड़ आत्मामें आसो  
लीन कर, यह ही परमध्यान है । श्रुतत्वसारमें भी सविकल्प निर्विकल्प निश्चयमोक्ष-  
मार्ग के फलमें यह गाथा कही है कि “जं पुण सगई” इत्यादि । इसका सारांश यह  
है कि जो आत्मतत्त्व है वह भी सविकल्प निर्विकल्पके भेदकर दो प्रकारका है जो  
विकल्पसहित है वह तो आसवसहित है और जो निर्विकल्प है वह आसव रहित  
है ॥ १४० ॥

इस तरह पहले महास्थलमें अनेक अंतर स्वलोंमेंसे उन्नीसदोहाओंके स्वलों तीन-  
दोहाओंसे निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गका कथन किया ।

आगे चौदह दोहापर्यंत व्यवहारमोक्षमार्गका पहला अंग व्यवहारसम्यक्त्वको मुख्यतासे  
कहते हैं;—[ य एव ] जो [ द्रव्याणि ] द्रव्योंको [ यथास्त्वितानि ] जैसा उन्ना  
स्वरूप है वैसा [ जानानि ] जानें [ तथा ] और उसी तरह [ जगति ] इस जगत्में  
[ मन्यते ] निर्दोष अज्ञान करे [ म एव ] वही [ आत्मनः ] आत्माका [ निश्चलः  
संबन्धिभावः ] चरमस्तिनावगाह दोषरहित निश्चल भाव है [ स एव ] वही आत्मभाव  
[ दर्शनं ] सम्यक् दर्शन है । भावार्थ—यह जगत् छद्द्रव्यमयी है सो इन द्रव्योंको  
अच्छी तरह जानकर अज्ञान करे त्रिगुणोंमेंसे नहीं वह सम्यक् दर्शन है यह सम्य-

अधिचलोपि चलमलिनावगाढदोपरहितः दंसणु दर्शनं सम्यक्तवं भवतीति । क एव ।  
 सो जि स एव पूर्वोक्तो जीवभाव इति । अयमत्र भावार्थः । इदमेव सम्यक्तरं चिनामणि-  
 रिदमेव कल्पवृक्ष इदमेव कामधेनुरिति मत्वा भोगाकांशाम्बरूपादिममन्त्रविकल्पजातं  
 वर्जनीयमिति । तथा शोक्तं । "हृन्ने चित्तमणिर्यस्य गृहे यस्य सुरद्रुमः । कामधेनुर्धनं यस्य  
 तस्य का प्रार्थना परा" ॥ १४१ ॥

अथ येः पट्टद्वयैः सम्यक्तवविषयभूतैस्त्रिभुवनं भूतं निष्ठति तानीहकं जानीहीत्यभिप्रायं  
 मनसि संप्रपार्य सूत्रमिदं कथयति,—

दृष्ट्वाह जाणहि ताहं छह, तिहृयणु भरिषड जेहिं ।  
 आइचिणासचियज्जियहिं, णाणिहि पभणियएहिं ॥ १४२ ॥

दर्शन आत्माका निज स्वभाव है । वीतरागनिर्विकल्प स्वभवेदन निश्चयसम्प्राप्तान उसका  
 परंपराय कारण जो परमागमका ज्ञान उससे अच्छीतरह जानें और मनमें मानें यह  
 निश्चय करै कि इन सब द्रव्योंमें निज आत्मद्रव्य ही ध्यावने योग्य है ऐसी रचिषय  
 जो निश्चयसम्यक्त्व है उसका परंपराय कारण व्यवहारसम्यक्त्व देव गुरु धर्मकी श्रद्धा  
 उसे स्वीकार करै । व्यवहारसम्यक्त्वके पचीसदोष है उनको छोड़ें । उन पचीसोंको "मूढ-  
 प्रथं" इत्यादि श्लोकमें कहा है । इसका अर्थ ऐसा है कि जहां देव कुदेवका विचार  
 नहीं है वह तो देवमूढ, जहां सुगुरु कुगुरुका विचार नहीं है वह गुरुमूढ, जहां धर्म  
 कुधर्मका विचार नहीं है वह धर्ममूढ ये तीन मूढता; और जानिमद कुलमद धनमद  
 रूपमद तपमद बलमद विद्यामद राजमद ये आठमद; कुगुरु कुदेव कुधर्म इनकी और  
 इनके आराधकोंकी जो प्रभंसा यह छह अनायतन और निःशंकादि आठ अंगोंमें  
 विपरीत शंका कांक्षा विचिक्रिस्ता मूढता परदोषकथन अधिरक्षण साधर्मियोंमें छेह  
 नहीं रखना और जिनधर्मकी प्रभावना नहीं करना ये शंकादि आठ मद इस प्रकार  
 सम्प्रदर्शनके पचीस दोष हैं । इन दोषोंको छोड़कर तत्त्वों की श्रद्धा परै यह व्यवहार  
 सम्प्रदर्शन कहाजाना है । जहां अशुचि बुद्धि नहीं है और परिणामोंकी मतिनना नहीं  
 और शिथिलता नहीं वह सम्यक्त्व है । यह सम्प्रदर्शन ही वरुणवृक्ष कामधेनु चिनामणि है  
 ऐसा जानकर भोगोंका बाढारूप जो सब विकल्प उनको छोड़कर सम्यक्त्वका श्रद्धा  
 करना चाहिये । ऐसा कहा है "हृन्ने" इत्यादि । जिसके हाथमें चिनामणि है धनमें  
 कामधेनु जिसके परमे वरुणवृक्ष है उसके अन्य क्या प्रार्थनाकी आवश्यकता ( १४२ )  
 कामधेनु चिनामणि जो वहने मात्र है सम्यक्त्व ही वरुणवृक्ष १४२ ॥ १४२ ॥  
 यह जानना ॥ १४१ ॥

द्रव्याणि जानीहि तानि पद् त्रिभुवनं भृतं यैः ।

आदिविनाशविवर्जितैः ज्ञानिभिः प्रमणितैः ॥ १४२ ॥

द्वयं इत्यादि । द्वयं द्रव्याणि जाणहि जानीहि त्वं हे प्रमाकरभट्ट ताइ तानि परमागमप्रसिद्धानि । कतिसंख्योपेतानि । छहं पडेव । यैः द्रव्यैः किं कृतं । तिद्दुयणु भरियउ त्रिभुवनं भृतं जेहिं यैः कर्तृभूतैः । पुनरपि किंविशिष्टैः । आद्विणासविवर्जितैः । पुनरपि कथंभूतैः । णाणिहि पमणियंएहिं ज्ञानिभिः प्रमणितैः कथितैश्चेति । अयमत्रामिप्रायः । एतैः पद्धिद्रव्यैर्निष्पन्नोऽयं लोको नचान्यः कोपि लोकस्य हर्ता कर्ता रक्षको वास्तीति । किं च । यद्यपि पद्द्रव्याणि व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतानि भवंति तथापि शुद्धनिश्चयेन शुद्धात्मानुभूतिरूपस्य वीतरागसम्यक्त्वस्य नित्यानेदैकस्यभावो निजशुद्धात्मैव विषयो भवतीति ॥ १४२ ॥

भय तेषामेव पद्द्रव्याणां संज्ञां चेतनाचेतनविभागं च कथयति;—

जीउ सचेयणु दव्यु मुणि, पंच अचेयण अण्ण ।

पुग्गलु घम्माहम्मु णहु, काले सद्दिपा भिण्ण ॥ १४३ ॥

जीवः सचेतनं द्रव्यं मन्यस्य पंच अचेतनानि अन्यानि ।

पुद्गलः धर्माधर्मा नभः कालेन सहितानि भिन्नानि ॥ १४३ ॥

जीउ इत्यादि । जीउ सचेयणु दव्यु चिदानंदैकस्यभावो जीवधेतनाद्रव्यं भयति मुणि मन्दस्य जानीहि त्वं पंच अचेयण पंचाचेतनानि अण्ण जीवादन्यानि । तानि कानि । पुग्गलु घम्माहम्मु णहु पुद्गलधर्माधर्मनभानि । कथंभूतानि तानि । काले सद्दिपा

आगे मध्वरन्दके कारण जो छह द्रव्य हैं उनमे यह तीनलोक भरा हुआ है उनही वशार्थ जानो ऐसा अनिप्राय मनमें रखकर यह गाथाएव कहते हैं;—हे प्रमाकर भट्ट तू [ तानि पद्द्रव्याणि ] उन छहों द्रव्यों को [ जानीहि ] जान कि [ यैः ] त्रिन द्रव्योंमें [ त्रिभुवनं भृतं ] यह तीनलोक भर रहा है ये छह द्रव्य [ ज्ञानिभिः ] ज्ञानियोंने [ आदिविनाशविवर्जितैः ] आदि धेतकर रहित द्रव्याधिकनयमे [ प्रमणितैः ] कहे हैं । भावार्थ—यह लोक छह द्रव्योंमें भरा है अनादि निधन है इस लोकका आदि भंग नहीं है तथा इसका कर्ता हर्ता व रक्षक कोई नहीं है । यद्यपि ये छह द्रव्य व्यवहारसम्यक्त्वके कारण हैं नही नही शुद्ध निश्चयनयकर शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतरागसम्यक्त्वका कारण नित्य अनंद स्वभाव निजशुद्धात्मा ही है ॥ १४२ ॥

आगे उन छह द्रव्योंके नाम कहते हैं;—हे शिष्य तू [ जीवः सचेतनद्रव्यं ] जीव सचेतनद्रव्य है ऐसा [ मन्यस्य ] जन [ अन्यानि ] को। वही [ पुद्गलः धर्माधर्मा ] पुद्गल धर्म अधर्म [ नभः ] आकाश [ कालेन सहितानि ] को। वही सद्दिपा जो [ पंच ]

कालद्रव्येण सहितानि । पुनरपि कथंभूतानि । भिण्ण स्वकीयस्वक्रीयलक्षण्येन परस्परमि-  
 त्तानि इति । तथाहि । द्विधा सम्यक्त्वं भण्यते सरागवीतरागभेदेन । सरागसम्यक्त्वलक्षणं  
 कथ्यते । प्रथमसंवेगानुकंपास्विक्रामिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते तदेव व्यवहारस-  
 म्यक्त्वमिति तस्य विषयभूतानि पद्द्रव्याणीति । वीतरागसम्यक्त्वं निजगुणात्मानुभूतिलक्षणं  
 वीतरागचारिप्राविनाभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वमिति । अथाह प्रभाकरभट्टः । निजगुणात्मै-  
 वोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्वं भवद्भिः इदानीं  
 पुनः वीतरागचारिप्राविनाभूतं निश्चयसम्यक्त्वं व्याख्यातमिति पूर्वापरविरोधः । कर्मादि-  
 तिचेत् । निजगुणात्मैवोपादेय इति रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थकरपरमदेव-  
 भरतसगररामपांडवादीनां विद्यते न च तेषां वीतरागचारित्रमस्तीति परस्परविरोधः अस्ति  
 चेत्तर्हि तेषामसंयतत्वं कथमिति पूर्वपक्षः । तत्र परिहारमाह । तेषां गुणान्मोपादेयभावना-  
 रूपं निश्चयसम्यक्त्वं विद्यते परं किंतु चारित्रमोहोदयेन स्थिरता नाम्नि प्रत्यतिष्ठाभंगो  
 भवतीति तेन कारणेनामंयता वा भण्यंते । गुणात्मभावनान्युताः संगः भरतादयो निर्दोषि-

पांच हैं वे [ अचेतनानि ] अचेतन हैं और [ अन्यानि ] जीवसे भिन्न हैं तथा ये सब  
 [ मिथ्यानि ] अपने २ लक्षणोंसे आपसमें भिन्न ( जुदेर ) हैं, काल सहित एह द्रव्य हैं  
 कालके बिना पांच अस्त्रिकाय हैं । भावार्थ—सम्यक्त्व दो प्रकारका है एक सराग-  
 सम्यक्त्व दूसरा वीतरागसम्यक्त्व, सरागसम्यक्त्वका लक्षण कहते हैं । प्रथम अर्थात्  
 रानिपना, संवेग अर्थात् जिनपर्मकी रुचि तथा जगतमें अरुचि, अनुकंपा परभीषोकी  
 दुस्ती देखकर दया भाव और आस्तिक्य अर्थात् देव गुरु धर्मकी तथा एह द्रव्योंकी  
 श्रद्धा ये चारोंका होना यह व्यवहारसम्यक्त्वरूप सरागसम्यक्त्व है । और वीतराग-  
 सम्यक्त्व जो निश्चयसम्यक्त्व कह निजगुणात्मानुभूतिरूप वीतरागचारित्रसे सन्मयी है ।  
 यह कथन सुनकर प्रभाकर भट्टने मंशन किया । हे प्रभो निजगुणात्मा ही उपादेय है  
 ऐसी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व का कथन पहले सुमने अनेकवार किया फिर अब वीतरा-  
 गचारित्रसे सन्मयी निश्चयसम्यक्त्व है यह व्याख्यान करते हैं यह तो पूर्वापर विरोध  
 है । क्योंकि जो निजगुणात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व तो गुरुस्य  
 अवस्थामें तीर्थकर परमदेव भरतचक्रवर्ती सगरचक्रवर्ती और रामपांडवादिक बड़े २ दुरु-  
 थोके रहता है लेकिन उनके वीतरागचारित्र नहीं है । यही परस्पर विरोध है । यदि  
 उनके वीतरागचारित्र माना जावे तो गृहस्थपना क्यों कहा । यह प्रश्न किया । उसका उत्तर  
 भीगुरु कहते हैं । उन महान ( बड़े ) पुण्योके गुणात्मा उपादेय है ऐसी भावन रूप  
 निश्चय सम्यक्त्व तो है परन्तु चारित्रमोहक उदयमें स्थिरता नहीं है अबक गृहावनका  
 उदय नहीं है तबतक अभ्यसनी कहलाते हैं गुणात्माकी अभ्यस ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०

परमात्मनामर्हन्तिद्वानां गुणस्ववस्तुस्वस्वरूपस्ववनादिकं कुर्वन्ति । तस्मिन्पुराणादिकं च समाकर्णयन्ति तद्वाराधकपुराणानाचार्योपाध्यायमाधूनां विषयकपायदुर्ध्यानवचनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थं च दानभूजादिकं कुर्वन्ति तेन कारणेन शुभरागयोगान् सरागमभ्यस्तृष्टो भवन्ति । या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्वमंत्रा वीतरागचारित्राविनामूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परंपरया साधकत्वादिति । वस्तुवृत्त्या तु तत्सम्यक्त्वं सरागमभ्यस्तृष्टानां व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थः ॥ १४३ ॥

अथानंतरं सूत्रचतुष्टयेन जीवादिपद्भ्याणां क्रमेण प्रत्येकं लक्षणं कथ्यते;—

मुक्तिविहृणउ णाणमउ, परमाणंदसहाउ ।

णियमिं जोइय अप्पु मुणि, णिणु णिरंजणु भाउ ॥ १४४ ॥

मूर्तिविहीनः ज्ञानमयः परमानंदस्वभावः ।

नियमेन योगिन् आत्मानं मन्यस्य नित्यं निरंजनं मात्रम् ॥ १४४ ॥

मुक्तिविहृणउ इत्यादि । मुक्तिविहृणउ अमूर्तशुद्धात्मनो विलक्षणया स्वशरीरसंग्रहवर्जना मूर्त्यां विहीनत्वान् मूर्तिविहीनः णाणमउ कमकरणव्यवधानरहितेन लोकाद्योच्छ्रमाश्रयेन परमज्ञानेन निवृत्तत्वात् ज्ञानमयः परमाणंदसहाउ वीतरागपरमानंदैकरूपमुत्पाद्यवरमा-  
म्यादेन ममरमीभावापरिणतस्वरूपत्वान् परमानंदस्वभावः णियमिं शुद्धनिश्चयेन जोइय हे योगिन् अप्पु तमित्यंभूलमात्मानं मुणि मन्यस्य जानीहि त्वं । पुनरपि किंवित्तिं जानीहि । णिणु शुद्धव्यार्थिकनयेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावव्याप्तिव्यं । पुनरपि किं

सगर रायच पाठवादिः; निशेष परमात्मा अर्हंत सिद्धोके गुणस्ववन वस्तुस्वरूप रूप श्रोत्रादि करने हैं और उनके चारित्र्यपुराणादिक मुनने हैं तथा उनकी आशके आशाधक जो मदान पुरय आचार्य उपाध्याय माधु उनको मक्तिमें आहारदानादि करने हैं पूजा करते हैं । विषय कपाय रूप सोटे ध्यानके शोकनेके त्रिये तथा ममारकी स्थिति के माशु करनेके त्रिये ऐसी शुभकिया करने हैं । इगतिये शुभरागके संवधमे सम्भारदष्टि हे और इनके निश्चय सम्यक्त्व भी कदा जगमकता हे क्योंकि वीतरागचारित्रमे मन्नेर निश्चय सम्यक्त्वके परपराय साधकपता हे । अथ वास्तवमे (अमदमे) विचारा जमे ही मृद्वन अवन्तने इनके सरागमभ्यवन ही हे और जो सरागमभ्यवन हे वह पारदा ही हे ऐसा जमे ॥ १४३ ॥

विनिष्टं । शिरोमंजु मिथ्यात्वरागारिस्पांजनरहितत्वाभिरंजनं । पुनश्च कथंभूतमात्मानं  
जानीति । भाउ भावं विनिष्टपदार्थं इति । अत्रैवं गुणविनिष्टः शुद्धात्मैवोपादेय अन्यद्वे-  
दमिति तात्पर्यार्थः ॥ १४४ ॥

अथ,—

पुग्गलु छन्नियहु मुत्तु घट, इयर असुत्तु पियाणि ।

धम्माधम्मुवि गइठियहिं, कारणु पभणहिं णाणि ॥ १४५ ॥

पुद्गलः पट्टिधः मूर्तः वत्स इतराणि अमूर्तानि विजानीहि ।

धर्माधर्ममपि गतिस्वित्योः कारणं प्रभणंति ज्ञानिनः ॥ १४५ ॥

पुग्गलु इत्यादि । पुग्गलु पुद्गलद्रव्यं छन्नियहु पट्टिधं । तथा चोक्तं । “पुढवी जलं च  
एया चउरिंदियपिगय कम्मपाउग्गा । कम्मातीदा एवं छम्भेया पुग्गला होंनि” । एवं  
मत्कथं भवति । मुत्तु स्पर्शरसगंधवर्णवती मूर्तिरिति वचनान्मूर्तं घट वत्स पुत्र इयर  
इतराणि पुद्गलाद् शेषद्रव्याणि अमुत्त स्पर्शोद्यभावादमूर्तानि पियाणि विजा-  
नीहि त्वं धम्माधम्मुवि धर्माधर्मद्वयमपि गइठियहिं गतिस्वित्योः कारणु कारणं  
निमित्तं पभणहिं प्रभणंति कथयंति । के कथयंति । णाणि वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनः  
इति । अत्र द्रष्टव्यं । यद्यपि वसुधृषभनाराचमंहननरूपेण पुद्गलद्रव्यं मुक्तिगमनकाले महका-

[ भावं ] ऐसा जीवपदार्थ है । भावार्थ—यह आत्मा, अमूर्तीक शुद्धात्मासे भिन्न जो  
स्पर्श रसगंधवर्णवाली मूर्ति उससे रहित है, लोक अलोकका प्रकाश करनेवाले केवल-  
ज्ञानकर पूर्ण है जो कि केवलज्ञान सब पदार्थोंको एक समयमें प्रत्यक्ष जानता है आगे  
पीछे नहीं जानता, वीतरागभाव परमानंदरूप अतीन्द्रियसुखस्वरूप अमृतके रसके स्वादसे  
समरसी भावको परिणत हुआ है ऐसा है योगी शुद्धनिश्चयसे अपने आत्माको ऐसा समझ  
शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे विना टाकीका घड्या हुआ सुपटघाट ज्ञायक स्वभाव नित्य है । तथा  
मिथ्यात्वरागादिरूप अंजनसे रहित निरंजन है । ऐसे आत्माको तू भली भांति जान सब  
पदार्थोंमें उत्कृष्ट है । इन गुणोंसे मंडित शुद्ध आत्मा ही उपादेय है और सब तजने  
योग्य हैं ॥ १४४ ॥

आगे फिर भी कहते हैं;—[ हे वत्स ] हे वत्स तू [ पुद्गलः ] पुद्गलद्रव्य [ पट्टिधः ]  
छे प्रकार तथा [ मूर्तः ] मूर्तीक है [ इतराणि ] अन्य सब द्रव्य [ अमूर्तानि ] अमूर्त है  
ऐसा [ विजानीहि ] जान [ धर्माधर्ममपि ] धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्योंको  
[ गतिस्वित्योः कारणं ] गति स्वितिका सहायककारण [ ज्ञानिनः ] केवली श्रुतकेवली  
[ प्रभणंति ] कहते हैं । भावार्थ—पुद्गल द्रव्यके छह भेद दूसरी जगह भी “पुढवी  
जल” इत्यादि गाथासे कहे हैं । उसका अर्थ यह है कि बादर बादर १ बादर २ बाद-

रिकारणं भवति तथापि धर्मद्रव्यं च गतिमहकारिकारणं भवति, अधर्मद्रव्यं च लोकाभि-  
 स्थितस्य स्थितिसहकारिकारणं भवति । यद्यपि मुक्तात्मप्रदेशमध्ये परस्परैकश्रेत्रावगाहेन  
 तिष्ठन्ति तथापि निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मनः सकाशाद्भिन्नस्वरूपेण मुक्तौ  
 तिष्ठन्ति । तथात्र संसारे चेतनाकारणानि हेयानीति भावार्थः ॥ १४५ ॥

अथ;—

द्वयद्वं सयलद्वं वरि टियद्वं, णिधर्मिं जासु वसन्ति ।  
 तं णहु दव्यु वियाणि तुहुं, जिणवर एउ भणन्ति ॥ १४६ ॥  
 द्रव्याणि सकलानि उदरे स्थितानि नियमेन यस्य वसन्ति ।  
 तन् नमः द्रव्यं विजानीहि त्वं जिनवरा एतद् भणन्ति ॥ १४६ ॥

द्वयद्वं द्रव्याणि । कतिमंरयोपेतानि । सयलद्वं समन्तानि उवरि उदरे टियद्वं स्थितानि  
 णियमं निभयंन जामु यस्य वसन्ति आधाराधेयभावेन तिष्ठन्ति तं तन् णहु दव्यु नम

रमूक्ष्म ३ सूक्ष्मवादर ४ सूक्ष्म ५ सूक्ष्ममूक्ष्म ६ ये छद्द भेद पुद्गलके हैं । उनमेंसे पत्थर  
 फाट हृण आदि पृष्ठी वादर वादर हैं टुकड़े होकर नहीं जुड़ते, जल घी नैत्र आदि वादर  
 हैं जो टूटकर मिल जाते हैं, छाया आतप चांदनी ए वादर सूक्ष्म हैं जो कि देखनेमें  
 तो वादर धौर ग्रहण करनेमें मूक्ष्म हैं, नेत्रको छोड़कर चार इंद्रियोंके विषय रसगंधादि  
 मूक्ष्म वादर हैं जो कि देखनेमें नहीं आते और ग्रहण करनेमें आते हैं, कर्मसंगी  
 मूक्ष्म हैं जो अनेत्र मिली हुई है परंतु दृष्टिमें नहीं आती धौर मूक्ष्ममूक्ष्म परमाणु है  
 विभक्ता दृग्ग माग नहीं होता । इस तरह छद्द भेद हैं । इन छद्दोत्तरहके पुद्गलोंको तू  
 अपने स्वरूपमें जुड़े समझ । यह पुद्गलद्रव्य स्वशरीर गंध वर्णको धारण करता है इसलिये  
 मूर्च्छा है अन्य धर्म अधर्म दोनों गति तथा स्थितिके कारण है ऐसा वीतरागदेवने कहा  
 है । यहाँपर एक बात देखनेकी है कि यद्यपि वज्रवृषभनाराचमंहनरूप पुद्गलद्रव्य मोक्षके  
 गन्तका सहायक है इसके बिना मुक्ति नहीं होगीकी लीभी धर्मद्रव्य गति सहाई है इसके  
 बिना मिदलोच्छको जाना नहीं होमकता तथा अधर्मद्रव्य मिदलोच्छमे स्थितिका सहाई है ।  
 कोऽद्विस्तरण आकाशके प्रदेश अवकाशमें सहाई है । अनेने मिद्व अपने प्रभावमें ही  
 उदरे हुए है परद्रव्यका बृष्टमयोजन नहीं है । यद्यपि मुलात्माश्रीके प्रदेश आरगमें दृक्-  
 जगद् है लीभी विशुद्धज्ञान दर्शन भाव भगवान मिदलोच्छमे निज निज स्थित है कोई  
 मिद्व द्विमी मिद्वमे प्रदेशोच्छ निजः दुःखा नहीं है । पुद्गलादि पाषाण द्रव्य लीवको यद्यपि  
 स्थितिक कारण बड़े मय है लीभी उपासन कारण नहीं है ऐसा भावना दृग्ग । १४५ ॥

आकाशद्रव्यं विद्याणि विजानीहि तुहं त्वं हे प्रभाकरभट्ट जिणवरा जिनवराः वीतराग-  
सर्वज्ञाः एउ भणंति एतद्भणंति कथयंतीति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यद्यपि परस्परैकभ्रेत्रा-  
वगाहेन तिष्ठत्याकाशं तथापि साक्षादुपादेयभूतादर्नंतमुखस्वरूपात्परमात्मनः सकाशादत्यंत-  
भिन्नत्वाद्देयमिति ॥ १४६ ॥

अथ,—

कालु मुणिज्जहि दव्यु तुहं, घट्टणलक्खणु एउ ।

रयणहं रासि विभिण्ण जिम, तसु अणुअहं तह भेउ ॥ १४७ ॥

कालं मन्यस्व द्रव्यं त्वं वर्तनालक्षणं एतत् ।

रत्नानां राशिः विभिन्नः यथा तस्य अणूनां तथा भेदः ॥ १४७ ॥

कालु इत्यादि । कालु कालं मुणिज्जहि मन्यस्व जानीहि । किं जानीहि । दव्यु  
कालसंज्ञं द्रव्यं । कथंभूतं । घट्टणलक्खणु वर्तनालक्षणं स्वयमेव परिणममानानां द्रव्याणां  
पहिरंगसहकारिकारणं । किंवदिति येन । कुंभकारपत्रम्यापसनशिलावदिति एउ एतत्  
प्रत्यक्षीभूतं तस्य कालद्रव्यस्यामंल्लयेयप्रमितस्य परस्परभेदविषये दृष्टान्तमाह । रयणहं रासि  
रत्नानां राशिः । कथंभूतः । विभिन्नः विशेषेण स्वरूपव्यवधानेन भिन्नः तस्य तस्य कालद्र-  
व्यस्य अणुअहं अणूनां कालाणूनां तह तथा भेउ भेदः इति । अत्राह शिष्यः । समय एव  
निश्चयकालः अन्यनिश्चयकालसंज्ञं कालद्रव्यं नास्ति । अत्र परिहारमाह । समयमाव्य-

आधेयरूप होकर रहती हैं [ त्वं ] उसको [ त्वं ] तू [ नमो द्रव्यं ] आकाशद्रव्य  
[ विजानीहि ] जान [ एतत् ] ऐसा [ जिनवराः ] जिनेंद्रदेव [ भणंति ] कहते हैं ।  
लोकाकाश आधार है अन्य सब द्रव्य आधेय हैं । भावार्थ—यद्यपि ये सब द्रव्य आका-  
शमें परस्पर एक क्षेत्रावगाहसे ठहरी हुई हैं सींभी आत्मासे अत्यंत भिन्न हैं इसलिये  
त्यागने योग्य हैं और आत्मा साक्षात् आराधने योग्य है अनंतमुखस्वरूप है ॥ १४६ ॥

आगे कालद्रव्यका व्याख्यान करने हैं;—[ त्वं ] हे भव्य तू [ एतत् ] इस प्रत्यक्षरूप  
[ वर्तनालक्षणं ] वर्तनालक्षणवालेको [ कालं ] कालद्रव्य [ मन्यस्व ] जान अर्थात् अपने  
आप परिणमते हुए द्रव्योंको कुम्हारके चक्की नीचेकी सिलाकी तरह पहिरंग सहकारी  
कारण है यह कालद्रव्य असंख्यात प्रदेश प्रमाण है [ यथा ] जैसे [ रत्नानां राशिः ]  
रत्नोंकी राशि [ विभिन्नः ] जुदे रूप है सब रत्न जुदे २ रहते हैं मिलते नहीं हैं [ तथा ]  
उसीतरह [ तस्य ] उसकालके [ अणूनां ] कालकी अणुओंका [ भेदः ] भेद है एक  
कालाणूसे दूसरी कालाणू नहीं मिलता । यद्यत्पर शिष्यने प्रश्न किया कि समय ही निश्चय-  
काल है अन्य निश्चयकाल नामवाला काल द्रव्य नहीं है उसका श्रीगुरु समाधान करते हैं ।  
समय है वह कालद्रव्यकी पर्याय है क्योंकि विनाशको क्षण है । ऐसा ही अर्थात्कि-



अथ जीवपुद्गलौ सक्रिया धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि निःक्रियाणीति प्रतिपादयति,—

द्वय चचारिवि इयर जिय, गमणागमणविहीण ।

जीउवि पुग्गलु परिहरिवि, पभणाहिं णाणिपवीण ॥ १४१ ॥

द्रव्याणि चत्वारि एव इतराणि जीव गमनागमनविहीनानि ।

जीवोपि पुद्गलः परिहृत्य प्रभणंति ज्ञानिप्रवीणाः ॥ १४१ ॥

द्वय इत्यादि । द्वय द्रव्याणि । कतिमंग्योपेनानि एव । चचारिवि चत्वारि चत्वारि जीवपुद्गलाभ्यामितराणि जिय हे जीव । कथंमृतान्येतानि । गमणागमणविहीण गमनागमनविहीनानि निःक्रियाणि चलनक्रियाविहीनानि । किंहुन्वा । जीउवि पुग्गलु परिहरिवि जीवपुद्गलौ परिहृत्य पभणाहिं एवं प्रभणंति कथयंति । के ते । णाणिपवीण भेदभेदरत्नत्रयाराधकाविवेकिन इत्यर्थः । तथाहि । जीवानां संसारावस्थायां गतेः महत्कारणभूताः कर्मनोकर्मपुद्गलाः कर्मनोकर्माभावात्स्मिद्धानां निःक्रियत्वं भवति पुद्गलस्कंदानां तु कालानुरूपं कालद्रव्यं गतेर्बहिर्गतिमित्तं भवति । अनेन किमुक्तं भवति । अविभागव्यवहारकालसमयोत्पत्तौ मंदगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुः घटोत्पत्तौ कुंभकारवद्बहिर्गतिनिमित्तं व्यंजको व्यक्तिकारको भवति । कालद्रव्यं तु मूर्तिपटवदुपादानकारणं भवति । तस्य तु पुद्गल-

आगे जीव पुद्गल ये दोनों चलनहलनादि क्रिया युक्त हैं और धर्म अधर्म आकाश काल ये चारों निःक्रिय हैं ऐसा निरूपण करते हैं;—[हे जीव] हे हंस [जीव अपि पुद्गलः] जीव और पुद्गल इन दोनोंको [परिहृत्य] छोड़कर [इतराणि] दूसरी [चत्वारि एव द्रव्याणि] धर्मादि चारों ही द्रव्य [गमनागमनविहीनानि] चलन हलनादि क्रिया रहित हैं जीव पुद्गल क्रियावंत हैं गमनागमन करते हैं ऐसा [ज्ञानिप्रवीणाः] ज्ञानियोंमें चतुर रत्नत्रयके धारक केवली श्रुतकेवली [प्रभणंति] कहते हैं । भावार्थ—जीवोंके संसार अवस्थामें इस गतिसे अन्य गतिके जानेको कर्म नोकर्म जातिके पुद्गल सहाई हैं । और कर्म नोकर्मके अभावसे सिद्धोंके निःक्रियपना है गमनागमन नहीं है । पुद्गलके स्कंदोंको गमनका बहिर्गतिमित्तकारण कालानुरूप कालद्रव्य है । इससे क्या अर्थ निकला । यह निकला कि निश्चय कालकी पर्याय जो समयरूप व्यवहारकाल उसकी उत्पत्तिमें मंदगतिरूप परिणत हुआ अविभागी पुद्गलपरमाणु कारण होता है । समयरूप व्यवहार कालका उपादानकारण निश्चय काल द्रव्य है उसीकी एक समयादि व्यवहारकालका मूलकारण निश्चयकालानुरूप काल द्रव्य है उसीकी एक समयादि पर्याय है पुद्गल परमाणुकी मंदगति बहिर्गति निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं है पुद्गल परमाणु आकाशके प्रदेशमें मंदगतिमें गमन करना है यदि तीव्र गतिमें चले तो एक समयमें चौदह राजू जाता है जेमें घटपर्यायका उत्पत्तिमें मूलकारण तो मटीक

परमाणोर्मंदगतिगमनकाले यद्यपि धर्मद्रव्यं सहकारिकारणमस्ति तथापि कालानुरूपं निश्च-  
यकालद्रव्यं च सहकारिकारणं भवति । सहकारिकारणानि तु घहन्यपि भवन्ति मत्स्यानां  
धर्मद्रव्ये विद्यमानेषु जलवन् घटोत्पत्तौ कुम्भकारबहिरंगनिमित्तेषु चक्रचीवरादिवन् जीवानां  
धर्मद्रव्ये विद्यमानेषु कर्मनोकर्मपुद्गला गतेः सहकारिकारणं पुद्गलानां तु कालद्रव्यं गतेः  
सहकारिकारणं । कुत्र भणितमान्ने इति चेत् । पंचास्तिकायप्राभृते श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवैः  
सक्रियनिःक्रियव्याख्यानकाले भणितमस्ति । “जीवा पुग्गलकाया सह सकिरिया हवन्ति  
ण य मेसा । पुग्गलकरणा जीवा खंदा गलु कालकरणेहि” ॥ पुद्गलस्कंधानां धर्मद्रव्ये  
विद्यमानेषु जलवन् द्रव्यकालो गतेः सहकारिकारणं भवतीत्यर्थः । अत्र निश्चयनयेन

डला है और बहिरंग कारण कुम्हार है जैसे समयपर्यायकी उत्पत्तिमें मूलकारण तो  
कालानुरूप निश्चय काल है और बहिरंगनिमित्त कारण पुद्गलपरमाणु है । पुद्गलपरमाणुकी  
मंदगतिरूप गमन समयमें यद्यपि धर्मद्रव्य सहकारी है तौभी कालानुरूप निश्चयकाल  
परमाणुकी मंदगतिका सहाई जानना । परमाणुके निमित्तसे तो कालका समय पर्याय  
प्रगट होता है और कालके सहायसे परमाणु मंदगति करता है । कोई प्रश्न करे कि  
गतिका सहकारी धर्म है कालको क्यों कहा । उसका समाधान यह है कि सहकारी  
कारण बहुत होते हैं और उपादानकारण एक ही होता है दूसरा द्रव्य नहीं होता निज  
द्रव्य ही निज ( अपनी ) गुणपर्यायिका मूलकारण है और निमित्तकारण बहिरंगकारण तो  
बहुत होने हैं इसमें कुछ दोष नहीं है । धर्म द्रव्य तो सषटीका गतिसहाई है परंतु  
गछलीबोको गतिसहाई जल है तथा घटकी उत्पत्तिमें बहिरंग निमित्त कुम्हार है तौभी दंड  
चक्र चीवरादिक ये भी अवश्य कारण हैं इनके बिना घट नहीं होता । और जीवोंके  
धर्मद्रव्य गतिकी सहाई विद्यमान है तौभी कर्म नोकर्म पुद्गल सहकारी कारण है इसीतरह  
पुद्गलको कालद्रव्य गतिसहकारी कारण जानना । यहा कोई प्रश्न करे कि धर्म द्रव्य  
तो गतिका सहाई सब जगह कहा है और कालद्रव्य घर्तनाका सहाई है गति सहाई  
किसजगह कहा है । उसका समाधान धीपंचास्तिकायमें कुंदकुंदाचार्यने क्रियावंत और  
अक्रियावंतके व्याख्यानमें कहा है । “जीवा पुग्गल” इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है  
कि जीव और पुद्गल ये दोनों क्रियावंत हैं और वाकीके चार द्रव्य अक्रियावाले हैं चलन  
हलन क्रियासे रहित हैं । जीवको दूसरी गतिमें गमनका कारण कर्म है वट पुद्गल है  
और पुद्गलको गमनका कारण काल है । जैसे धर्म द्रव्यके मौजूद होनेपर भी मच्छोंको  
गमनसहाई जल है उसीतरह पुद्गलको धर्म द्रव्यके होनेपर भी द्रव्यकाल गमनका सहकारी  
कारण है । यहा निश्चयनपर गमनादि क्रियासे रहित निःक्रिय सिद्धस्वरूपके समान  
निःक्रिय निर्द्वन्द्व निज शुद्धात्मा ही उपादेश है यह नामका तात्पर्य हुआ । इसी प्रकार

निःक्रियसिद्धस्वरूपममानं निजमुद्धात्मद्रव्यमुपादेयमिति तात्पर्यं । तथाचोक्तं निश्चयननेन निःक्रियजीवलक्षणं “यावत्क्रियाः प्रवर्तते तावद्द्वैतस्व-गोचरः । अद्वये निष्कले प्राणे निःक्रियस्य कुतःक्रिया” ॥ १४९ ॥

अथ पंचास्तिकायमूचनार्थं कालद्रव्यमप्रदेशं विहाय कस्य द्रव्यस्य कियंतः प्रदेशाः भवन्तीति कथयति;—

धम्माधम्मुवि एह्यु जिउ, ए जि असंखपदेस ।

गयणु अणंतपणसु मुणि, बहुविह पुग्गलदेस ॥ १५० ॥

धर्माधर्मा अपि एकः जीवः एतानि एव असंख्यप्रदेशानि ।

गगनं अनेतप्रदेशं मन्यस्य बहुविधाः पुद्गलप्रदेशाः ॥ १५० ॥

धम्माधम्मुवि इत्यादि । धम्माधम्मुवि धर्माधर्मद्वितयमेव एह्यु जिउ एको विरभित्तो जीवः ए जि एतान्येव त्रीणि द्रव्याणि असंख्यपणसु अमन्येयप्रदेशानि भवन्ति गयणु गगनं अणंतपणसु अनंतप्रदेशं मुणि मन्यस्य जानीहि बहुविह बहुविधा भवन्ति । के ते । पुग्गलदेस पुद्गलप्रदेशाः । अथ पुद्गलद्रव्यप्रदेशविषयश्रया प्रदेशाज्ज्येन परमाणवो प्राणाः

दूगरे संघोमे भी निधयकर हलन चरनादि क्रिया रहित जीवका लक्षण कहा है । “यावत्क्रिया” इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जब तक इस जीवके हलन चलनादि क्रिया हैं तब तक दूगरेको जाना है तब तक दूगरे द्रव्यका संबंध है जब दूगरेका संबंध निरा धरेन हुआ तब निकल अर्थात् शरीरमे रहित निःक्रिय है उसके हलन चरनादि क्रिया कहासे होगयी है अर्थात् मंगारी जीवके कर्मके संबंधमे गगन है गिद्ध भगवान कर्म रहित निःक्रिय हैं उनके गगनागमन क्रिया कभी नहीं होगी ॥ १४९ ॥

अग्रे पंचास्तिकायके प्रगट करनेके लिये काठ द्रव्य अपदेशीको छोड़कर अन्य पंच-द्रव्योकेके विमके कितने प्रदेश हैं यह कहने हैं;—[ धर्माधर्मा ] धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य [ अत्र एकः जीवः ] और एक जीव [ एतानि एव ] इन तीनों ही को [ असंख्य प्रदेशानि ] अनन्यत्र प्रदेशों [ मन्यस्य ] न जान [ गगनं ] आकाश [ अणंतप्रदेशं ] अनेतप्रदेशों है [ पुद्गलप्रदेशाः ] और पुद्गलके प्रदेश [ बहुविधाः ] बहुत प्रकारके हैं परन्तु तो एक प्रदेशों है और संबंध मन्वयान प्रदेश अमन्वयान प्रदेश तथा अनेत प्रदेशों को होते हैं । साकार्य—गगनमे धर्म द्रव्य तो एक ही है, वह अमन्वयान प्रदेशों है, जसके द्रव्य तो एक है अमन्वयान प्रदेशों है, जीव अनेत है तो एक २ जीव अमन्वयान प्रदेशों है, अणंतप्रदेश एक ही है वह अनेतप्रदेशों है ऐसा जानो । पुद्गल एक प्रमाणमे तेकर अनेत प्रदेशों है । एक परमाणु तो एक प्रदेशों है और तब २ परमाणु मिलीके एक है दोने २ परमाणु को बहिन एक है व मन्वयान अमन्वयान अनेत प्रदेशोंके आने,

न च क्षेत्रप्रदेशा इति । कस्मात् । पुद्गलस्थानंतक्षेत्रप्रदेशाभावादिति । अथवा पाठांतरं । 'पुग्गलु तिविहु पण्मु' पुद्गलद्रव्ये संख्यातासंख्यातानंतरूपेण त्रिविधाः प्रदेशाः परमाणवो भवन्तीति । अत्र निश्चयेन द्रव्यकर्माभावादमूर्ता मिथ्यात्वरगादिरूपभावकर्ममंकल्पविकल्पाभावान् शुद्धा लोकाकाशप्रमाणेनासंख्येयाः प्रदेशाः यस्य शुद्धात्मनः स शुद्धात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिपरिणतिकाले साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥ १५० ॥

अथ लोके यद्यपि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठन्ति द्रव्याणि तथापि निश्चयेन संकरव्यतिकरपरिहारेण कृत्वा स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न लजंतीति दर्शयति;—

लोयागासु धरेवि जिय, कहियइं दव्यइं जाइं ।

एकहिं मिलियइं इत्यु जगि, सगुणहिं णिचसहिं ताइं ॥ १५१ ॥

लोकाकाशं घृत्वा जीव कथितानि द्रव्याणि यानि ।

एकत्वे मिलितानि अत्र जगति स्वगुणेषु निवसन्ति तानि ॥ १५१ ॥

लोयागासु इत्यादि । लोयागासु लोकाकाशं कर्मतापन्नं धरेवि घृत्वा मर्यादीकृत्वा जिय हे जीव अथवा लोकाकाशमाभासीकृत्वा ठियाइं आधेयरूपेण स्थितानि । यानि स्थितानि । कहियइं दव्यइं जाइं कथितानि जीवादिद्रव्याणि यानि । पुनः कथंभूतानि ।

अनंत परमाणू इकट्ठे होवें तब अनंत प्रदेश कहे जाते हैं । अन्य द्रव्योंके तो विस्ताररूप प्रदेश हैं और पुद्गलके स्कंधरूप प्रदेश हैं । पुद्गलके कथनमें प्रदेश राइसे परमाणू लेना क्षेत्र नहीं लेना पुद्गलका प्रचार लोकमें ही है अलोकाकाशमें नहीं है इसलिये अनंत क्षेत्र प्रदेशके अभाव होनेसे क्षेत्र प्रदेश न जानने । जैसे २ परमाणू मिलजाते हैं वैसे २ प्रदेशोंकी बढवारी जाननी । इसी दोहाके कथनमें पाठांतरमें "पुग्गलु तिविहु पण्मु" ऐसा है उसका अर्थ यह है कि पुद्गलके संख्यात असंख्यात अनंत प्रदेश परमाणुओंके मेलसे जानने चाहिये अर्थात् एक परमाणू एक प्रदेश बहुत परमाणू बहुत प्रदेश यह जानना । रूपमें शुद्ध निश्चयनयकर द्रव्यकर्मके अभावसे यह जीव अमूर्ताक है और मिथ्यात्वरगादिरूप भावकर्म संकरव्य विकल्पके अभावसे शुद्ध है लोकाकाशप्रमाण असंख्यात प्रदेशवाला है ऐसा जो निजशुद्धात्मा वही वीतरागनिर्विकल्पसमाधिदशाने साक्षात् उपादेय है यह जानना ॥ १५० ॥

आगे लोकमें यद्यपि व्यवहारनयकर ये सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाहमें तिष्ठते हैं तो भी निश्चयनयकर कोई द्रव्य किसीमें नहीं मिलना और कोई भी अपन २ स्वरूपको नहीं छोड़ता है ऐसा दिखलाने हे,—[ हे जीव ] हे जीव [ अत्र जगति ] इस समारम्भे [ यानि द्रव्याणि कथितानि ] जो द्रव्य कहे गये हैं [ तानि ] वे सब [ लोकाकाशं

एकहिं मिलियइं एकत्वे मिलितानि । इत्थु जगि अत्र जगति सगुणहिं पिबनहिं  
 निअवनयेन स्वकीयगुणेषु निवमंति 'सगुणहिं' तृतीयांतं करणपदं स्वगुणेष्वधिकरणं एवं  
 जानमिति । ननु कथितं पूर्वं प्राकृते कारकव्यभिचारो लिंगव्यभिचारश्च क्वचिद्भवति ।  
 क्वानि निवमंति । नाइं तानि पूर्वोक्तानि जीवादिपद्द्रव्याणीति । तथाया । यद्यपुपरिह-  
 मद्भूतव्यवहारेणाधाराधेयभावेनैकभेदावगाहेन तिष्ठति तथापि शुद्धपारिणामिकभावात्प्रा-  
 शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन संकरव्यतिकरपरिहारेण स्वकीयस्वकीयमामान्यविशेषगुणगुणात् तत्र-  
 टंति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । हे भगवन् लोकस्त्वावदसंख्यातप्रदेशः परमागमे भवति  
 तिष्ठति तत्रामंश्यातप्रदेशलोके प्रत्येकं प्रत्येकममंशेयप्रदेशान्यनंतजीवद्रव्याणि, तत्र वैकं  
 जीवद्रव्ये कर्मनोऽकर्मरूपेणानंतानि पुद्गलपरमाणुद्रव्याणि च तिष्ठति तेभ्योऽनंतगुणाभि-  
 वेदगुणद्रव्यानि तिष्ठति तानि सर्वोप्यमंशेयप्रदेशलोके कथमवकाशं लभंते इति पूरेणः ।  
 भगवन् परिहारात् । अत्रगाहनशक्तियोगादिति । तथाहि । यथैकस्मिन् गुडनागरमगला-  
 लके मस्यमस्यप्रमाणुरनेमंश्यातप्रभितान्यवकाशं लभंते । अथवा यथैकस्मिन् प्रदीपप्रकाशे  
 कश्चैऽपि प्रदीपप्रकाशा अवकाशं लभंते । अथवा यथैकस्मिन् भग्मपट्टे जलपट्टः मस्यम-  
 कश्चैऽपि लभते । अथवा यथैकस्मिन् भूमिगृहे बहवोऽपि पट्टहजयपंटादिगन्ताः मस्यमवकाशं  
 लभंते यथैकस्मिन् लोके विविष्टावगाहनशक्तियोगान् पूर्वोक्तानंतमंश्या जीवपुद्गल अवकाशं  
 लभंते न च विरोधः इति । तथा शोकं जीवानामवगाहनशक्तिसत्त्वं परमागमे । "एत-

निगोदसरीरे जीवा दृष्यन्मानसो दिष्टः । सिद्धेहि अणंतगुणा मन्त्रेण विनीदकालेन ॥  
 पुनस्तयोक्तं पुद्गलानामवगाहनशक्तिस्वरूपं । “ओगादगादणिचिदां पुमान्काण्दि मन्त्रो  
 लोको । मुहुमेहि धादरेहि य णंताणंतेहि विविहेहि” । अयमत्र भावार्थः । यद्यप्येकाव-  
 गाहेन निष्ठंति तथापि शुद्धनिश्चयेन जीवाः केवलज्ञानाणनंतगुणस्वरूपं न त्यजंति पुद्गला-  
 वर्णादिस्वरूपं न त्यजंति शेषद्रव्याणि च स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजंति ॥ १५१ ॥

अथ जीवस्य व्यवहारेण शेषपंचद्रव्यकृतमुपकारं कथयति, तस्मैव जीवस्य निश्चयेन  
 तान्येव दुःखकाण्डानि च कथयति,—

एयहं दृष्यहं देहिपहं, णिघणिघकञ्जु जणंति ।

चउगाइदुक्खल सहंत जिप, ते संमाम भमंति ॥ १५२ ॥

एतानि द्रव्याणि देहिनां निजनिजकार्यं जनयंति ।

चतुर्गतिदुःखं सहमानाः जीवाः तेन संसारं भ्रमंति ॥ १५२ ॥

एयहं इत्यादि । एयहं एतानि दृष्यहं जीवादन्यद्रव्याणि देहिपहं देहिनां समारि-

जगह पाता है, अथवा जैसे एक राखके पड़ेमें जलका पड़ा अच्छी तरह अवकाश पाता  
 है उसमें जल शोषित हो जाता है, अथवा जैसे एक उटनीके दूधके पड़ेमें घाहनका  
 पड़ा समा जाता है, अथवा एक भूमिपरमें होल घंटा आदि बहुत बाजोंका शब्द अच्छी  
 तरह समाजाता है उसीतरह एक लोक आकाशमें विद्विष्ट अवगाहन शक्तिके योगसे  
 अनंतजीव और अनंतानंत पुद्गल अवकाश पाते हैं इसमें विरोध नहीं है । और जैसे  
 परस्पर अवगाहन शक्ति है । ऐसा ही कथन परमागममें कहा है—“एगारिगोद”  
 इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि एक निगोदिया जीवके शरीरमें जीव द्रव्यके प्रमाणसे  
 दिखलाए गये जिनसे सिद्ध हैं उन सिद्धोंसे अनंतगुणे जीव एक निगोदियाके शरीरमें है  
 और निगोदियाका शरीर अंगुलके असंख्यातवें भाग है सो ऐसे सूक्ष्म शरीरमें अनंत  
 जीव समा जाते हैं तो लोकाकाशमें समाजानेका क्या अपेक्षा है । अनंतानंत पुद्गल लोका-  
 काशमें समा रहे हैं उसकी “ओगाद” इत्यादि गाथा है । उसका अर्थ यह है कि सबद्वार  
 सब जगह यह लोक पुद्गल बाधोकर अवगाहगाह भरा है ये पुद्गल काय अनेक हैं अनेक  
 प्रकारके भेदको धरते हैं कोई सूक्ष्म है कोई घादर है । तापर्यं यह है कि यद्यपि सब द्रव्य  
 एक शेषावगाहक रहते हैं तौनी शुद्धनिश्चयतयकर जीव केवलज्ञानादि अनंतगुणस्वरूप  
 अपने स्वरूपको नहीं छोड़ते हैं पुद्गलद्रव्य अपने वर्णादि स्वरूपको नहीं छोड़ते और  
 वर्णादि अन्य द्रव्य भी अपने - स्वरूपको नहीं छोड़ते हैं ॥ १५१ ॥

अपने शरीरके अवगाहनकरके अन्य शरीरोंके द्रव्य उपकार करे । जो सबद्वारों में  
 उसी शरीरके निश्चयसे । ही दुःखके कारण है एना क न ह { एगारिगोद

जीवानां । किं कुर्वन्ति । णियणियकञ्जु जणंति निजनिजकार्यं जनयन्ति येन कारणे  
 निजनिजकार्यं जनयन्ति चउगइदुकर सहेतं जिय चतुर्गतिदुःखं सहमानाः संतो जी-  
 वं संसारं भ्रमन्ति तेन कारणेन संसारं भ्रमन्तीति । तथा च । पुट्टलसावजीवस्य संस-  
 रितिविदग्धनविभावपरिणामरतस्य व्यवहारेण शरीरवाङ्मनःप्राणापाननिष्पत्तिं करोति  
 धर्मद्रव्यं चोपचरिमासन्नतत्र्यवहारेण गनिसहकारित्वं करोति, तथैवाधर्मद्रव्यं मितिसह-  
 रित्वं करोति, तेनैव व्यवहारनयेन आकाशद्रव्यमवकाशदानं ददाति, तथैव कालद्रव्यं  
 शुभानुभपरिणामसहकारित्वं करोति । एवं पंचद्रव्याणामुपकारं लब्ध्वा जीवो निश्चय-  
 शररत्रयभावनायुनःसन् चतुर्गतिदुःखं सहत इति भावार्थः ॥ १५२ ॥

अथैवं पंचद्रव्याणां स्वरूपं निश्चयेन दुःखकारणं ज्ञात्वा हे जीव निजशुद्धामो-  
 भनशाने मोक्षमार्गं शीयत इति निरूपयति,—

**दुःखग्रहं कारणं सुणियि जिय, द्रव्यहं एहू महाउ ।  
 होययि सुखग्रहं मग्गि लहु, गम्मिज्जइ परलोउ ॥ १५३ ॥**

दुःखस्य कारणं मत्वा जीव द्रव्याणां इमं समावम् ।  
 मृगा मोक्षस्य मार्गं लघु गम्यते परलोकः ॥ १५३ ॥

दुःखग्रहं कारणं दुःखस्य कारणं सुणियि मत्वा ज्ञात्वा जिय हे जीव । किं दुःख-  
 कारणं ज्ञानम् । द्रव्यहं एहू महाउ द्रव्याणामिमं शरीरवाङ्मनःप्राणापाननिष्पत्त्यवधारितक-

[ द्रव्याणि ] द्रव्य [ देहिनां ] जीवोक्तं [ निजनिजकार्यं ] अपने २ कार्यको [ जनयन्ति ]  
 उत्पन्ने दे [ तेन ] इम कारण [ चतुर्गतिदुःखं ] सहमानाः जीवाः ] नकारि क-  
 र्त्तव्येहे दुःखो मत्ते ह्य जीव [ संसारं ] संसारं [ भ्रमन्ति ] मत्कते दे । मारार्थ-  
 ये द्रव्य ये जीवहा उपहार करने हे उमको दिमयाने हे । पुट्टल तो आत्मज्ञान-  
 रितिके दिमव परिणामोने लीन ह्य अज्ञानी जीवके व्यवहारनयकर शरीर बचन क-  
 र्त्तव्यस्य इन चगेही उपनि करना हे अथंम् निष्पत्त्य अपन कयाव रागद्वेष-  
 दिमव परिणाम हे इन दिमवपरिणामोके योगमे जीवके पुट्टलहा संबन्ध हे धीर पुट्टल-  
 मंकेसे ये हे, धर्मद्रव्य उपचरिमासन्न व्यवहारनयकर गनिसहाई हे. अपने द्रव्य-  
 मिति मत्कते हे. व्यवहार नयकर आकाश द्रव्य अवकाश ( जगद् ) देना हे को-  
 कारद्रव्य ह्य अणुन परिणामोके मद् हे हे । इस मद् ये पाव द्रव्य मत्कते हे ।  
 ह्य अणुन नयकर ये हे इ निश्चय व्यवहार नयकर ही भावनामे संज्ञक मद् ही हे ह्य-  
 चो मत्ते हे दुःखो मत्ते ह्य मत्तने मत्कते हे मद् भावने मद्भा ॥ १५३ ॥

अथैवं पंचद्रव्याणां स्वरूपं निश्चयेन दुःखकारणं ज्ञात्वा हे जीव निजशुद्धामो-  
 भनशाने मोक्षमार्गं शीयत इति निरूपयति,—

पूर्वाणाम्नाभावं पुद्गलादिपंचद्रव्यत्वभावं दुःखस्य कारणं ज्ञात्वा । किं क्रियते । होयवि भूत्वा । क । मोक्षार्हं मग्निं मोक्षस्य मार्गं लघु लघु शीघ्रं पश्चात् गमिष्ये गम्यते । क । कर्मतापत्रः । परलोउ परलोको मोक्ष इति । तथाहि । धीतरागसदानंदैकस्याभाविक-सुखविपरीतस्याकुलत्वोपादकस्य दुःखस्य कारणानि पुद्गलादिपंचद्रव्याणि ज्ञात्वा हे जीव भेदाभेदरसत्रयस्वरूपं मोक्षस्य मार्गं स्थित्वा परः परमात्मा तस्यावलोकनमनुभवनं परमसम-रसीभावेन परिणमनं परलोको मोक्षमात्र गम्यत इति भावार्थः ॥ १५३ ॥

अथेदं व्यवहारेण मया भणितं जीवद्रव्यादिप्रदानरूपं सम्यग्दर्शनमिदानीं सम्यग्ज्ञानं पारित्रं च हे प्रभाकरभट्ट शृणु स्वमिति मनसि धृत्या सूत्रमिदं प्रतिपादयति;—

णियमिं कहियउ एहु मइं, व्यवहारेणयि दिट्ठि ।

एवहिं णाणु चरित्तु सुणि, जिं पावहिं परमेट्ठि ॥ १५४ ॥

नियमेन कथिता एषा मया व्यवहारेणैव दृष्टिः ।

इदानीं ज्ञानं चारित्रं शृणु येन प्राप्नोषि परमेष्टिम् ॥ १५४ ॥

णियमे नियमेन निश्चयेन कहियउ कथिता एहु मइ एषा कर्मतापत्रा मया । केनैव । व्यवहारेणयि व्यवहारनयेनैव । एषा क । दिट्ठि दृष्टिः । दृष्टिः कोर्धः सम्यक्त्वं एवहिं इदानीं णाणु चरित्तु सुणि हे प्रभाकरभट्ट क्रमेण ज्ञानचारित्रद्वयं शृणु । येन ध्रुतेन किं भवति । जें पावहिं येन सम्यग्ज्ञानचारित्रद्वयेन प्राप्नोषि । किं प्राप्नोषि । परमेष्टि परमे-ष्टिपदं मुक्तिपदमिति । अतो व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतानां द्रव्याणां चूलिकारूपेण ध्याख्यानां

इमं स्वमात्रं ] परद्रव्योके ये स्वभाव [ दुःखस्य ] दुःखके [ कारणं मत्वा ] कारण जान-कर [ मोक्षस्य मार्गं ] मोक्षके मार्गमें [ भूत्वा ] लगकर [ लघु ] शीघ्र ही [ परलोकः गम्यते ] उत्कृष्ट लोक रूप मोक्षमें जाना चाहिये । भावार्थ—पहले कहेगये पुद्गलादि द्रव्योंके सहाय दारीर बचन मन श्वासोश्वास आदिक ये सब दुःखके कारण हैं क्योंकि धीतराग सदा आनंदरूप स्वभावकर उरस जो अतींद्री सुख उससे विपरीत आकुलताके उपजानेवाले है ऐसा जानकर हे जीव तू भेदाभेद रसत्रयस्वरूप मोक्षके मार्गमें लगकर परमात्माका अनुभव परमसमरसीभावसे परिणमन रूप मोक्ष उसमें गमन कर ॥ १५३ ॥

आगे व्यवहारनयसे मैंने ये जीवादि द्रव्योंके प्रदानरूप सम्यग्दर्शन कहा है अब सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको हे प्रभाकर भट्ट तू सुन ऐसा मनमें रखकर यह दोहा-सूत्र कहते हैं;—हे प्रभाकर भट्ट [ मया ] मैंने [ व्यवहारेणैव ] व्यवहारनयसे तुझको [ एषा दृष्टिः ] ये सम्यग्दर्शनका स्वरूप [ नियमेन कथिता ] अच्छीतरह कहा [ इदानीं ] अब तू [ ज्ञानं चारित्रं ] ज्ञान और चारित्रको [ शृणु ] सुन [ येन ] जिसके धारण करनेसे [ परमेष्टिं प्राप्नोषि ] सिद्धपरमेष्टीके पदको पावे । भावार्थ—व्यवहार सम्यक्त्वके



क्रियते । तद्यथा । “परिणाम जीव मुक्तं सपदेसं ण्य वित्त किरिया य । णिषं कारण इत्ता सच्चवर्गदं इदरक्खि यपवेसो” । परिणाम इत्यादि । ‘परिणाम’ परिणामिनो जीवपुद्गलै स्वभावविभावपरिणामाभ्यां शेषचत्वारि द्रव्याणि जीवपुद्गलवद्विभोवव्यंजनपर्यायामात्र मुख्यवृत्त्या पुनरपरिणामीनि इति, ‘जीव’ शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं शुद्धै- तन्यं प्राणशब्देनोच्यते तेन जीवतीति जीवः व्यवहारनयेन पुनः कर्मादयजनितद्रव- मावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जावति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः पुद्गलादिपंचद्रव्यानि पुनरजीवरूपाणि, ‘मुक्तं’ अमूर्तशुद्धालनो विलक्षणा स्पर्शरसगंधवर्णवती मूर्तिरुच्यते - क्ल- ङ्गावाम्मूर्तः पुद्गलः जीवद्रव्यं पुनरनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण मूर्तमपि शुद्धनिश्चयनयेनान्नी- धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चामूर्तानि, ‘सपदेसं’ लोकमात्रप्रमितामन्वयेयप्रदेशरूपं जीवद्रव्यमादिं कृत्वा पंचद्रव्याणि पंचास्तिकायसंज्ञानि सप्रदेशानि कालद्रव्यं पुनरैतद्वि- द्भ्रणकायत्वाभावादप्रदेशं, ‘ण्य, द्रव्यार्थिकनयेन धर्माधर्माकाशद्रव्याण्यैकानि भवति जीवपुद्गलकालद्रव्याणि पुनरनेकानि भवन्ति, ‘स्वैत्त’ सर्वद्रव्याणामवकारादानमामर्ष्यं श्रेयमाकारामकं शेषपंचद्रव्याण्यश्रेयाणि, ‘किरिया य’ क्षेत्रात्क्षेत्रांतरगमनरूपा परिपुद्गली पञ्चनग्नी क्रिया सा विद्यते ययौसी क्रियावंतौ जीवपुद्गलौ धर्माधर्माकाशकालद्रव्यानि पुनर्निष्क्रियाणि, ‘णिषं’ धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि यण्यप्यर्थपर्यायत्वेनानित्यानि तपन्ति

कारण भूत एव द्रव्योंका सागोपांग व्याख्यान करते हैं “परिणाम” इत्यादि भाष्यमें । इगच्छा अर्थ यह है कि इन एव द्रव्योंमें विभावपरिणामके परिणमनेवाले जीव को पुद्गल दोही हैं अन्य चार द्रव्य अपने स्वभावरूप तो परिणमते हैं लेकिन जीव पुद्गली तरह विभाव व्यंजन पर्यायके अभावसे विभावपरिणमन नहीं है इसलिये मुख्यतः परि- णामी दो द्रव्य ही कहे हैं, शुद्ध निश्चय नयकर शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो शुद्ध चैतन्य- ज्ञान उनमें जीवता है जीवेगा पहले जी आया धोर व्यवहार नयकर इंद्री वर आधुन- कोन्यम रूप द्रव्यप्राणोकर जीता है जीवेगा पहले जी बुका इगच्छिये जीवको ही जी- कता गया है अन्य पुद्गलादि पाच द्रव्य अजीव हैं, स्पर्शरसगंधवर्णवली मूर्ति मूर्ति- मूर्तिव एव पुद्गलद्रव्य ही है अन्य पाच अमूर्तक है । उनमेंसे धर्म अधर्म आकार- काल वे चारों ही प्रत्यक्षमें अमूर्तक हैं तथा जीवद्रव्य अनुपचरित अमूर्त आकार- नयकर मूर्तक भी कता जाता है क्योंकि शरीरको धारण कर रहा है तीनी शुद्ध- कदरकर अमूर्तक ही है, लोक प्रमाण अमर्त्यान प्रदेशी जीवद्रव्यको यदि लेखा- पाच द्रव्य संक्रियाय है वे सप्रदेशी है को। काशद्रव्य बहुपदसमभावकावना व- हरेके अद्वेदी है, वन व्यंजन आकार मर्त्यान द्रव्य एक एक है जो। जीव पुद्गल- कद वे मर्ती अद्वेदी है । जीव नः मनन है पुद्गल मनननन है चान आकारवत है

शुभ्रवृत्त्या विभाव्यजनपर्यायाभावान् नित्यानि । द्रव्याधिकनयेन च जीवपुद्गलद्रव्ये  
 पुनर्यद्यपि द्रव्याधिकनयापेक्षया नित्ये तथाप्यगुरुलघुपरिणतिरूपस्वभावपर्यायापेक्षया  
 विभाव्यजनपर्यायापेक्षया चानित्ये, 'कारण' पुद्गलधर्माधर्माकाशाकालद्रव्याणि व्यवहारनयेन  
 जीवस्य शरीरवाह्यनःप्राणापानादिगतिभिन्ववगाहवर्तनाकार्याणि कुर्वन्ति इति कारणानि  
 भवन्ति जीवद्रव्यं पुनर्यद्यपि गुरुशिव्यादिरूपेण परस्पररोपमहं करोति तथापि पुद्गलादिपंच-  
 द्रव्याणां किमपि न करोतीत्यकारणं, 'कृत्ता' शुद्धपारिणामिकपरमभावप्रादुर्भावेण शुद्धद्रव्याधि-  
 कनयेन यद्यपि बंधमोक्षद्रव्यभावरूपः पुण्यपापपटपटादीनामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनिश्चयेन  
 शुभानुभोपयोगाभ्यां परिणतःमन् पुण्यपापबंधयोःकर्ता तत्कलभोक्ता च भवति विशुद्धज्ञान-  
 दर्शनम्यभावनिशुद्धालसद्रव्यमभ्यधुद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन तत्परिणतः सन्  
 मोक्षस्यापि कर्ता तत्कलभोक्ता च । शुभानुभुद्वयपरिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं सर्वत्र  
 ज्ञानव्यमिति । पुद्गलादिपंचद्रव्याणां च स्वकीयस्वकीयपरिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वं ।  
 वस्तुवृत्त्या पुनः पुण्यपापादिरूपेणाकर्तृत्वमेव, 'सव्यगदं' लोकालोकव्याप्त्यपेक्षया सर्वगत-  
 माशानं भण्यते धर्माधर्मो च लोकव्याप्त्यपेक्षया जीवद्रव्यं तु पुनरेकैकजीवापेक्षया लोकपू-

सब द्रव्योंको अवकाश देने समर्थ एक आकाश ही है इसलिये आकाश क्षेत्र फटागया  
 है बाकी पांच द्रव्य अक्षेत्री हैं, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गमन करना यह चलन हलन-  
 वर्ती क्रिया कही गई है यह क्रिया जीव पुद्गल दोनोंके ही है और धर्म, अधर्म आकाश  
 काल चार द्रव्य निष्क्रिय हैं जीवोंमें भी संसारी जीव हलनचलनवाले हैं इसलिये  
 क्रियावंत हैं और सिद्ध परमेष्ठी निःक्रिय हैं उनके हलन चलन क्रिया नहीं है, द्रव्याधि-  
 कनयसे विचारा जावे तो सभी द्रव्य नित्य हैं और अधर्पर्याय जो पद् गुणी हानि  
 वृद्धिरूप स्वभावपर्याय है उसकी अपेक्षा सब ही अनित्य हैं तौभी विभाव्यजनपर्याय जीव  
 और पुद्गल इन दोनोंकी है इसलिये इन दोनोंको ही अनित्य कहा है अन्य चार द्रव्य  
 विभावके अभावसे नित्य ही हैं इसकारण यह निश्चयसे जानना कि चार नित्य हैं दो  
 अनित्य हैं तथा द्रव्यकर सब ही नित्य हैं कोई भी द्रव्य विनश्वर नहीं है, जीवको पांचों  
 ही द्रव्य कारणरूप हैं पुद्गल तो शरीरादिकका कारण है धर्म अधर्मद्रव्य गति स्थिति  
 के कारण हैं आकाशद्रव्य अवकाश देनेका कारण है और काल वर्तनाका सहाई है ।  
 ये पांचों द्रव्य जीवको कारण हैं और जीव उनको कारण नहीं है । यद्यपि जीवद्रव्य  
 अन्य जीवोंको गुरु शिव्यादिरूप परम्पर उपकार करता है तौभी पुद्गलादि पांचद्रव्योंको  
 अकारण है और ये पांचो कारण हैं, शुद्ध पारिणामिक परमभावप्रादुर्भावेण शुद्धद्रव्याधिक  
 नयकर यह जीव यद्यपि बंध मोक्ष पुण्य पापका कर्ता नहीं है तौभी अशुद्ध निश्चयनयकर  
 शुभ अशुभ उपयोगोंमें पाण्डित्य हुआ पुण्य पापके बंधका कर्ता होता है और उनके

निर्विकल्पसमाधिकाले बहिरूपयोगो यद्यप्यनीहितस्तथापीहापूर्वकविकल्पामावादीनन्वन्ति  
कृत्वा स्वसंवेदनज्ञानमेव ज्ञानमुच्यते ॥ १५५ ॥

अथ स्वपरद्रव्यं ज्ञात्वा रागादिरूपपरद्रव्यविषयसंकल्पविकल्पत्यागेन स्वस्वरूपे अवस्थानं  
ज्ञानिनां चारित्रमिति प्रतिपादयति;—

ॐ जाणवि मण्णवि अप्पु परु, जो परमाउ चएइ ।

सो णिउ सुद्धउ भावडउ, णाणिहिं चरणु हवेइ ॥ १५६ ॥

ज्ञात्वा मत्त्वा आत्मानं परं यः परमावं त्यजति ।

स निजः शुद्धः भावः ज्ञानिनां चरणं भवति ॥ १५६ ॥

जाणवि इत्यादि । जाणवि सम्यग्ज्ञानेन ज्ञात्वा न केवलं ज्ञात्वा मण्णवि तत्त्वार्थ-  
श्रद्धानलक्षणपरिणामेन मत्त्वा श्रद्धाय । कं । अप्पु परु आत्मानं च परं च जो यः कर्त्ता  
परमाउ परमावं चएइ त्यजति सो स पूर्वोक्तः णिउ निजः सुद्धउ भावडउ शुद्धो  
भावः णाणिहिं चरणु हवेइ ज्ञानिनां पुरुषाणां चरणं भवतीति । तद्यथा । वीतरागमद-  
जानंदैकस्वभावं स्वद्रव्यं तद्विपरीतं परद्रव्यं च संशयविपर्ययानध्यवसायरहितेन ज्ञानेन  
पूर्वं ज्ञात्वा शंकादिदोषरहितेन सम्यक्त्वपरिणामेन श्रद्धाय च यः कर्त्ता मायानिध्यानिदान-  
नशत्यप्रभृतिमस्त्रिंताजालत्यागेन निजशुद्धात्मस्वरूपे परमानंदमुत्तरसाक्षाद्गुणो भूत्वा  
तिष्ठति स पुरुष एवाभेदेन निश्चयचारित्रं भवतीति भावार्थः ॥ १५६ ॥ एवं मोक्षमोक्ष-

निश्चय सम्यग्ज्ञान है । व्यवहारसम्यग्ज्ञान तो परंपराय मोक्षका कारण है और निश्चय  
सम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्षका कारण है ॥ १५५ ॥

आगे निजपर द्रव्यको जानकर रागादिरूप जो परद्रव्यमें संकल्पविकल्प है उनके  
त्यागसे जो निजस्वरूपमें निश्चलता वही ज्ञानी जीवोंके सम्यक् चारित्र है ऐसा कहते  
हैं;—सम्यग्ज्ञानसे [ आत्मानं च परं ] आपको और परको [ ज्ञात्वा ] जानकर और  
सम्यग्दर्शनसे [ मत्त्वा ] आपपरकी प्रतीति करके [ यः ] जो [ परमावं ] परमासको  
[ त्यजति ] छोड़ता है [ सः ] वह [ निजः शुद्धः भावः ] आत्माका निज शुद्ध भाव  
[ ज्ञानिनां ] ज्ञानीपुरुषोंके [ चरणं ] चारित्र [ भवति ] होता है । भावार्थ—वीतराग  
सहजानंद अद्वितीय स्वभाव जो आत्मद्रव्य उममें विपरीत पुद्गलादि परद्रव्योंको सम्य-  
ग्दर्शनसे पहचने तो जानें वह सम्यग्ज्ञान मगय निमोद और विभ्रम इन तीनोंमें रहित है ।  
तथा शंकादि दोषोंमें रहित जो सम्यग्दर्शन है उममें आप परकी श्रद्धा करे अच्छीतरह  
अनके प्रतीति करे और माया निश्चय निदान इन तीन शक्तियोंको आदि देकर मगध  
चित्तमगधके त्यागसे निज शुद्धात्म स्वरूपमें निष्ठे है, वह परम आनंद अनींद्रिय गुण-  
रमके आनंदमें दृप्त हुआ पुरुष ही अनेकनवमें निश्चय चारित्र है ॥ १५६ ॥

फलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुच्यन्वेन सूत्र  
प्रथं पदद्वयभङ्गानलक्षणं व्यवहारसम्यक्प्रव्याख्यानमुच्यन्वेन सूत्राणि चतुर्दश, सम्य  
गज्ञानचारित्र्यमुच्यन्वेन सूत्रद्वयमिति समुदायेनैकोनविंशतिगुणमूलं समामं ।

अथानंतरमभेदरत्नप्रयव्याख्यानमुच्यन्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते तत्रादौ तावत् रत्नप्रयमप  
भव्यजीवस्य लक्षणं प्रतिपादयति:—

जो भक्तउ रयणत्तयहं, तसु मुणि लक्षणु णु ।

अप्या मिद्धियि गुणणिलउ, तासुयि अणु ण झेउ ॥ १५.७ ॥

यः भक्तः रत्नप्रयस्य तस्य मन्यस्य लक्षणं इदम् ।

आत्मानं मुक्त्वा गुणनित्यं तस्यैव अन्यन् न ध्येयम् ॥ १५.७ ॥

जो इत्यादि । जो यः भक्तउ भक्तः । कस्य । रयणत्तयहं रत्नप्रयसंयुक्तस्य जीवस्य  
मुणि मन्यस्य जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । किं जानीति । लक्षणु लक्षणं णु इदमे  
वक्ष्यमाणं । इदं किं । अप्या मिद्धियि आत्मानं मुक्त्वा । किं विधिः । गुणणिलउ  
गुणनित्यं गुणणहं तासुयि तस्यैव जीवस्य अणु ण झेउ निश्चयेनागृहीतं न ध्येयं न  
भवतीति । तथाहि । व्यवहारेण बीतरागतवैशंपरीतमुद्गागमस्यप्रसूतियद्दृश्यवर्तमाना-

इस प्रकार मोक्ष, मोक्षका फल, मोक्षका मार्ग इनको बहनेवाले दूसरे महाधिकारमें  
निश्चयव्यवहार रूप निर्वाणके पंधकी मुख्यतासे तीन दोहाओंमें व्याख्यान विधा की।  
पौदह दोहाओंमें पद द्वयकी सद्धारूप व्यवहार सम्यक्त्वका व्याख्यान विधा तथा दो  
दोहाओंमें सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र्यकी मुख्यतासे वर्णन विधा । इसप्रकार लक्ष्मण  
दोहाओंका स्वल पूरा हुआ ।

आगे अभेद रत्नप्रयके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठ दोहागूत्र बहते हैं उनमेंसे पहले  
रत्नप्रयका भक्त भव्यजीव हे उमका लक्षण बहते हैं:—[ यः ] ओ जीव [ रत्नप्रयस्य  
भक्तः ] रत्नप्रयका भक्त है [ तस्य ] उसका [ इदं लक्षणं ] यह लक्षण [ मन्यस्य ]  
जानना हे प्रभाकर भट्ट रत्नप्रय धारकके ये लक्षण हैं कि [ गुणनित्यं ] गुणोंके सदा  
[ आत्मानं मुक्त्वा ] आत्माको छोड़कर [ तस्यैव अन्यन् ] आत्मासे अन्य कुछ दूसरे

यसप्ततत्त्वनवपदार्थविषये सम्यक् श्रद्धानज्ञानाहिंसादिप्रतशीलपरिपालनरूपस्य भेदरत्न-  
त्रयस्य निश्चयेन वीतरागसदानन्दैकरूपमुखगुधारसाखादपरिणतनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्-  
श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपस्याभेदरत्नत्रयस्य च योसौ भक्तस्तस्येदं लक्षणं जानीहि । इदं किं ।  
यद्यपि व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां चित्तस्थितिकरणार्थं देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेष-  
फारणं परंपरया शुद्धात्मप्राप्तिहेतुभूतं पंचपरमेष्टिरूपस्तत्रवस्तुस्तत्रगुणस्तत्रादिकं वचनेन  
स्तुत्यं भवति मनसा च तद्गुरुरूपादिकं प्राथमिकानां ध्येयं भवति तथापि पूर्वोक्तनिश्चय-  
रत्नत्रयपरिणतिकाले केवलज्ञानाद्यनंतगुणपरिणतस्वशुद्धात्मैव ध्येय इति । अत्रेदं तात्पर्यं ।  
योसावनंतज्ञानादिगुणः शुद्धात्मा ध्येयो भणितः स एव निश्चयेनोपादेय इति ॥ १५७ ॥

अथ ये ज्ञानिनो निर्मलरत्नत्रयमेवात्मानं मन्यन्ते शिवशब्दवाच्यं ते मोक्षपदारोपकाः  
संतो निजात्मानं ध्यायंतीति निरूपयति;—

जे रयणत्तउ णिम्मलओ, णाणिय अप्पु भणंति ।

ते आराह्य सिवपयहं, णियअप्पा झायंति ॥ १५८ ॥

ये रत्नत्रयं निर्मलं ज्ञानिनः आत्मानं भणंति ।

ते आराधकाः शिवपदस्य निजात्मानं ध्यायंति ॥ १५८ ॥

जे इत्यादि । ये केचन रयणत्तउ रत्नत्रयं । कथंभूतं । णिम्मलउ निर्मलं रागादि-

हर परिणत हुआ । उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अभेदरत्नत्रय है उसका जो  
भक्त ( आराधक ) उसके ये लक्षण हैं यह जानो । ये कौनसे लक्षण हैं—यद्यपि व्यवहार  
नयकर सविकल्प अवस्थामें चित्तके स्थिर करनेके लिये पंचपरमेष्टीका स्तवन करता है जो  
पंचपरमेष्टीका स्तवन देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि विभूतिका कारण है और परंपरया शुद्ध आत्म-  
तत्त्वकी प्राप्तिका कारण है सो प्रथम अवस्थामें मध्यजीवोंको पंच परमेष्टी ध्यावने योग्य है  
उनके आत्माका स्तवन गुणोंकी स्तुति वचनमें उनकी अनेक तरहकी स्तुति करनी और  
मनमें उनके नामके अक्षर तथा उनका रूपादिक ध्यावने योग्य है सो भी पूर्वोक्त निश्चय-  
रत्नत्रयकी प्राप्तिके समय केवलज्ञानादि अनंत गुणरूप परिणत जो निजशुद्धात्मा वही  
आगधने योग्य है अन्य नहीं । तात्पर्य यह है कि ध्यान करने योग्य या सो निज आत्म  
या पंचपरमेष्टी है अन्य नहीं सो प्रथम अवस्थामें सो पंच परमेष्टीका ध्यान करना  
योग्य है और निर्विकल्पदगामें निजस्वरूप ही ध्यावने योग्य है निजस्वरूप ही उपदेश  
है ॥ १५७ ॥

अने जो ज्ञानी निर्मलरत्नत्रयको ही आत्मस्वरूप मानते हैं और अपनेको ही शिव  
ध्यावने हैं वे ही शिवपदके धारक हुए, निज आत्माको ध्यावने हैं ऐसा निरूपण करते  
हैं । [ निर्मल ] जो ज्ञानी [ निर्मलं रत्नत्रयं ] निर्मलं रागादि मोक्षहित रत्न-



भाकरमहः । अयोक्तं भवद्भिः य एव शुद्धात्मत्वात् न तु एव मोक्षं यन्नि रस्ये ।  
 चारित्रमागदौ पुनर्भवितां द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा ध्यात्वा कान्तज्ञानसुखात्कं-  
 यत्र विषये अग्राहकं संदेहोऽस्ति । अत्र भीरोगीन्द्रेयाः परिहारमाहुः । तत्र इव-  
 माणुगच्छेन द्रव्यमूहमन्त्रं भावपरमाणुगच्छेन भावमूहमन्त्रं प्रायं न च पुनश्च-  
 णुः । तथायोक्तं सर्वाभंगिद्विद्विपणिके । द्रव्यपरमाणुगच्छेन द्रव्यमूहमन्त्रं भाव-  
 माणुगच्छेन भावमूहमन्त्रमिति । तथा । द्रव्यमानुगच्छेन तस्य परमाणुगच्छेन मूह-  
 माह्या । सा च रागादिविकल्पोपाधिर्हिता तस्य मूहमन्त्रं कथयति चेत्, निर्विकल्प-  
 माधिविषयत्वेनेन्द्रियमनोविकल्प्यातीतत्वान् । भावगच्छेन स्वमेवेदनपरिणामः तस्य भाव-  
 परमाणुगच्छेन सूक्ष्मावस्था प्राह्या । सूक्ष्मा कथयति चेत् । वीतरागनिर्विकल्पननर-  
 भावविषयेन पंचेन्द्रियमनोविषयातीतत्वारिति । पुनरप्याह । इदं परद्रव्यावच्छेदं फलं  
 निषिद्धं किल भवद्भिः निजशुद्धात्मध्यानेनैव मोक्षः सुप्रारि भगिन्याम् । परिहारन-  
 “अप्या श्वायहि जिम्मलउ” इत्यत्रैव ग्रंथे निरंतरं भगिन्याम्, ग्रंथान्तरे च सनातन-  
 कादौ पुनश्चोक्तं तैरेव पूज्यपादभ्यामितिः । “आत्मानमात्मा आत्मन्येवान्मानानौ इन्दु-

शीघ्र [ लभंते ] पाते हैं । भावार्थ—यह कथन श्रीगुरुने कहा तब प्रमाकरमहने पूछा  
 कि हे प्रभो तुमने कहा कि जो शुद्धात्माका ध्यान करते हैं वे ही मोक्षको पाते हैं दूसरा  
 नहीं । तथा चारित्रासारादिक ग्रंथोंमें ऐसा कहा है जो द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणुका  
 ध्यानकर केवल ज्ञानको पाते हैं । इस विषयमें सुझको संदेह है । तब श्रीयोगीन्द्रदेव  
 समाधान कहते हैं । द्रव्यपरमाणुसे द्रव्यकी सूक्ष्मता और भावपरमाणुसे भावकी सूक्ष्मता  
 कही गई है । उसमें पुद्गल परमाणुका कथन नहीं है । तत्त्वाधर्मसूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकामें  
 भी ऐसा ही कथन है जो द्रव्य परमाणु द्रव्यकी सूक्ष्मता और भावपरमाणु भावकी सूक्ष्मता  
 समाधान अन्यद्रव्यका कथन न लेना । यहां निजद्रव्य तथा निजगुणपर्यायका ही कथन है  
 अन्य द्रव्यका प्रयोजन नहीं है । द्रव्य अर्थात् आत्मद्रव्य उसकी सूक्ष्मता वह द्रव्यपरमाणु  
 कहा जाता है । वह रागादि विकल्पकी उपाधि से रहित है उसको सूक्ष्मपना कैसे हो  
 सकता है ऐसा शिष्यने प्रश्न किया । उसका समाधान इस तरह है कि मन और इंद्रि-  
 योंके अगोचर होनेसे सूक्ष्म कहा जाता है तथा भाव ( स्वमेवेदनपरिणाम ) भी परम-  
 सूक्ष्म है वीतराग निर्विकल्प परमसमरसीभावरूप है वहा मन और इंद्रियोंकी गम्य नहीं  
 है इसलिये सूक्ष्म है । ऐसा कथन सुनकर फिर शिष्यने पूछा कि तुमने परद्रव्यके आर्ज-  
 वरूप ध्यानका निषेध किया और निजशुद्धात्माके ध्यानसे ही मोक्ष कही । ऐसा कथन  
 किसत्रगह कहा है । उसका समाधान । “अप्या श्वायहि जिम्मलउ” निमंउ आत्माको  
 ध्याओ ऐसा कथन इस ग्रंथमें पहले कहा है और समाधिस्तकमें भी श्रीपूज्यपादसंनाने





नमुख्यत्वेन स्थलं समाप्तं । अत ऊर्ध्वं चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं परमोपशमभावमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति ।

तथाहिः—

कम्ममु पुरक्किउ सो खवइ, अहिणव पेसु ण देइ ।

संगु मुएविणु जो सयलु, उवसमभाउ करेइ ॥ १६५ ॥

कर्म पुराकृतं स क्षपयति अभिनवं प्रवेशं न ददाति ।

संगं मुक्त्वा यः सकलं उपशमभावं करोति ॥ १६५ ॥

कम्म इत्यादि । कम्ममु पुरक्किउ कर्म पुराकृतं सो खवइ स एव वीतरागक्षमवेदन-  
त्वज्ञानी क्षपयति । पुनरपि किं करोति । अहिणव पेसु ण देइ अभिनव कर्म प्रवेशं  
न ददाति । स कः । संगु मुएविणु जो सयलु संगं बाह्याभ्यन्तरपरिमहं मुक्त्वा यः कर्ता  
समम् । पश्चात्किं करोति । उवसमभाउ करेइ जीवितमरणलाभालाभमुग्दुःखारिमम-  
ताभावलक्षणममभावं करोति । तथा । स एव पुराकृतकर्म क्षपयति नवनरं संवृणोति य  
एव बाह्याभ्यन्तरपरिमहं मुक्त्वा सर्वशास्त्रं पठित्वा च शास्त्रकलभूतं वीतरागपरमानन्दैकमुग्-  
दमास्यादरूपं समभावं करोतीति भावार्थः । तथा श्लोकं । “भाम्यमेवादराद्भाष्यं किमन्यै-  
र्ग्रन्थविम्परैः । प्रक्रियामात्रमेवेदं बाह्यं विश्वमस्य हि” ॥ १६५ ॥

महाधिष्ठारमं आठ दोहा सूत्रोसे अभेदरत्नत्रयके व्याख्यानकी मुख्यतासे अंतरगत  
प्रा हुआ ।

आगे चौदह दोहा तक परम उपशम भावकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं—  
[स एव] वही वीतराग समवेदन ज्ञानी [पुराकृतं कर्म] पूर्व उपाजित कर्मोको [क्ष-  
पयति] क्षय करता है और [अभिनवं] नवे कर्मोको [प्रवेशं] प्रवेश [न ददाति]  
नहीं होने देता [यः] जो कि [सकलं] सब [संगं] बाह्य अन्तर परिमहको [मुक्त्वा]  
छोड़कर [उपशमभावं] परम शान भावको [करोति] करता है अर्थात् जीवन मरण  
राम अराम सुख दुःख शत्रु मित्र वृत्त कंचन इत्यादि वस्तुओंमें एकमा परिणाम रमना  
है । भावार्थ—जो मुनिरात्र सकल परिमहको छोड़कर सब शार्थोंका रहस्य जानके  
वीतराग परमानंद सुखरमका अन्तर्दी हुआ समभाव करता है वही मानु पूर्वके कर्मोंका  
क्षय करता है और नवीन कर्मोंको रोकता है । ऐसा ही कथन पद्मनादि पर्वभागोंमें भी  
करा है । “भाम्यमेव” इत्यदि । इसका अर्थ यह है कि अद्वैते समभावको ही परम  
करके अद्वैत अर्थ अर्थके विमर्शमें क्या, समझ पथ तथा सकल आदशाग इस समझ-  
करके अर्थ ही ही है ॥ १६५ ॥





शानीजनः सा णिसि मणिवि मुवेइ तां रात्रिं मत्वा त्रिगुण्णिगुणः सन् वीतरागनिर्विकल्प-  
परमममाधियोगनिद्रायां स्वपिति इति निद्रां करोतीति । अत्र बहिर्विषये शयनमेवोपशमो  
भण्यत इति तात्पर्यार्थः ॥ १७३ ॥

अथ शानी पुरुषः परमवीतरागरूपं समभावं मुक्त्वा बहिर्विषये रागं न गच्छतीति  
दर्शयति;—

॥ णाणि मुएप्पिणु भाउ समु, कित्थुवि जाइ ण राउ ।  
जेण लहेसइ णाणमउ, तेण जि अप्पसहाउ ॥ १७४ ॥

११ शानी मुक्त्वा भावं शमं कापि याति न रागम् ।  
येन लभिष्यति ज्ञानमयं तेन एव आत्मस्वभावम् ॥ १७४ ॥

णाणि इत्यादि । णाणि परमात्मरागाद्याम्बवयोर्भेदशानी मुएप्पिणु मुक्त्वा । कं । भाउ  
भावं । कथंभूतं भावं । समु उपशमं पंचेन्द्रियविषयाभिलापरहितं वीतरागपरमाहादमहितं  
कित्थुवि जाइ ण राउ सं पूर्वोक्तं ममभावं मुक्त्वा कापि बहिर्विषये रागं न याति न  
गच्छति । कम्मादिनि चेत् । जेण लहेसइ येन कारणेन लभिष्यति भाविकाले प्राप्स्यति ।  
कं । णाणमउ ज्ञानमयं केवलज्ञाननिर्वृत्तं केवलज्ञानांतर्भूतानंतगुणं तेण जि तेनैव समभा-  
वेन अप्पसहाउ निर्दोषिपरमात्मस्वभावमिति । इदमत्र तात्पर्यं । शानी पुरुषः शुद्धात्मानुभू-

जीव परमात्मतत्त्वकी भावनासे परान्मुख हुए विषयकषायरूप अविद्यामें सदा सावधान हैं  
जाग रहे हैं, उस अवस्थामें विभावपर्यायके स्मरण करनेवाले महामुनि सावधान (जागते)  
नहीं रहते। इसलिये संसारकी दशासे सोते हुएसे मादस पड़ते हैं। जिनको आत्मस्वभावके  
सिवाय विषयकषायरूप प्रपंचकी मालूम भी नहीं है। उस प्रपंचको रात्रिके समान जानकर  
उसमें याद नहीं रखते मनबचनकायकी तीन गुप्तिमें अबल हुए वीतराग निर्विकल्प परम  
समाधिरूप योगनिद्रामें मगन हो रहे हैं । साराश यह है कि ध्यानी मुनियोंको आत्मस्व-  
रूपकी गम्य है प्रपंचकी गम्य नहीं है और जगतके प्रपंची मिथ्यादृष्टि जीव हैं उनको  
आत्मस्वरूपकी गम्य नहीं है अनेक प्रपंचोंमें (शगड़ोंमें) लगे हुए हैं। प्रपंचकी  
सावधानी रखनेको मूलज्ञाना बड़ी परमार्थ है तथा बादविषयोंमें जाग्रत होना ही  
मूल है ॥ १७३ ॥

आगे जो शानी पुरुष हैं वे परमवीतरागरूप समभावको छोड़कर शरीरादि परद्रव्यमें  
राग नहीं करते ऐसा दिखलाते हैं;—[शानी] निजपरके भेदका जाननेवाला शानी  
मुनि [शमं भावं] समभावको [मुक्त्वा] छोड़कर [कापि] किसी पदार्थमें [रागं न  
याति] राग नहीं करता [येन] इसी कारण [ज्ञानमयं] ज्ञानमयं निर्वाणपद  
[प्राप्स्यति] पावेगा [तेनैव] और उसी समभावसे [आत्मस्वभावं] केवल ज्ञान पूर्ण

अथवा यथा कोपि लोकमध्ये वित्तविक्रलो मृतः मन निदां लभने तथा शब्दछन्देन तथो-  
घनोपीति ॥ १७२ ॥

अथ स्थलमंथ्यावाहं प्रक्षेपकं कथयति;—

॥ जा णिसि सयलहं देहियहं, जोग्गिउ तहिं जग्गेइ ।

जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु, सा णिसि मणिवि सुवेइ ॥ १७३ ॥

या निशा सकलानां देहिनां योगी तस्यां जागर्ति ।

यत्र पुनः जागर्ति सकलं जगत् तां निशां मत्वा स्वपिति ॥ १७३ ॥

जा णिसि इत्यादि । जा णिसि या वीतरागपरमानंदकसहजशुद्धात्मावस्था मिथ्यात्वरा-  
गाबंधकारावगुंठिता सती रात्रिः प्रतिभाति । केषां । सयलहं देहियहं सकलानां स्वशु-  
द्धात्मसंवित्तिरहितानां देहिनां जोग्गिउ तहिं जग्गेइ परमयोगी वीतरागनिर्विकल्पस्वमंत्रे-  
दनज्ञानरत्नप्रदीपप्रकाशेन मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालाबंधकारमपसार्य स तस्यां तु शुद्धा-  
त्मना जागर्ति जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु यत्र पुनः शुभाशुभमनोवाक्यपरिणामव्या-  
पारे परमात्मतत्त्वभावनापराङ्मुखः सन् जगज्जागर्ति स्वशुद्धात्मपरिज्ञानरहितः सकलो

निंदा है कि विकल अर्थात् बुद्धि वगैरःसे अष्ट होकर लोक अर्थात् लोगोंके ऊपर चढ़ता  
है । यह लोकनिंदा हुई । लेकिन असलमें ऐसा अर्थ है कि विकल अर्थात् शरीरसे रहित  
होकर तीन लोकके शिखर ( मोक्ष ) पर विराजमान हो जाता है । यह सुति ही है ।  
क्योंकि जो अनंत सिद्ध हुए तथा होंगे वे शरीर रहित निराकार होके जगतके शिखरपर  
विराजे ॥ १७२ ॥

आगे स्थलसंख्याके सिवाय क्षेपक दोहा कहते हैं;—[ या ] जो [ सकलानां  
देहिनां ] सब संसारी जीवोंकी [ निशा ] रात है [ तस्यां ] उस रातिमें [ योगी ]  
परम तपस्वी [ जागर्ति ] जागता है [ पुनः ] और [ यत्र ] जिसमें [ सकलं जगत् ]  
सब संसारी जीव [ जागर्ति ] जाग रहे हैं [ तां ] उस दशाको [ निशां मत्वा ] योगी  
रात मानकर [ स्वपिति ] योगनिद्रामें सोता है । भावार्थ—जो जीव वीतराग परमानंद-  
रूप सहज शुद्धात्माकी अवस्थासे रहित हैं मिथ्यात्व रागादि अंधकार कर मंडित हैं  
इसलिये इन सबको वह परमानंद अवस्था रात्रिके समान मालूम होती है । कैसे ये  
जगतके जीव हैं कि आत्मज्ञानसे रहित हैं अज्ञानी हैं अपने स्वरूपसे विमुख हैं जिनके  
जाग्रत दशा नहीं हैं अचेत सो रहे हैं ऐसी रात्रिमें वह परमयोगी वीतराग निर्विकल्प  
स्वसवेदन ज्ञानरूपी रत्नदीपक प्रकाशसे मिथ्यात्वरागादि विकल्प जालरूप अंधकारको  
दूर कर अपने स्वरूपमें सावधान होनेसे सदा जागता है । तथा शुद्धात्माके ज्ञानसे रहित  
शुभ अशुभ मन वचन कायके परिणामरूप व्यापारवाले थावर अंगम सकल अज्ञानी

ज्ञानीजनः सा णिसि मणिवि सुवेइ तां रात्रिं मत्ता त्रिगुप्तिगुप्तः सन् धीतरागनिर्विकल्प-  
परमममाधियोगनिद्रायां स्वपिति इति निद्रां करोतीति । अत्र बहिर्विषये शयनमेवोपशमो  
भण्यत इति तात्पर्यार्थः ॥ १७३ ॥

अयं ज्ञानी पुरुषः परमवीतरागरूपं समभावं मुक्त्वा बहिर्विषये रागं न गच्छतीति  
दर्शयति;—

॥ णाणि मुएप्पिणु भाउ समु, कित्थुवि जाइ ण राउ ।  
जेण लहेसइ णाणमउ, तेण जि अप्पसहाउ ॥ १७४ ॥

११ ज्ञानी मुक्त्वा भावं शमं कापि याति न रागम् ।  
येन लभियति ज्ञानमयं तेन एव आत्मस्वभावम् ॥ १७४ ॥

णाणि इत्यादि । णाणि परमात्मरागाशाम्यवयोर्भेदज्ञानी मुएप्पिणु मुक्त्वा । फं । भाउ  
भावं । कथंभूतं भावं । समु उपशमं पंचेंद्रियविषयाभिलापरहितं धीतरागपरमाह्लादसहितं  
कित्थुवि जाइ ण राउ तं पूर्वोक्तं ममभावं मुक्त्वा कापि बहिर्विषये रागं न याति न  
गच्छति । कस्मादिनि चेन् । जेण लहेसइ येन कारणेन लभियति भाविकाले प्राप्स्यति ।  
फं । णाणमउ ज्ञानमयं केवलज्ञाननिर्वृत्तं केवलज्ञानानंतर्भूतानंतगुणं तेण जि तेनैव समभा-  
वेन अप्पसहाउ निर्दोषिपरमात्मस्वभावमिति । इदमत्र तात्पर्यं । ज्ञानी पुरुषः शुद्धात्मानुभू-

जीव परमात्मतत्त्वकी भावनासे परान्मुक्त हुए विषयकषायरूप अविद्यामें सदा सावधान हैं  
जाग रहे हैं, उस अवस्थामें विभावपर्यायके स्मरण करनेवाले महामुनि सावधान (जागते)  
नहीं रहते। इसलिये संसारकी दशासे सोते हुएसे माउम पड़ते हैं। जिनको आत्मस्वभावके  
सिवाय विषयकषायरूप प्रपंचकी मालम भी नहीं है। उस प्रपंचको रात्रिके समान जानकर  
उसमें याद नहीं रखते मगबचनकायकी तीन गुप्तियों अचल हुए धीतराग निर्विकल्प परम  
समाधिरूप योगनिद्रामें मगन होरहे हैं । साराश यह है कि ध्यानी मुनियोंको आत्मस्व-  
रूपकी गम्य है प्रपंचकी गम्य नहीं है और जगतके प्रपंची मिथ्यादृष्टि जीव हैं उनको  
आत्मस्वरूपकी गम्य नहीं है अनेक प्रपंचोंमें (ज्ञानदोमें) लगे हुए हैं । प्रपंचकी  
सावधानी रखनेको भूलजाना यही परमार्थ है तथा वाद्यविषयोंमें जाग्रत होना ही  
भूल है ॥ १७३ ॥

आगे जो ज्ञानी पुरुष हैं वे परमवीतरागरूप समभावको छोड़कर शरीरादि परद्रव्यमें  
राग नहीं करते ऐसा दिखलाते हैं;—[ज्ञानी] निजपरके भेदका जाननेवाला ज्ञानी  
मुनि [शमं भावं] समभावको [मुक्त्वा] छोड़कर [कापि] किसी पदार्थमें [रागं न  
याति] राग नहीं करता [येन] इसी कारण [ज्ञानमयं] ज्ञानमई निर्वाणपद  
[प्राप्स्यति] पावेगा [तेनैव] और उसी समभावसे [आत्मस्वभावं] केवल ज्ञान पूर्ण

तिलक्षणं समभावं विहाय यद्विर्भावे रागं न गच्छति येन कारणेन समभावेन विना गुण  
स्मलामो न भवतीति ॥ १७४ ॥

अयं ज्ञानी कमप्यन्यं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न निन्दति प्रतिपादयति;—

११ भणइ भणावइ णचि युणइ, णिंदइ णाणि ण कोइ ।

सिद्धिहि कारण भाउ समु, जाणंतउ पर सोइ ॥ १७५ ॥

भणति भाणयति नैव स्तौति निन्दति ज्ञानी न कमपि ।

सिद्धेः कारणं भावं समं जानन् परं तमेव ॥ १७५ ॥

भणइ इत्यादि । भणइ भणति नैव भणावइ नैवान्यं भणनं प्रेरयति णचि युणइ नैव  
स्तौति णिंदइ णाणि ण कोइ निन्दति ज्ञानी न कमपि । किं कुर्वन् मन् । सिद्धिहि कार  
भाउ समु जाणंतउ पर सोइ जानन् । कं । परं भावं परिणामं । कथंभूतं । समं रागद्वेष  
रहितं । पुनरपि कथंभूतं । कारणं । कस्याः । सिद्धेः परं नियमेन तमेव सिद्धिका  
परिणाममिति । इदमत्र तात्पर्यं । परमोपेक्षामयमभावनारूपं विशुद्धज्ञानदर्शननिजगुण  
तत्त्वमन्यइ भ्रदानमानानुभूतिलक्षणं साक्षात्सिद्धिकारणं कारणसमयसारं जानन् त्रिगुणा

ष्यामस्रभावको आगे पावेगा । भावार्थ—जो अनंतसिद्ध हुए वे समभावके प्रसादसे  
हुए हैं और जो होवेंगे इसीभावसे होंगे । इसलिये ज्ञानी समभावके सिवाय अन्य  
भावोंमें राग नहीं करते । इस समभावके विना अन्य उपायसे शुद्धात्माका लाभ नहीं  
है । एक समभाव ही भवसागरसे पार होनेका उपाय है । समभाव उसे करते  
हैं जो पंचेन्द्रिके विषयोंकी अभिलाषासे रहित वीतराग परमानंदसहित निर्विकल्प  
निजभाव हो ॥ १७४ ॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानीजन समभावका स्वरूप जानता हुआ न किसीसे पढ़ता है  
न किसीको पढ़ता है न किसीको प्रेरणा करता है न किसीकी स्तुति करता है न  
किसीकी निंदा करता है;—[ ज्ञानी ] निर्विकल्प ध्यानी पुरुष [ कमपि न ] न किसीपर  
[ भणति ] विन्य होकर पढ़ता है, न गुण होकर किसीको [ भाणयति ] पढ़ता है  
[ नैव स्तौति निन्दति ] न किसीकी स्तुति करता है न किसीकी निंदा करता है [ सिद्धेः  
कारणं ] मोक्षका कारण [ समं भावं ] एक समभावको [ परं ] नियमसे [ जानन् ]  
जानता हुआ [ तमेव ] केवल अत्यल्परूपमें अबत होना है, अन्य कुछभी गुण भगुण  
कायें नहीं करता । भावार्थ—परमोपेक्षा समय अर्थात् तीनगुणोंमें स्थिर परम समानि  
उल्लेख करके जो समसमय उभरी भावनारूप निर्मल तथापि सम्भाररहित साक्षात्  
स्वयं स्वयं ही सिद्धा कारण है ऐसा मोक्षका कारण जो समसागर उगे  
उठता हुआ अनुभव होता है अनुभूति पुरुष न किसी प्रतीको विवशता है न

यथायां अनुभवन् गन् भेदज्ञानी पुनरपि परं प्राणितं न भवति न प्रेरयति न कर्ति न च निर्दयीति ॥ १७५ ॥

अथ वासाभ्यन्तरपरिमदेन्द्रियाः पंचेन्द्रियविषयभोगार्हाभ्यन्तरेन्द्रियैर्ब्रह्मविष्णुशक्तिभिर-  
स्वरहितेन निजमुद्राभाष्यानेन योगी निजमुद्राभाष्यां जानाति न परिष्कारितव्यं तन्म-  
प्रत्येयु शगदेषी न करोतीति चतुःकण्ठं प्रवचयति,—

- १) शंभुहं उपरि परममुनि, देवमुनि चण्ड ण गण्ड ।
- शंभुहं जेण विद्यानिघण्ट, भिण्णठ अप्पवणाट ॥ १७६ ॥
- शंभुय उपरि परममुनिः देवगणि चण्डो ण गण्ड ।
- शंभुयु येन विज्ञातः भिन्नः आत्मव्यभावः ॥ १७६ ॥

शंभुहं इत्यादि । शंभुहं उपरि शंभुय वासाभ्यन्तरपरिमदेषीति अत्रहा संवत्सरात्-  
पचास्रभ्योपरि परममुनि परमतपती देवुदि कण्ड ण देवगणि ण चण्डो ण गण्ड  
शामयि । येन तपोधनेन विद्वन् । शंभुहं जेण विद्यानिघण्ट भिण्णठ अप्पवणाट  
शंभुयवासाभ्येन विज्ञातो भिन्न आत्मव्यभाव इति । जगता । विद्याय, जगती च  
द्वर्षाभाष्यवेदत्रयं, हास्यरत्यरितसोबायमुमुगारुणं शोकपाण्युद्धं, शोकात्मक-  
अर्ण्यं कथायणमुपयं भेति चतुर्दशाभ्यन्तरपरिमदाः देवमुनिपरिमदाः, भिण्णठपरिमदाः,  
शामयुपयमात्म्या वासापरिमदा इत्यंभुताय वासाभ्यन्तरपरिमदाय आत्मवे कर्तव्याः,  
मानोबचनवयिः कृतकारितानुमतीभ जगता इन्द्राभ्योपयंभुयुहं हीनताभ्यन्तरपरिमदाः ।

विगीये शीरता है न मुनि करता है न भिदा करता है । तिमर इतुं इ एव  
दुःख सब समान है ॥ १७५ ॥

जागे बाद्य अंतरंग परिमदवी इत्यासे पांच इंद्रियोवे विषयभोगीक बाध्य हुअ  
देहमे समता गती करता तथा विद्याय अतन आदि सत्ता संकट विषयके इति न च  
निज शक्त्या उमे जायता है वद परिमदमे तथा विषयभोगीक अतन । इद एव  
गती करता ऐसा वासुकोमे मण्ड करते है—[ देवद एवमि ] अतन वद व अतन  
उपर अथवा शास्त्रे उपर ओ [ परममुनिः ] एव जगती [ शान्ति इवमव शंभु  
शान्ति देव गती करते है [ येन ] निज शक्ति [ आत्मव्यभावः ] अतन वद व  
[ देवद ] मेषसे [ भिन्नः विज्ञातः ] हुअ करता है । अथवा—[ अतन वद व  
शान्ति, देव, शान्ति, शान्ति, शान्ति, शान्ति, शान्ति, शान्ति, शान्ति, शान्ति, शान्ति—  
शंभु अतन परिमद ओ देव, वासा, एवमि, शान्ति, शान्ति, शान्ति, शान्ति, शान्ति, शान्ति—  
मुनि, शान्ति एव वद वद—[ अतन वद वद ] शान्ति वद वद वद वद वद वद  
हीन कर्तव्ये हीनोपयंभुयुहं वद वद वद वद वद वद वद वद वद वद वद वद



यत्वा च यो याद्याभ्यंतरपरिग्रहाद्विभ्रमाज्ञानं जानाति स परिग्रहस्योपरि रागद्वेषौ न रोति । अत्रेदं व्याख्यानं एवं गुणविशिष्टनिर्मथस्वैव शोभते, न च सपरिग्रहस्यैति तस्यार्थः ॥ १७६ ॥

अथ;—

विसयहं उप्परि परममुणि, देसुवि करइ ण राउ ।  
विसयहं जेण वियाणियउ, भिण्णउ अप्पसहाउ ॥ १७७ ॥  
विषयाणां उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।  
विषयेभ्यः येन विज्ञातः भिन्नः आत्मसम्भावः ॥ १७७ ॥

विमरं इति । विसयहं उप्परि विषयाणामुपरि परममुणि परममुनिः देसुवि करइ ण राउ द्वेषमपि करोति न च रागमपि येन । येन किं कृतं । विमपई जेण विषयानियउ विषयेभ्यो येन विज्ञातः । कोमौ विज्ञातः । भिण्णउ अप्पमहाउ आमन्-  
भारः । कथंभूतो, भिन्न इति । तथा च । द्रव्यैत्रियाणि भावैत्रियाणि द्रव्यैत्रियभावैत्रिय-  
कृतान विषयैश्च दृष्टयुक्तानुभूतान जगज्जपे कालप्रयेपि मनोरूपनक्षयैः दृष्टकालितानु-  
भूतैश्च स्वयं भिन्नमुद्रामभावनामगुणस्त्रीतरागपरमानंदैकरूपमुष्णानुरमाभ्यातेन कृतो  
भूता यैः विषयेभ्यो भिन्नं मुद्रामानगनुभवति स मुनिः पंचैत्रियविषयेषु रागद्वेषौ न

होती प्रविश्य कीदृशग निर्भीक्य समानिभे दृष्टकर परब्रह्मणे अपनेको भिन्न जन्म  
है कीही परिग्रहके उपर रागद्वेष नहीं करना है । यद्वापर ऐसा व्याख्यान निर्भय  
दृष्टिके ही होता देना है परिग्रह धारीको नहीं शोभा देता है ऐसा कही  
उक्तम् ॥ १७६ ॥

अने विषयेके उपर कीदृशगता द्वेषयाने है;—[ परममुनिः ] महामुनि [ विष-  
यानां उपरि ] पार इन्द्रियोके व्यर्थोदि विषयोपर [ रागमपि दोषे ] राग और द्वेष  
[ न करोति ] नहीं करना अर्थात् मनोज विषयोपर राग नहीं करना और भक्ति  
विषयपर द्वेष नहीं करना क्योंकि [ येन ] विज्ञाने [ आमन्भारः ] अना मन्त्र  
[ विषयेभ्यः ] विषयेके [ भिन्नः विज्ञातः ] मुद्रा समप्रतिष्ठा है । इसको कीदृशग  
कथ्य कह्ये है ॥ अर्थात्—द्रव्यैत्री भावैत्री और इन दोनोंपर महत्त्व करने को  
होने लगे अतएव विषे को अर्थात् विषय है उनको मन करने काय ही  
कही अतएव उक्तम् ॥ १७६ ॥ अथ विषयमुद्रामादी भावनाय उपर विषयानां  
उपर अप्पमहाउ आमन्भारः अर्थात् अना मन्त्र इति । कथंभूतो भिन्न इति । तथा च ।  
द्रव्यैत्रियाणि भावैत्रियाणि द्रव्यैत्रियभावैत्रियकृतान विषयैश्च दृष्टयुक्तानुभूतान  
जगज्जपे कालप्रयेपि मनोरूपनक्षयैः दृष्टकालितानुभूतैश्च स्वयं भिन्नमुद्रामभावनामगुण-  
स्त्रीतरागपरमानंदैकरूपमुष्णानुरमाभ्यातेन कृतो भूता यैः विषयेभ्यो भिन्नं मुद्रामानगनुभवति स मुनिः पंचैत्रियविषयेषु रागद्वेषौ न

करोति । अत्र यः पंचेन्द्रियविषयसुरराजिबर्त्स स्वशुद्धात्मसुरे वृषो भवति तस्मैवेदं व्याख्यानं शोभते न च विषयासक्तश्चेति भावार्थः ॥ १७७ ॥

अथ;—

१) देहहं उपपरि परममुनि, देसुचि करइ ण राउ ।

देहहं जेण विषाणियउ, भिण्णउ अप्पसहाउ ॥ १७८ ॥

देहस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागं ।

देहात् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥ १७८ ॥

देहहं इत्यादि । देहहं उपपरि देहस्योपरि परममुनिः परममुनिः देसुचि करइ ण राउ द्वेषमपि न करोति न रागमपि । येन किं कृतं । देहहं जेण विषाणियउ देहात्सकाशानेन विज्ञातः । कोसी । भिण्णउ अप्पसहाउ आत्मस्वभावः । कथंभूतो विज्ञातः । तस्माद्देहा-  
द्विभ्र इति । तथाहि । “सपरं धाधामहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं । जं इंद्रियेहिं लद्धं तं सुक्खं दुक्खमेव सहा” ॥ इति गाथाकथिनलक्षणं दृष्टव्यतानुभूतं यद्देहजनितसुखं तज्जगत्त्रये कालत्रयेपि मनोवचनकार्यैः कृतकारितानुभवैश्च त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्प-  
समाधिबलेन-पारमार्थिकानाकुलत्वलक्षणसुखपरिणते निजपरमात्मनि स्थित्वा च य एव देहाद्विभ्रं स्वशुद्धात्मानं जानाति स एव देहस्योपरि रागद्वेषौ न करोति । अत्र य एव

वृष होता है उसीको यह व्याख्यान शोभा देता है और विषयाभिलाषीको नहीं शोभता ॥ १७७ ॥

आगे साधु देहके ऊपर भी रागद्वेष नहीं करता;—[परममुनिः] महागुनि [देहस्य उपरि] मनुष्यादिशरीरके ऊपर भी [रागमपि दोष] राग और द्वेषको [न करोति] नहीं करता अर्थात् शुभ शरीरसे राग नहीं करता अशुभ शरीरसे द्वेष नहीं करता [येन] जिसने [आत्मस्वभावः] निजस्वभाव [देहात्] देहसे [भिन्नः विज्ञातः] भिन्न जानलिया है । देह तो जड़ है आत्मा चैतन्य है जड़ चैतन्यका क्या संबंध ? ॥ भावार्थ—इन इंद्रियोसे जो सुख उत्पन्न हुआ है वह दुःखरूप ही है । ऐसा कथन श्रीप्रवचनसारमें कहा है । ‘सपरं’ इत्यादि । इसका तात्पर्य ऐसा है कि जो इंद्रियोसे सुख प्राप्त होता है वह सुख दुःखरूप ही है क्योंकि वह सुख परवस्तु है निजवस्तु नहीं है, बाधा सहित है निराबाध नहीं है, नाशको लिये तृप्त है जिसका नाश होजाता है, बन्धका कारण है और विषम है । इत्यनिय इंद्रियसुख दुःखरूप ही है । ऐसा इस गाथामें जिसका लक्षण कहा गया है ऐसे देह जानत सुखको मन वचन वाय कृत कारित अनुमोदनमें छोड़ै । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिक बलसे आकुलनारहित परमसुखरूप निजपरमात्मानमें स्थित होकर जो महागुनि देहसे भिन्न अपने शुद्धात्माको जानता है

सर्वप्रकारेण देहममत्वं त्यक्त्वा देहमुग्रं नानुभवति तस्मैवेदं व्याख्यानं शोभते नापरम्यंति-  
तात्पर्यार्थः ॥ १७८ ॥

अथ;—

- 17 वित्तिणिवित्तिहिं परममुनि, देसुवि करइ ण राउ ।  
बंधहं हेउ वियाणियउ, एयहं जेण सहाउ ॥ १७९ ॥  
वृत्तिनिवृत्त्योः परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागं ।  
बंधस्य हेतुः विज्ञातः एतयोः येन न्मभावः ॥ १७९ ॥

वित्तिणिवित्तिहिं इत्यादि । वित्तिणिवित्तिहिं वृत्तिनिवृत्तिविषये व्रताव्रतविषये परम-  
मुनि परममुनिः देसुवि करइ ण राउ द्वेषमपि न करोति न च रागं । येन किं कृतं ।  
बंधहं हेउ वियाणियउ बंधस्य हेतुर्विज्ञातः । कोमौ । एयहं जेण सहाउ एतयोर्व्रताव्र-  
तयोः स्वभावो येन विज्ञात इति । अथवा पाठांतरं । “भिण्णउ जेग वियाणियउ एयहं  
अप्पसहाउ” भिन्नो येन विज्ञातः । कोसौ । आत्मस्वभावः । काभ्यां । एताभ्यां व्रताव्रत-  
विकल्पाभ्यां सकाशादिति । तथाहि । येन व्रताव्रतविकल्पौ पुण्यपापबंधकारणभूता विज्ञातौ  
स शुद्धात्मनि स्थितः सन् व्रतविषये रागं न करोति तथा चाव्रतविषये द्वेषं न करोतीति ।  
अत्राह प्रभाकरभट्टः । हे भगवन् यदि व्रतस्वोपरि रागतात्पर्यं नास्ति तर्हि व्रतं निषिद्ध-

देहके ऊपर राग द्वेष नहीं करता । जो सब तरह देहसे निर्ममत्व होकर देहके सुखको  
नहीं अनुभवता उसीके लिये यह व्याख्यान शोभा देता है और देहबुद्धिवालोंको नहीं  
शोभता ऐसा अभिप्राय जानना ॥ १७८ ॥

आगे प्रवृत्ति और निवृत्तिमें भी महामुनि राग द्वेष नहीं करता ऐसा कहते हैं;—  
[ परममुनिः ] महामुनि [ वृत्तिनिवृत्त्योः ] प्रवृत्ति और निवृत्तिमें [ रागं अपि द्वेषं ]  
राग और द्वेषको [ न करोति ] नहीं करता [ येन ] जिसने [ एतयोः ] इनदोनोंका  
[ स्वभावः ] स्वभाव [ बंधस्य हेतुः ] कर्मबंधका कारण [ विज्ञातः ] जानलिया है ॥  
भावार्थ—व्रत अव्रतमें परममुनि राग द्वेष नहीं करता । जिसने इन दोनोंका स्वभाव बंधका  
कारण जानलिया है । अथवा पांठांतर होनेसे ऐसा अर्थ होता है कि जिसने आत्माका  
स्वभाव भिन्न जानलिया है । अपना स्वभाव प्रवृत्ति निवृत्तिसे रहित है । जहां व्रत अव्रतका  
विकल्प नहीं है । ये व्रत अव्रत पुण्य पापरूप बंधके कारण हैं । ऐसा जिसने जान-  
लिया वह आत्मामें तल्लीन हुआ व्रत अव्रतमें रागद्वेष नहीं करता । ऐसा कथन मुनकर  
प्रभाकर भट्टने पृछा हे भगवन् जो व्रतपर राग नहीं करे तो व्रत क्यों धारण करे । ऐसे  
कथनमें व्रतका निषेध होता है । नच योगीन्द्राचार्यकहते हैं कि व्रतका अर्थ यह है कि  
सप्त शुभ अशुभ भावोमें निवृत्ति परिणाम होना । ऐसा ही अन्य ग्रंथोंमें भी “रागद्वेषौ”

मिति । भगवानाह । प्रतं क्रोधः । सर्वनिवृत्तिपरिणामः । तथाचोक्तं । हिंसानृनस्तेयाम्रप्र-  
परिग्रहेभ्यो विरतिर्ग्रन्तं । अथवा । “रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनं । तौ च मास्त्रार्थ-  
संबंधौ तस्मात्तांस्तु परित्यजेत् ॥” प्रसिद्धं पुनरहिंसादिग्रन्तं एकदेशेन व्यवहारेणेति । कथ-  
मेकदेशग्रन्तमिति चेत् । तथाहि । जीवपाते निवृत्तिर्जावदयाविषये प्रवृत्तिः, असत्यवचनविषये  
निवृत्तिः सत्यवचनविषये प्रवृत्तिः, अदत्तादानविषये निवृत्तिः दत्तादानविषये प्रवृत्तिरि-  
त्यादिरूपेणैकदेशं ग्रन्तं । रागद्वेषरूपसंकल्पविकल्पकहोलमालारहिते त्रिगुनिगुमपरमसमाधौ  
पुनः शुभाशुभलागात्परिपूर्णं ग्रन्तं भवतीति । { कश्चिदाह । ग्रन्तेन किं प्रयोजनमात्मभावनया  
मोक्षो भविष्यति । भरतेश्वरेण किं ग्रन्तं कृतं ? पटिकाद्वयेन मोक्षं गतः इति । परिहारमाह ।  
भरतेश्वरोपि पूर्वं जिनदीक्षाप्रस्तावे लोचानंतरं हिंसादिनिवृत्तिरूपं महाग्रन्तविकल्पं कृतान्तर्मुहूर्ते  
गते सति दृष्टशुभानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानवंधादिविकल्परहिते मनोवचनकायनिरोधतन्त्रणे

इत्यादिसे कहा है । अर्थ यह है कि राग और द्वेष ये दोनों प्रवृत्ति हैं तथा इनका  
निषेध वह निवृत्ति है । ये दोनों अपने नहीं हैं अन्य पदार्थके संबंधसे हैं । इगलिये  
इन दोनोंको छोड़ें । अथवा “हिंसानृतस्तेयाम्रपरिग्रहेभ्यो विरतिर्ग्रन्तं” ऐसा कहा  
गया है । इसका अर्थ यह है कि प्राणियोंको पीडादेना, झूठबचन, परधनहरना, चुराई-  
लुका सेवन और परिग्रह इनसे जो विरक्त होना बंधी मत है । ये अहिंसादि ग्रन्त प्राप्ति  
हैं ये व्यवहारनयकर एकोदेशरूप मत हैं । यही दिखलाते हैं—जीवपातमें निवृत्ति जीव  
दयामें प्रवृत्ति, असत्यवचनमें निवृत्ति सत्यवचनमें प्रवृत्ति, अदत्तादान (चोरी)से निवृत्ति  
अचौर्यमें प्रवृत्ति इत्यादिस्वरूपसे एकोदेश मत कहा जाता है । और राग द्वेषरूप  
संकल्पविकल्पोकी बहोलोसे रहित तीन गुणसे गुप्त सगाधिमें शुभाशुभके त्यागसे परिपूर्ण  
मत होता है । अर्थात् अशुभकी निवृत्ति और शुभकी प्रवृत्तिरूप एकोदेशग्रन्त और शुभ  
अशुभ दोनोंका ही त्याग होना यह पूर्ण मत है । इसलिये प्रथम अवस्थामें मनका निषेध  
नहीं है एकोदेश मत है और पूर्ण अवस्थामें सर्वदेश मत है । यहां पर कोई यदि प्रश्न  
करे कि मतसे क्या प्रयोजन आत्मभावनासे ही मोक्ष होती है । भरतेश्वरी महाशयने  
क्या मत कियाथा ! वो दीपझूमें ही केवल ज्ञान पाकर मोक्ष गये । उसका समाधान  
ऐसे है कि भरतेश्वरने पहले जिनदीक्षा धारण की, शिरके फेस हंचन रिये,  
हिंसादि पापोंकी निवृत्तिरूप पंच महाग्रन्त आदरे । फिर एक अंतर्मुहूर्तमें समस्त विकल्प  
रहित मनवचन काय रोक्नेरूप निज शुद्धात्मध्यान उसमें उठकर निर्विकल्प हुए । वो  
शुद्धात्माका ध्यान, देखे गुने और भोगे हुए भोगों की याजारूप निदानवन्धादि विक-  
ल्पोसे रहित है । ऐसे ध्यानमें तल्लीन होकर केवली हुए । जब रात्र छोड़ा और मुनि  
हुए तभी केवली हुए । तब भरतेश्वरने अंतर्मुहूर्तमें केवल ज्ञान प्राप्त किया । इमरिदे  
महाग्रन्तकी प्राप्ति नहीं हुई । इसपर कोई पूर्व ऐसा विचारलेखे कि जैसा उनको शुभा

निजशुद्धात्मध्याने स्थित्वा पश्चान्निर्विकल्पो जातः । परं किंतु तस्य स्तोत्रकालत्वान्महाविप्र-  
सिद्धिर्नास्ति । अथेदं मतं ययमपि तथा कुर्मोऽवसानकाले । नैवं वक्तव्यं । यद्येकस्यांपस्य  
कथंचिन्निधानलाभो जातस्तर्हि किं सर्वेषां भवतीति भावार्थः । तथा चोक्तं । “पुत्रममा-  
विदजोगो मरणे आराहजो जदि वि कोई । खन्नगनिधि दिहुंतं तं सु पमाणं प  
सव्वत्थ” ॥ १७९ ॥

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादकमहाधिकारमध्ये परमोपशमभावव्याख्यानोपलक्ष-  
णत्वेन चतुर्दशसूत्रैः स्थलं समाप्तम् । अधानंतरं निश्चयनयेन पुण्यपापे द्वे समाने इत्यनुप-  
लक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रपर्यंतं व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—योसौ विभावस्यभावपरिणामौ  
निश्चयनयेन बंधमोक्षहेतुभूतौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वयं करोति न चान्य इति  
मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति;—

बंधहं मोक्षस्वहं हेउ णिरु, जो णवि जाणइ कोइ ।

सो पर मोहिं करइ जिय, पुण्णुवि पाउवि दोवि ॥ १८० ॥

बंधस्य मोक्षस्य हेतुः निजः यः नैव जानाति कश्चित् ।

स एव मोहेन करोति जीव पुण्यमपि पापमपि द्वे अपि ॥ १८० ॥

बंधहं इत्यादि । बंधहं बंधस्य मोक्षहं मोक्षस्य हेतुः कारणं । कथंभूतं । निज  
निजविभावस्यभावहेतुत्वरूपं जो णवि जाणइ कोइ यो नैव जानाति कश्चित् सो पर स

बैंगे हमको भी होवेगा । ऐसा विचार ठीक नहीं है । यदि किसीएक अंधेको किसी  
सरहसे निधिका लाभ हुआ तो क्या सभीको ऐसा होसकता है सबको नहीं होता ।  
मरत मरीखे भरत ही हुए । इसलिये अन्य भव्य जीवोंको यही योग्य है कि ता  
संयमका साधन करना ही श्रेष्ठ है । ऐसा ही “पुत्रं” इत्यादि गाथासे दूसरी जगह भी  
कहा है । अर्थ ऐसा है कि जिसने पहले तो योगका अभ्यास नहीं किया और  
मरणके समय जो कभी आराधक हो जावे तो यह बात ऐसे जानना जैसे किसी अंधे  
पुत्रको निधिका लाभ हुआ हो । ऐसी बात सब जगह प्रमाण नहीं होसकती ।  
कभी कहींपर होने तो होये ॥ १७९ ॥

इस तरह मोक्ष, मोक्षका फल और मोक्षके मार्गके कष्टनेवाले दुगरे महाविचारों  
परम उद्घांत भावके व्याख्यानकी मुख्यतामें अनन्वयमें औरद दोहा पूर्ण हुए ।

अगे निश्चय नदकर पुण्य पाप दोनी ही समान है ऐसा औरद दोहाभोगे कहे  
है । जो कोई स्वभाव परिणामको मोक्षका कारण और प्रभाव परिणामको बंध  
कारण ऐसा निश्चयमें नैव नहीं जानना दे वही पुण्यपापका कर्ता होता है अन्य नहीं  
ऐसा कहेने अणकदर यह गण्ययुव कहेत है,—[ यः कश्चित् ] जो कोई जीव [ बंधस्य

एव मोहिं मोहेन करइ करोति पुण्युवि पाउवि पुण्यमपि पापमपि । कविसंख्योपेते  
 अपि । दोइ द्वे अपीनि । तथाहि । निजशुद्धात्मानुभूतिरुचिविपरीतं मिथ्यादर्शनं मगुद्धाम्-  
 मतीतिविपरीतं मिथ्याज्ञानं निजशुद्धात्मद्रव्यनिश्चलम्विविपरीतं मिथ्याचारित्रमिन्नेत्रयं  
 कारणं, तस्मान्प्रयाद्विपरीतं भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपं मोक्षस्य कारणमिति योमौ न जानाति स  
 एव पुण्यपापद्वयं निश्चयनयेन हेयमपि मोहवशात्पुण्यमुपादेयं करोति पापं हेयं करोतीति  
 भावार्थः ॥ १८० ॥

अथ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतमात्मानं योमौ मुक्तिकारणं न जानाति स पुण्यपाप-  
 द्वयं करोतीति दर्शयति;—

दंसणणाणचरित्तमउ, जो णवि अप्पु मुणेइ ।

सिद्धिहिं कारणु भणिवि जिय, सो पर ताइं करेइ ॥ १८१ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रमयं यः नैवात्मानं मनुते ।

मोक्षस्य कारणं भणित्वा जीव स एव ते करोति ॥ १८१ ॥

दंसणु णाणु चरित्तु इत्यादि । दंसणणाणचरित्तमउ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमयं  
 जो णवि अप्पु मुणेइ यः कर्ता नैवात्मानं मनुते जानाति । सिद्धिं न जानाति । मोक्षवदं  
 कारणु भणिवि मोक्षस्य कारणं भणित्वा मत्त्वा जिय दे जीव सो पर ताइं करेइ स एव  
 पुरुषत्वे पुण्यपापे द्वे करोतीति । तथाहि—निजशुद्धात्मभावतोत्पत्तीनामसहजानंदस्वरूप-

मोक्षस्य हेतुः ] संघ और मोक्षका कारण [ निजः ] अपना विभाव और स्वभाव  
 परिणाम है ऐसा भेद [ नैव जानाति ] नहीं जानता है [ स एव ] वही [ पुण्य  
 मपि पापमपि ] पुण्य और पाप [ द्वे अपि ] दोनोंको ही [ मोहेन ] मोहते [ करोति ]  
 कर्ता है । भावार्थ—निज शुद्धात्माकी अनुभूतिकी रक्षिते विपरीत ओ मिथ्या-  
 दर्शन, निज शुद्धात्माके ज्ञानमे विपरीत मिथ्याज्ञान और निजशुद्धात्मद्रव्यमे  
 निश्चल स्थिरतासे उल्टा ओ मिथ्याचारित्र इन तीनोंको संघटा कारण और  
 इन तीनोंसे रहित भेदाभेद रत्नत्रय स्वरूप मोक्षका कारण ऐसा ओ नहीं जानता  
 है । वही मोहके वशसे पुण्य पापका कर्ता होता है । पुण्यको उपादेय जानके कर्ता है  
 पापको हेय समझता है ॥ १८० ॥

आगे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप परिणमता जो अग्ना वही  
 मुक्तिका कारण है ऐसा जो भेद नहीं जानता है वही पुण्यपाप दोनोंको कर्ता है ऐसा

दिसनातेहै;—[ यः ] जो [ दर्शनज्ञानचारित्रमयं ] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी  
 [ आत्मानं ] आत्माकी [ नैव मनुते ] नहीं जानता [ स एव ] वही [ हे ईदं ] है ईदं

वरं जीव पापानि सुंदराणि ज्ञानिनः तानि भणंति ।

जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु शिवमतिं यानि कुर्वति ॥ १८३ ॥

वर जिय इत्यादि । वर जिय वरं किंतु हे जीव पावई सुंदरई पापानि सुंदरा  
सर्माचीनानि भणंति कथयंति । के । णाणिय ज्ञानिनः तत्त्ववेदिनः । कानि । त  
तानि पूर्वोक्तानि पापानि । कथंभूतानि । जीवहं दुखखई जणिवि लघु शिवमई ज  
कुर्वंति जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु शीमं शिवमति मुक्तियोग्यमतिं यानि कुर्वंति

जिने धर्मके समुदा होता है वह पापका फल भी श्रेष्ठ ( प्रशंसा योग्य ) है ऐसा दि  
लते हैं;—[हे जीव] हे जीव [यानि] जो पापके उदय [जीवानां] जीवोंको [दु  
खानि जनित्वा] दुःख देकर [लघु] शीम ही [शिवमति] मोक्षके जाने यो  
उत्तरोमें बुद्धि [कुर्वति] कर देंगे [तानि पापानि] ये पाप भी [वरं सुंदराणि] बहुत  
भरते हैं ऐसा [ज्ञानिनः] ज्ञानी [भणंति] कहते हैं । भावार्थ—कोई जीव पा  
वरके नरकमें गया बदांगर महान दुःख भोगे उससे कोई समय किसी जीवके सम्  
पर्कमें पामि हो जाती है । क्योंकि उस जगह सम्यक्तत्वकी प्राप्तिके तीन कारण हैं । परं  
तो यह है कि तीसरे नरक तक देवता उमे संशोधनेको ( धेनाउने को ) जाने हैं र  
कभी कोई जीवके धर्म गुणनेमें सम्यक्तत्व उत्पन्न हो जाये, दृग्ग कारण—पूरे भग  
वत और तीसरा नरककी पीडाकरि दुःखी हुआ नरकको महान दुःखका स्थान जा  
नरकके कारण जो दिमा मूठ खोंगी कुशील परिमद और आरमादिक हैं उनको भग  
वत वरने उदय होये । तीसरे नरकतक ये तीन कारण है । आगेके भाँये पाँच  
एडे भाँये नरकने देवेका समन न होनेमें धर्मश्रवण तो है नहीं लेकिन ज्ञानिमा  
है, तथा वेदनाकर दुःखी होके पापने भयभीत होना—ये ही कारण है । इन कारणों  
वाकर किसी जीवके सम्यक्तत्व उत्पन्न ही सकता है । इस नयमें कोई भग जीव पाप  
उदयमें कोई जिनमें गया और बदां जाकर यदि मूठ जाये तथा सम्यक्तत्व पावे तो  
हमनि ही बहुत क्रेष्ट है । यही श्रीश्रीश्रीशास्त्रानयने मूठने कहा है जो पा  
दुख नरक वाचे फिर ही शोधमार्गमें बुद्धिको लावने ये अशुभ भी भरते  
हवा हो अन्तरी ईव किसी समय प्रकाननयन देव भी हुआ और देवमें भोंके पंकेई  
हुवा हो वह देवपर्व व कम जिस कानका । प्रकानकीके देवपई पापानि भी भूवा है । भ  
काने श्रवणे प्रकानने उदय देव है व बहुत कारणक गुण मोक्षक दृग्ग मनुष्य हाँ  
दुःखक कारण बरक मोक्षक व है जो उदय समान वरमा का दृग्ग वी नरक  
मोक्षक कारण कोई मोक्षक मनुष्य हाँ व बहुत पाप करके मूठ वी जो नरक  
कका है । हमने पुनः एव कानके वी वर कका है जो पाई नरकक दुःख

अयमप्राभिप्रायः । यत्र भेदाभेदरत्नप्रयात्मकं श्रीधर्मं लभते जीवसत्त्वावजनितदुःखमपि श्रेष्ठमिति । कस्मादिति चेत् । “आर्तो नरा धर्मपरा भवन्ती”ति वचनान् ॥ १८३ ॥

अथ निदानबंधोपार्जितानि पुण्यानि जीवस्य राग्यादिविभूतिं दत्त्वा नारकादिदुःखं जनयन्तीति हेतोः समीचीनानि न भवन्तीति कथयति;—

मं पुणु पुण्णइ भद्दाइं, णाणिय ताइं भणंति ।

जीवइं रअइं देवि लहु, दुक्खइं जाइं जणंति ॥ १८४ ॥

मा पुनः पुण्यानि भद्राणि ज्ञानिनः तानि भणंति ।

जीवस्य राग्यानि दत्त्वा लघु दुःखानि यानि जनयति ॥ १८४ ॥

मं पुणु इत्यादि । मं पुणु मा पुनः न पुनः पुण्णइं भद्दाइं पुण्यानि भद्राणि भवन्तीति णाणिय ताइं भणंति ज्ञानिनः पुरुषात्मनानि पुण्यानि कर्मतापत्रानि भणन्ति । यानि किं कुर्वन्ति । जीवइं रअइं देवि लहु दुक्खइं जाइं जणंति यानि पुण्यकर्माणि जीवस्य राग्यानि दत्त्वा लघु क्षीप्रं दुःखानि जनयन्ति । तथाथा । निजमुद्धान्मभावोत्थरीतरागपरमानंदैकरूपसुखानुभवविपरितेन दृष्टधृतानुभूतभोगाकांशरूपनिदानबंधपूर्वकज्ञाननपोदानादिना यान्युपार्जितानि पुण्यकर्माणि तानि हेयानि । कस्मादिति चेत् । निदानबंधोपार्जितपुण्येन भवांतरे राग्यादिविभूती लब्धायां तु भोगान् त्यक्तुं न शक्नोति तेन पुण्येन नरकादि-

भोगकर उस दुःखते दरकें दुःखके मूल कारण पापको जानके उस पापसे उदाग हो के प्रशंसा करने योग्य हैं, और पापी जीव प्रशंसाके योग्य नहीं हैं क्योंकि पापकिया दृष्टेया निदनीक है । भेदाभेदरत्नप्रयत्नरूप श्रीधरीतरामदैवक धर्मको जो धारण करते हैं वे अंध हैं । यदि सुखी धारण करे तोभी ठीक और दुःखी धारण करे तब भी ठीक । क्योंकि शास्त्रका वचन है कि कोई महाभाग दुःखी हुए ही धर्ममें लवलीन होतें हैं ॥ १८३ ॥

आगे निदानबंधसे उपार्जन किये हुए पुण्यकर्म जीवको राग्यादि विभूति देकर नरकादि दुःख उत्पन्न कराते हैं इसलिये अच्छे नहीं है;—[पुनः] फिर [तानि पुण्यानि] ये पुण्य भी [मा भद्राणि] अच्छे नहीं हैं [यानि] जो [जीवस्य] जीवको [राग्यानि दत्त्वा] राग देकर [लघु] क्षीप्र ही [दुःखानि] नरकादि दुःखको [जनयंति] उपजाते हैं [ज्ञानिनः] ऐसा जानी पुरुष [भणंति] कहते हैं । भावार्थ—निज मुद्धान्माकी भावनासे उत्पन्न जो धरीतराम परमानंद अतींद्रिय सुखका अनुभव उसमें तिरपीड जो देखे सुने भोगे इन्द्रियोंके भोग उनकी बाढारूप निदानबंधपूर्वक दान तब अर्द्धकसे उपार्जन किये जो पुण्यकर्म हैं ये देय हैं । क्योंकि ये निदानबंधसे उपार्जनबंधे पुण्यकर्म जीवको दूसरे भवमें राजसंपदा देते हैं । उस राजन विभूतिको अज्ञानी जीव पाकर विषय भोगोंको छोड़ नहीं सकता उससे नरकादिकके दुःख पदा हैं रावणकी





वार्त्तारिति । अत्र सम्यक्त्वरहिता जीवाः पुण्यमहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते । सम्यक्त्वरहिताः पुनः पूर्वभवांतरोपार्जितपापफलं भुञ्जाना अपि पुण्यजीवा भण्यन्ते येन कारणेन तेन कारणेन सम्यक्त्वमहितानां मरणमपि भद्रं । सम्यक्त्वरहितानां च पुण्यमपि भद्रं न भवति । अस्मान् । तेन निदानबंधपुण्येन भवांतरे भोगान् लब्ध्वा पश्चात्तरकारिकं गच्छन्तीति भावार्थः । तथा श्लोकः । “वरं नरकयामोषि सम्यक्त्वेन हि संयुतः । न तु सम्यक्त्वेन निवामो दिवि राजते” ॥ १८५ ॥

अथ तमेवार्थं पुनरपि दृश्यति,—

जे णियदंसणअहिमुहा, सुक्खु अणंतु लहंति ।

निं विणु पुण्णु करंतावि दुक्खु अणंतु सहंति ॥ १८६ ॥

ये निजदर्शनाभिमुखाः सौख्यमनंतं लभन्ते ।

तेन विना पुण्यं पुण्या अपि दुःखमनंतं सहन्ते ॥ १८६ ॥

जे णिय इत्यादि । जे ये केचन णियदंसणअहिमुहा निजदर्शनाभिमुखाः ते पुरुषाः सोवगु अणंतु लहंति सौख्यमनंतं लभन्ते । अपरे केचन तिं विणु पुण्णु करंतावि

सम्यक्त्व उसके सन्मुख हुआ है जीव जो तू मरण भी पावे तो दोष नहीं और उस सम्यक्त्वके विना मिथ्यात्व अवस्थामें पुण्य भी करे तो अच्छा नहीं है । जो सम्यक्त्वरहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य सहित हैं तो भी पापी ही कहे हैं । तथा जो सम्यक्त्वसहित हैं वे पहले भवमें उपार्जन किये हुए पापके फलसे दुःख दारिद्र्य भोगते हैं सोभी पुण्याधिकारी ही कहे हैं । इसलिये जो सम्यक्त्व सहित हैं उनका मरना भी अच्छा । मरकर ऊपरको जावेंगे । और जो सम्यक्त्व रहित हैं उनका पुण्य कर्म भी प्रशंसा योग्य नहीं है । वे पुण्यके उदयसे क्षुद्र ( नीच ) देव तथा क्षुद्र मनुष्य होके संसार घनमें भटकेंगे । यदि पूर्वले पुण्यको यहाँ भोगते हैं तो तुच्छ फल भोगके नरकनिगोदमें पड़ेंगे । इसलिये मिथ्यादृष्टियोंका पुण्य भी मला नहीं है । निदानबंधपुण्यसे भवांतरमें भोगोंको पाकर पीछे नरकमें जावेंगे । सम्यग्दृष्टि प्रथम मिथ्यात्व अवस्थामें किये हुए पापोंके फलसे दुःख भोगते हैं लेकिन अब सम्यक्त्व मिला है इसलिये सदा सुखी ही होवेंगे । आपुके अंतमें नरकसे निकलके मनुष्य होकर ऊर्ध्वगति ही पावेंगे, और मिथ्यादृष्टि जो पुण्यके उदयसे देवभी हुए हैं सोभी देवलोकासे आकर एकद्रीं होवेंगे । ऐसा दूसरी जगह भी “वरं” इत्यादिश्लोकसे कहा है कि सम्यक्त्व सहित नरकमें रहना भी अच्छा और सम्यक्त्व रहितका स्वर्गमें निवास भी नहीं शोभा देता ॥ १८५ ॥

अथ इसी बातको फिर भी दृढ करते हैं;—[ये] जो [निजदर्शनाभिमुखाः] सम्यक्दर्शनके सन्मुख हैं वे [अनंतं सुखं] अनंत सुखको [लभन्ते] पाते हैं [तेन विना]



पशुपतिं पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति बुद्धिविनाशं च करोति । न च पुनः  
सम्यक्त्वाद्विगुण्यदितं भगवत्परात्मपादं विगुण्यर्थं भवत् । यदि पुनः सर्वेषां मदं जनयति  
तर्हि ते कथं पुण्यभाजनाः भवन्ति महाद्वेषारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्षं गता इति भावार्थः ॥  
तथा शेषं पितृभक्त्या निरहंकारत्वं । “मत्तं वापि मत्तौ भुक्तं इति दया शौर्यं भुजे  
रिक्तेभ्यो लक्ष्मीदानमनुनमार्थमिषये मार्गे गतिर्निवृत्तेः । येषां प्रागजनीहृतेषु निरहंकाराः  
शुभेर्गोपराधिष्ठं मन्त्रि लक्ष्मीभ्यो न गुणाम्नेषां तथायुद्धताः ॥ १८७ ॥

अथ देवशास्त्रगुरुभक्त्या गुरुपशुपत्या पुण्यं भवति न च मोक्ष इति प्रतिपादयति;—

देवहं सत्यहं भुगिवरहं, भक्तिं पुण्यं ह्येह ।

कर्मक्षय उ पुण्यं होइ णवि, अज्ञ उ संति भणेइ ॥ १८८ ॥

देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां भक्त्या पुण्यं भवति ।

कर्मक्षयः पुनः भवति नैव आर्यः सांतिः भवति ॥ १८८ ॥

देवहं इत्यादि । देवहं सत्यहं भुगिवरहं भक्तिं पुण्यं ह्येह देवशास्त्रमुनीनां भक्त्या  
पुण्यं भवति कर्मक्षय उ पुण्यं होइ णवि कर्मक्षयः पुनर्मुख्यपशुपत्या नैव भवति । एवं  
शौभी भवति । अज्ञ उ आर्यः । किं नामा । संति नामा भणेइ भवति कथयति इति ।

मोक्ष पुण्य पापका ही कारण है । जो सम्यक्त्वादि गुण सहित भरत सगर राम पांडवादिक  
विषेकी जीव हैं उनको पुण्यबंध अभिमान नहीं उत्पन्न करता परंपराय मोक्षका कारण है ।  
जैसे अज्ञानीयोके पुण्यका फल विभूति गर्वका कारण है वैसे सम्यग्दृष्टियोके नहीं है ।  
ये सम्यग्दृष्टि पुण्यके पात्र हुए चक्रवर्ती आदिकी विभूति पाकर मद अहंकारादि विक-  
ल्पोंको छोड़कर मोक्षको गये अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती बलभद्रपदमें भी निरहंकार  
रहे । ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रंथमें श्रीगुणभद्राचार्यने किया है । कि, पहले  
समयमें ऐसे सत्पुरुष होगये हैं कि जिनके बचनमें सत्य, शास्त्रमें बुद्धि, मनमें दया,  
पराक्रमरूप भुजाओंमें शूर वीरता, याचकोंमें पूर्ण लक्ष्मीका दान और मोक्षमार्गमें गमन  
है ये निरभिमानी हुए, जिनके किसीगुणका अहंकार नहीं हुआ । उनके नाम शास्त्रोंमें  
मसिद्ध हैं परंतु अब यद्वा अर्चभा है कि इस पंचमकालमें लेशमात्र भी गुण नहीं हैं तौभी  
उनके उद्धतपना है यानी गुण लो रंचमात्र भी नहीं और अभिमानमें बुद्धि रहती है १८७

आगे देव गुरु शास्त्रकी भक्तिसे मुख्यतासे तो पुण्य बंध होता है परंपराय मोक्ष होती  
है साक्षात् मोक्ष नहीं ऐसा कहते हैं;—[ देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां ] श्री वीतरा-  
गदेव, द्वादश्यां शास्त्र और दिग्बर साधुओंका [ भक्त्या ] भक्ति करनेसे [ पुण्यं भवति ]  
मुख्यतासे पुण्य होता है [ पुनः ] लेखन [ कर्मक्षयः ] तत्काल कर्मोंका क्षय [ नैव  
भवति ] नहीं होना ऐसा [ आर्यः सांतिः ] सांति नाम आर्य अथवा कपटरहित सत-





निर्वाणमिति । तथा । सहजशुद्धज्ञानानन्दैकेश्वभावात्परमात्मनः सद्यशाद्विपरीतेन हेतुना-  
 दिनारकतिर्यग्गतिदुःखदानसमर्थेन पापकर्मोदयेन नारकतिर्यग्गतिभाजनो भवति जीवः ।  
 तस्मादेव शुद्धान्तो बिलम्बेन पुण्योदयेन देवो भवति । तस्मादेव शुद्धान्तो गिरतिन  
 पुण्यसारद्वयेन मनुष्यो भवति । तस्मैव विशुद्धज्ञानदर्शनश्वभावस्य निजशुद्धान्तस्वरमस्यै-  
 कज्ञानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन मुक्तो भवतीति तात्पर्यार्थः ॥ तथा श्लो० ॥ “एतेन  
 परत्यतिरिचं मम्मद् धम्मेन देवलोयम्भि । विस्मेग माणुमत्तं दोण्हंरि राण्ण निन्वानं” १९०

अथ निम्नप्रतिक्रमनप्रत्याख्यानालोचनश्रुते स्त्रित्वा व्यरहारप्रतिक्रमनप्रत्याखा-  
 नालोचनं दर्शयतीति प्रिक्रमेन कथयति;—

बंदणु णिंदणु पडिकमणु, पुण्णहं कारणु जेण ।

करइ करायइ अणुमणइ, एकुयि णाणि ण तेण ॥ १९१ ॥

बंदनं निरनं प्रतिक्रमणं पुण्यस्य कारणं येन ।

करोति कारयति अणमन्यते एकमपि ज्ञानी न तेन ॥ १९१ ॥





चंदनं निंदनं प्रतिक्रमणं ज्ञानिनां इदं न युक्तं ।

एकमेव मुत्तवा ज्ञानमयं शुद्धं भावं पवित्रं ॥ १९२ ॥

चंदणु निंदणु पडिकमणु चंदननिंदनप्रतिक्रमणत्रयं गाणिहु एहु ण जुतु शानता-  
दिदं न युक्तं । किं कृत्वा । एकु जि मैट्टिवि एकमेव मुक्त्वा । एकं कं । गाणमउ  
मुद्धउ भाउ पवित्तु ज्ञानमयं शुद्धभावं पवित्रमिति । तथाहि । पंचेन्द्रियभोगांशान्प्रवृत्ति-  
समस्तविभावरहितः शून्यः केवलज्ञानाद्यनंतगुणपरमात्मतत्त्वसम्यक्शुद्धानुज्ञानानुज्ञानरूप-  
निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसहजानंदपरमसमरसीभावलक्षणमुखामृतरसास्वादेन भरितारसो  
योसौ ज्ञानमयो भावः तं भावं मुक्त्वाऽन्यद्व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रयं तदनु-  
कूलं चंदननिंदनादिशुभोपयोगविकल्पजालं च ज्ञानिनां युक्तं न भवतीति वात्पर्यं ॥ १९२ ॥

अथ;—

चंदउ निंदउ पडिकमउ, भाउ असुद्धउ जासु ।

पर तसु संजसु अत्थि णवि, जं मणसुद्धि ण तासु ॥ १९३ ॥

चंदतु निंदतु प्रतिक्रमतु भावः अशुद्धो यस्य ।

परं तस्य संयमोऽपि नैव यस्मात् मनःशुद्धिर्न तस्य ॥ १९३ ॥

चंदउ इत्यादि । चंदउ निंदउ पडिकमउ चंदननिंदनप्रतिक्रमणं करोतु भाउ असुद्धउ  
जासु भावः परिणामः न शुद्धो यस्य परं नियमेन तसु तस्य पुण्यस्य मंत्रसु अन्धि णवि  
चंदनोऽपि नैव । कर्माश्रान्ति । जं यस्मात् कारणान् मणसुद्धि ण तासु मनःशुद्धिर्न

आगे हमी कथनको दृढ करते हैं;—[ चंदनं निंदनं प्रतिक्रमणं ] चंदना निंदा और  
प्रतिक्रमण [ इदं ] ये तीनों [ ज्ञानिनां ] पूर्ण ज्ञानियोंको [ युक्तं न ] टीका नहीं है  
[ एकमेव ] एक [ ज्ञानमयं ] ज्ञानमय [ शुद्धं पवित्रं भावं ] पवित्र शुद्धभावाको  
[ कृत्वा ] छोड़कर अर्थात् इसके निवाय ज्ञानीको कोई कार्य करना योग्य नहीं है ।  
स्वार्थ—चाच इंद्रियोंके भोगोंकी बलाको आदि लेकर मूर्ख विभावोंमें रहित जो  
केवलज्ञानदि अनंतगुणरूप परमात्मतत्त्व उमके सम्यक् शुद्धान ज्ञान आवाग रूप निर्वि-  
कल्पसमस्तिये उक्त्ये दो परमचंद परममनसमीमाव वो ही हुआ असुद्धरम उमके भाव-  
दमें पूर्ण जो ज्ञानमयीभाव उमके छोड़कर अन्य व्यवहार प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान भावोंबलाके  
असुद्धउ चंदन निंदनादि शुभोपयोग विचक्षण जाउ दे वे पूर्णज्ञानीको करने योग्य नहीं  
है । परम भावोंके ही है आगे पृष्ठी ३ ॥ १९३ ॥

तस्येति । तद्यथा । नित्यानन्दैकरूपस्य शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षैर्विषयकथायाधीनैः ध्यानि-  
पूजालाभादिमनोरथशतसहस्रविकल्पजालमालाप्रपंचोत्पन्नैरपध्यानैर्यस्य चित्तं रीजितं वागित्तं  
विघ्नति तस्य द्रव्यरूपं चंदननिंदनप्रतिक्रमणारिकं कुर्वाणस्यापि भावसंयमो नाम्नि इत्यभि-  
प्रायः ॥ १९३ ॥ एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्विर्नीयमहाधिकारमध्ये निघ्न-  
यनयेन पुण्यपापद्वयं समानमित्यादि ध्यायान्यनमुत्पत्त्येन चतुर्दशमूत्रप्रपंचं ममानं ।  
अयानंतरं शुद्धोपयोगादिप्रतिपादनमुत्पत्त्येनैकाधिकचत्वारिंशत्मूत्रप्रपंचं ध्यायान्यनं क-  
रोति । तत्रांतरस्थलचतुष्टयं भवति । तद्यथा । प्रथममूत्रप्रपंचेन शुद्धोपयोगध्यायानं  
करोति, तदनंतरं पंचदशमूत्रप्रपंचं भीतरागस्वसंबेदनज्ञानमुत्पत्त्येन ध्यायान्यनं, अत उपरं  
सुश्राष्टकप्रपंचं परिग्रहत्यागमुत्पत्त्येन ध्यायान्यनं, तदनंतरं त्रयोदशमूत्रप्रपंचं पंचदशानादि-  
गुणस्वरूपेण सर्वे जीवाः समाना इति मुत्पत्त्येन ध्यायान्यनं करोति । तद्यथा ।

शागादिविकल्पनिवृत्तिस्वरूपशुद्धोपयोगे संयमादयः सर्वे गुणाग्निष्टंति प्रतिपादयति,—

सुद्धं संजमु सीलु तउ, सुद्धं दंसणु णाणु ।

सुद्धं कम्मकखउ ह्यइ, सुद्धं तेण पहाणु ॥ १९४ ॥

शुद्धानां संयमः शीलं तपः शुद्धानां दर्शनं ज्ञानं ।

शुद्धानां कर्मक्षयो भवति शुद्धो तेन प्रधानः ॥ १९४ ॥

नहीं होसकना [ यद् ] क्योकि [ तस्य ] उसके [ मनःशुद्धिः न ] मन्त्री शुद्धता नहीं  
है । जिसका मन शुद्ध नहीं उसके संयम बढ़ाते होसकता है । भाषार्थ—नित्यानन्द  
एकरूप निजशुद्धात्माकी अनुभूतिके प्रतिपक्षी ( उल्टे ) जो विषयवशाय उनके आधीन  
आवे शीघ्र छोटे ध्यानोंकर जिसका चित्त रंगा हुआ है उसके द्रव्यरूप जगद्गार देहता  
निदान प्रतिक्रमणादि क्या कर सकते हैं । जो वह बाध किया करता है तभी उसके  
भावसंयम नहीं है । सिद्धांतमें उसे असंयमी कहते हैं । जैसे हैं जो आर्न शीघ्र भाव  
सोटे ध्यान । अपनी बड़ाई प्रतिष्ठा और लाभादि सबको मनोरथोंके दिक्कपोकी गण्डके  
( वैच्छिके ) प्रपंचकर उत्पन्न हुए हैं । जबतक ये विघ्नमें हैं तबतक बहानिदा क्या  
करसकती है ? शुद्ध नहीं करसकती ॥ १९३ ॥

इसपरह मोक्ष मोक्षफल मोक्षमार्गादिवा कथन करनेवाले द्वारे मनु अविघ्नके  
निश्चयनवसे पुण्य पाप दोनों समान हैं इस व्याख्यानकी मुख्यतासे शीघ्र होसकते ।  
आगे शुद्धोपयोगके बंधनकी मुख्यतासे एकाकीस होसभोमे व्याख्यान करने हैं । और  
आठसोदाभोमे परिग्रहत्यागके ध्यायान्यनकी उत्पत्तयमे करने हैं तथा एकरोसभोमे  
केवल ज्ञानादिगुणस्वरूपपर सब जीव समान हैं ऐसा व्याख्यान है ।

अब प्रथम ही शागादि विकल्पाकी निवृत्तिके शुद्धोपयोगके व्याख्यानके सब हुए करने

वंदनं निंदनं प्रतिक्रमणं ज्ञानिनां इदं न युक्तं ।

एकमेव मुच्यते ज्ञानमयं शुद्धं भावं पवित्रं ॥ १९२ ॥

वंदनं निंदनं प्रतिक्रमणं ज्ञानिनां इदं न युक्तं । किं कृत्वा । एतु जि मेल्लिवि एकमेव मुक्त्वा । एकं कं । ज्ञानमयं शुद्धं भावं पवित्रं ज्ञानमयं शुद्धभावं पवित्रमिति । तथाहि । पंचेंद्रियभोगाकांक्षावृत्तिसमस्तविभावरहितः शून्यः केवलज्ञानाद्यनंतगुणपरमात्मतत्त्वसम्यक्शुद्धज्ञानज्ञानानुष्ठानरूपनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसहजानंदपरमसमरसीभावलक्षणमुत्पत्तामृतरसास्वादेन भरितारम्भो योमौ ज्ञानमयो भावः तं भावं मुक्त्वाऽन्यद्व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनप्रयं तत्तु-  
 क्तं वंदननिंदनादिशुभोपयोगविकल्पजालं च ज्ञानिनां युक्तं न भवतीति तात्पर्यं ॥ १९२ ॥

अथ,—

वंदनं निंदनं प्रतिक्रमणं, भावं असुद्धं जायते ।

परं तत्तु संजामु अतिथि णवि, जं मणसुद्धि ण तासु ॥ १९३ ॥

वंदनं निंदनं प्रतिक्रमणं भावं असुद्धो यस्य ।

परं तस्य संयमोक्ति नैव यस्मात्तु मनःशुद्धिर्न तस्य ॥ १९३ ॥

तस्येति । तद्यथा । नित्यानन्दैकरूपस्वशुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षैर्विषयकपायाधीनैः प्यानि-  
पूजालाभादिमनोरथशतसहस्रविकल्पजालमालाप्रपंचोत्पन्नैरपध्यानैर्यस्य चित्तं रजितं वासितं  
विष्ठति तस्य द्रव्यरूपं बंदननिंदनप्रतिक्रमणादिकं कुर्वाणस्यापि भावसंयमो नास्ति इत्यभि-  
प्रायः ॥ १९३ ॥ एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निम्न-  
यनयेन पुण्यपापद्वयं समानमित्यादि व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्दशसूत्रस्थलं ममानं ।  
अथानंतरं शुद्धोपयोगादिप्रतिपादनमुख्यत्वेनैकाधिकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यंतं व्याख्यानं क-  
रोति । तत्रानंतरस्थलचतुष्टयं भवति । तद्यथा । प्रथमसूत्रपंचकेन शुद्धोपयोगव्याख्यानं  
करोति, तदनंतरं पंचदशसूत्रपर्यंतं पीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानं, अत ऊर्ध्वं  
सूत्राष्टकपर्यंतं परिग्रहत्यागमुख्यत्वेन व्याख्यानं, तदनंतरं प्रयोदशसूत्रपर्यंतं केवलज्ञानादि-  
गुणस्वरूपेण सर्वे जीवाः समाना इति मुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तद्यथा ।

रागादिविकल्पनिवृत्तिस्वरूपशुद्धोपयोगे संयमादयः सर्वे गुणासिद्धंतीति प्रतिपादयति;—

सुद्धं संजमु सील तउ, सुद्धं दंसणु णाणु ।

सुद्धं कम्मकखउ ह्यइ, सुउउ तेण पहाणु ॥ १९४ ॥

शुद्धानां संयमः शीलं तपः शुद्धानां दर्शनं ज्ञानं ।

शुद्धानां कर्मक्षयो भवति शुद्धो तेन प्रधानः ॥ १९४ ॥

नहीं होसकता [ यत् ] क्योकि [ तस्य ] उसके [ मनःशुद्धिः न ] मननी शुद्धता नहीं  
है । जिसका मन शुद्ध नहीं उसके संयम कहासे होसकता है । भाषार्थ—नित्यानंद  
एकरूप निजशुद्धात्माकी अनुभूतिके प्रतिपक्षी ( उलटे ) जो विषयकपाय उनके आधीन  
आतं रीद्र लोटे ध्यानोकर जिसका चित्त रंगा हुआ है उसके द्रव्यरूप बरबहार बंदना  
निदान प्रतिक्रमणादि क्या कर सकते हैं । जो वह बाध क्रिया करता है तभी उसके  
भावसंयम नहीं है । सिद्धांतमें उसे असंयमी कहते हैं । कैसे हैं वो आतं रीद्र स्वरूप  
लोटे ध्यान । अपनी बड़ाई प्रतिष्ठा और लाभादि सैकड़ों मनोरथोंके विकल्पोकी गणनाके  
( पंक्तिके ) प्रपंचकर उत्पन्न हुए हैं । जबतक ये चित्तमें हैं तबतक बाधक्रिया क्या  
करसकती है! कुछ नहीं करसकती ॥ १९३ ॥

इसतरह मोक्ष मोक्षफल मोक्षमार्गादिबा कथन करनेवाले दूसरे महा अधिकारने  
निश्चयनयसे पुण्य पाप दोनों समान हैं हम व्याख्यानकी मुख्यतासे पीरह दोटा बटे ।  
आगे शुद्धोपयोगके कथनकी मुख्यतासे हजनालीग दोटाभोंमें व्याख्यान करने हैं । पीर  
आठदोटाभोंमें परिग्रहत्यागके व्याख्यानकी मुख्यतासे कहते हैं तथा तेरहदोटाभोंमें  
केवल ज्ञानादिगुणस्वरूपकर सब जीव समान हैं ऐसा व्याख्यान है ।

अब प्रथम ही रागादि विकल्परकी निवृत्तिरूप शुद्धोपयोगने मत्स्यादि सब सुद्ध रहने

मुद्धहं इत्यादि । मुद्धहं शुद्धोपयोगिनां संज्ञमु इन्द्रियमुग्धाभिव्यापनिवृत्तिवलेन पदार्थ-  
निकायहिंमानिवृत्तिवलेनात्मना आत्मनि संयमनं नियमनं संयमः स पूर्वोक्तः शुद्धोप-  
योगिनामेव । अथयोपेक्षासंयमापद्रुतसंयमौ वीतरागस्यरागापरतामानौ तत्रापि तेषामेव संय-  
मतः । अथवा सामायिककष्टेदोपरत्यापनपरिहारविशुद्धिमूढसंयमसंयमयोः अन्वयानभेदेन संयमः  
सोपि लभ्यते तेषामेव । सीदु स्यात्माना कृत्वा स्यात्मानिवृत्तिवलेन इति निश्चयप्र-  
व्रतस्य रागादिपरिहारेण परिश्रमं निश्चयशीलं तदपि तेषामेव । तउ द्वाद्वादविधतराग-  
वलेन परद्रव्येच्छानिरोधं कृत्वा शुद्धात्मनि प्रवृत्तं विजयनं तप इति । तदपि तेषामेव ।  
मुद्धहं शुद्धोपयोगिनां दंसुषु छद्मस्यावस्थायां स्युद्धात्मनि रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं केवल-  
ज्ञानोत्पत्तौ सत्यां तस्यैव फलभूतं अनीहितविपरीताभिनिवेशरहितं परिणामलक्षणं श्रायिक-  
सम्बन्धं केवलदर्शनं वा । तेषामेव । पाणु वीतरागस्यसंवेदनज्ञानं तस्यैव फलभूतं केवल-  
ज्ञानं वा मुद्धहं शुद्धोपयोगिनामेव । कम्मवस्वउ परमात्मस्वरूपोपलब्धिबलज्ञानो द्रव्यमात्र-  
कर्मक्षयः ह्यद् तेषामेव भवति मुद्धहं शुद्धोपयोगपरिणामस्तदाधारपुरुषो वा तेषां पहायु  
येन कारणेन पूर्वोक्ताः संयमादयो गुणाः शुद्धोपयोगे लभ्यन्ते तेन कारणेन स एव प्रधान

हैं ऐसा वर्णन करते हैं;—[शुद्धानां] शुद्धोपयोगियोंके ही [संयमः शीलं तपः]  
पांच इन्द्री छठे मनको रोकनेरूप संयम, शील और तप [भवति] होते हैं [शुद्धानां]  
शुद्धोंके ही [दर्शनं ज्ञानं] सम्यग्दर्शन और वीतरागस्यसंवेदनज्ञान और [शुद्धानां]  
शुद्धोपयोगियोंके ही [कर्मक्षयः] कर्मोंका नाश होता है [तेन] इसलिये [शुद्धः]  
शुद्धोपयोग ही [प्रधानः] जगतमें मुख्य है । भावार्थ—शुद्धोपयोगियोंके; पांच इंद्री  
छठे मनका रोकना, विषयामिलापकी निवृत्ति और छद्मकायके जीवोंकी हिमामे निवृत्ति  
उसके बलसे आत्मामें निश्चल रहना उसका नाम संयम है वह होता है, अथवा जोड़  
संयम अर्थात् तीनगुणोंमें आरूढ और अपद्रुत संयम अर्थात् पांच समितिका पाठना,  
अथवा स्राग संयम अर्थात् शुद्धोपयोगरूपसंयम और वीतरागसयन अर्थात् शुद्धोपयोग-  
रूप परमसंयम वह उन शुद्ध चेतनोपयोगियोंके ही होता है । शील अर्थात् अपनेसे  
अपने आत्मामें प्रवृत्ति करना यह निश्चयशील, रागादिके त्यागनेसे शुद्धभावकी रक्षा करना  
यह भी निश्चय शील है, और देवागना मनुष्यना निर्यचना तथा काठ पत्थर चित्रामादि  
अचेतन स्त्री-पैसे जार प्रकारकी स्त्री उनका मन बचनकाय गूढ कारणेन अनुमोदनामे त्याग  
करना यह व्यवहार शील ये दोनों शील शुद्धचित्तवालोंके ही होने हैं । तप अर्थात् बारह  
तरहका तप उसके बलसे भारकर्म द्रव्यकर्म लोककर्मरूप सब बन्धनोंमें इच्छा छोड़कर  
शुद्धात्मामें मग्न रहना काम कोषादि गुणोंके बन्धन न होना, प्रनापक विजयक  
जितेंद्री रहना है । यह तप शुद्ध चित्तवालोंके ही होना है । दर्शन अर्थात् माधक अर-

वपादेयः इति तात्पर्यं । तथा चोक्तं शुद्धोपयोगफलं । “मुद्धस्म य सामर्णं भणियं मुद्धस्म  
दंसर्णं णाणं । मुद्धस्म य णिव्वाणं सो वि य मुद्धो णमो तस्म ॥” ॥ १९४ ॥

अथ निश्चयेन स्वकीयशुद्धभाव एव धर्म इति कथयति,—

भाउ विसुद्धउ अप्पणउ, धम्म भणेविणु लेहु ।

चउगइदुक्खहं जो धरइ, जीउ पढंतउ एहु ॥ १९५ ॥

भावो विशुद्ध आत्मीयः धर्म भणित्वा गृहीथाः ।

चतुर्गतिदुःखेभ्यः यो धरति जीवं पतंतमिमं ॥ १९५ ॥

भाउ इत्यादि । भाउ भावः परिणामः । कथभूतः । विसुद्धउ विशेषेण शुद्धो  
मिथ्यास्वरागादिरहितः अप्पणउ आत्मीयः धम्म भणेविणु लेहु धर्म भणित्वा मत्वा  
प्रगृहीथाः । यो धर्मः किं करोति । चउगइ दुक्खहं जो धरइ चतुर्गतिदुःखेभ्यः मक्कामान्  
उदुत्थ यः कर्ता धरति । कं धरति । जीउ पढंतउ एहु जीवनिमं प्रत्यग्रीभूतं संसारे  
पतंतमिति । तस्यैव । धर्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते । संसारे पतंतं प्राणिनमुद्भूय नरेन्द्रना-  
गैन्द्रदेवैन्द्रवन्दे मोक्षपदे धरतीति धर्म इति धर्मशब्देनात्र निश्चयेन जीवस्य शुद्धपरिणाम एव

स्वामे तो शुद्धात्माने रुचिरूप सम्पददर्शन और केवली अवस्वामे उस सम्पददर्शनका फल-  
रूप संशय विमोह विभ्रम रहित निजपरिणामरूप क्षाधिकमम्यक्त्व केवलदर्शन यह भी  
शुद्धोके ही होता है । ज्ञान अर्थात् धीतरागस्रसवेदनज्ञान और उसका फल केवलज्ञान  
यह भी शुद्धोपयोगियोंके ही होता है और कर्मक्षय अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म और नोक-  
र्मका नाश तथा परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति यह भी शुद्धोपयोगियोंके ही होती है । इसलिये  
शुद्धोपयोग परिणाम और उन परिणामोंका धारण करनेवाला पुरुष ही जगतमें प्रधान है ।  
क्योंकि संयमादि सर्व गुण शुद्धोपयोगमें ही पाये जाते हैं । इसलिये शुद्धोपयोगके  
समान अन्य नहीं है ऐसा तात्पर्य जानना । ऐसा ही कथन अन्य ग्रंथोंमें हर एक जगह  
“सुद्ध” इत्यादिसे कहा गया है । उसका भावार्थ यह है कि शुद्धोपयोगीके ही मुनिपद  
कहा है और उसीके दर्शन ज्ञान कहे हैं । उसीके निर्वाण है और वही शुद्ध अर्थात्  
रागादि रहित है । उसीको हमारा नमस्कार है ॥ १९४ ॥

जागे यह कहते हैं कि निश्चयसे अपना शुद्धभाव ही धर्म है;—[ विसुद्धः भावः ]  
मिथ्यास्वरागादिसे रहित जो शुद्ध परिणाम है वही [ आत्मीयः ] अपना है और  
अशुद्ध परिणाम अपने नहीं है सो शुद्ध भावको ही [ धर्म भणित्वा ] धर्म मगजकर  
[ गृहीथाः ] जगीकार करो । [ यः ] जो आत्मधर्म [ चतुर्गतिदुःखेभ्यः ] चारों दू-  
खोंके दुस्खोंमें [ पतंतं ] संसारमें पड़े हुए [ इमं जीवं ] इस जीवको [ धरति ]  
[ धरति ] आनदस्वानामं मन्ता है ॥ भावार्थ—धर्मशब्दका संसारने

भाह्यः । तस्य तु मध्ये वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन सर्वे धर्मात्तर्भूता लभ्यन्ते । तथा अहिंसालक्षणो धर्मः सोपि जीवशुद्धभावं विना न संभवति । सागारानगारलक्षणो धर्मः सोपि तथैव । उत्तमश्रमादिदशविधो धर्मः सोपि जीवशुद्धभावमपेक्षते । सट्टिप्रज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुरित्युक्तं यद्धर्मलक्षणं तदपि तथैव । रागद्वेषमोहरहितः परिणामो धर्मः सोपि जीवशुद्धभाव एव । च्छुद्धभावो धर्मः सोपि तथैव । तथा चोक्तं । “धम्मो वत्सुसहावो” इत्यादि । एवं गुणविशिष्टो धर्मश्चतुर्गतिदुःखेषु पतंतं धरतीति धर्मः । अत्राद शिष्यः । पूर्वसूत्रे भणितं शुद्धोपयोगमध्ये संप्रमादयः सर्वे गुणाः लभ्यन्ते । अत्र तु मणि-समासनः शुद्धपरिणाम एव धर्मः सूत्रे सर्वे धर्माश्च लभ्यन्ते । को विज्ञेयः । परिहारमाह । अत्र शुद्धोपयोगसंज्ञा मुख्या अत्र तु धर्मसंज्ञा मुख्यैतावान् विज्ञेयः । तात्पर्यं तदेव । तेन कारणेन सर्वप्रकारेण शुद्धपरिणाम एव कर्तव्य इति भावार्थः ॥ १९५ ॥

पढ़ते हुए प्राणियोंको निकालकर मोक्षपदमें रखे वह धर्म है । वह मोक्षपद देवेन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्रोकर बंदने योग्य है । जो आत्माका निज स्वभाव है वही धर्म है उसीमें जिनभाषित सब धर्म पाये जाते हैं । जो दयास्वरूप धर्म है वह भी जीवके शुद्धभावके विना नहीं होता, यति श्रावकका धर्म भी शुद्धभावके विना नहीं होता, उत्तम ज्ञानादि दशलक्षणधर्म भी शुद्धभाव विना नहीं होसकता और रत्नत्रयधर्म भी शुद्धभावके विना नहीं हो सकता । ऐसा ही कथन जगद्गुरु ग्रंथोंमें कहा है “सद्दृष्टि” इत्यादि श्लोकसे । उसका अर्थ यह है कि धर्मके ईश्वर भगवानने सम्प्रदर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनोंकी धर्म कहा है । जिन धर्मके ये ऊपर कहे गये लक्षण हैं वह रागद्वेष मोह रहित परिणाम धर्म है वह जीवका स्वभाव ही है क्योंकि यशुका स्वभाव ही धर्म है । ऐसा दूसरी जगद्गुरु भी “धम्मो” इत्यादि गायत्रसे कहा है कि जो आत्मवशुका स्वभाव है वह धर्म है उत्तमज्ञानादि भावरूप दस प्रकारका धर्म है रत्नत्रय धर्म है और जीवोंकी रक्षा वह धर्म है । यह जिन भाषित धर्म चतुर्गतिके दुःखोंमें पड़ते हुए जीवकी उद्धारता है । यहां लिख्यते प्रथम शिष्या कि जो पहले दोहामें जो सुमने शुद्धोपयोगमें सबमादि सब गुण कहे और यहा आत्माका शुद्ध परिणाम ही धर्म कहा है उगमें धर्म पाये जाते हैं जो पहले दोहामें और हमने क्या भेद है । उसका समाधान । पहले दोहामें जो शुद्धोपयोग मुख्य था जो हम दोहामें धर्म मुख्य कहा है । शुद्धोपयोग ही धर्म धर्म है तथा धर्मका ही नाम शुद्धोपयोग है । अतःका भेद है अथका भेद नहीं है दोहामें लिख्यते यह है । हमारेमें सब तरह शुद्ध परिणाम ही धर्म है वही धर्म है ॥ १९५ ॥

अथ विशुद्धभाव एव मोक्षमार्ग इति दर्शयति;—

सिद्धिर्हि केरा, पंधडा, भाउ विसुद्धउ एकु ।

जो तसु भावहं मुणि चलइ, सो किम होइ विसुद्ध ॥ १९६ ॥

सिद्धेः संबन्धी पंथाः भावो विशुद्ध एकः ।

यः तस्माद्भावात् मुनिश्चलति स कथं भवति विमुक्तः ॥ १९६ ॥

सिद्धिर्हि इत्यादि । सिद्धिर्हि केरा सिद्धेर्मुक्तेः संबन्धी पंधडा पंथा मार्गः । कोमौ । भाउ भावः परिणामः । कथंभूतः । विसुद्धउ विशुद्धः एकु एक एवाद्वितीयः । जो तसु भावहं मुणि चलइ यस्तस्माद्भावात्मुनिश्चलति सो किम होइ विसुद्धु म मुनिः कथं मुक्तो भवति न कथमपीति । तथा । योसौ समस्तशुभाशुभसंकरूपविकल्परहितो जीवस्य शुद्धभावः स एव निश्चयरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गः । यन्मस्मान् शुद्धात्मपरिणामान्मुनिश्च्युतो भवति स कथं मोक्षं लभते किं तु नैव । अत्र येन कारणेन निजशुद्धात्मानुभूतिपरिणाम एव मोक्षमार्गत्वेन कारणेन मोक्षार्थिना स एव निरंतरं कर्तव्य इति सात्वयार्थः ॥ १९६ ॥

अथ कापि देशे गच्छ किमप्यनुष्ठानं कुरु तथापि चित्तशुद्धिं विना मोक्षो नाम्नीति प्रकटयति;—

जहिं भावइ तहिं जाहि जिय, जं भावइ बरि तं जि ।

केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर, चित्तहं सुद्धि ण जं जि ॥ १९७ ॥

यत्र भाति तत्र याहि जीव यद् भाति कुरु तदेव ।

कथमपि मोक्षः नास्ति परं चित्तस्य शुद्धिर्न यदेव ॥ १९७ ॥

जहिं भावइ इत्यादि । जहिं भावइ तहिं यत्र देशे प्रतिभाति तत्र जाहि गच्छ जिय

आगे शुद्धभाव ही मोक्षका मार्ग है ऐसा दिखलाते हैं;—[ सिद्धेः संबन्धी ] शुद्धि [ पंथाः ] मार्ग [ एकः विशुद्धः भावः ] एक शुद्ध भाव ही है [ यः मुनिः ] जो मुनि [ तस्मात् भावात् ] उस शुद्ध भावसे [ चलति ] चलानेमाने होजाये [ सः ] वह [ कथं ] कैसे [ विसुद्धः ] शुक्त [ भवति ] होसकता है निरीनकार नही होसकता । भावार्थ—जो समस्त शुभाशुभ संकरूप विकल्पोसे रहित जीवका शुद्ध भाव है वही निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षका मार्ग है । जो मुनि शुद्धात्मपरिणामसे वृत्त होजाये वह किसतरह मोक्षको प्राप्तकता है नही प्राप्तकता । मोक्षका मार्ग एक शुद्ध भाव ही है, इसलिये मोक्षके इच्छकको वही भाव हमेशा करना चाहिये ॥ १९६ ॥

आगे यह प्रकट करते हैं कि निरी देशमें जावो जाते ओ तप करो लौकी चित्तकी शुद्धिके विना मोक्ष नही है;—[ हे जीव ] हे जीव [ यत्र ] जहा [ भाति ] तेरी इच्छः



दानेन लभ्यते भोगाः परं इंद्रत्वमपि तपसा ।

जन्ममरणविवर्जितं पदं लभ्यते ज्ञानेन ॥ १९९ ॥

दाणिं श्ल्यादि । दाणिं लब्धम् मोउ दानेन लभ्यते पंचेंद्रियभोगाः परं नियमेन इंद्रत्वमपि तपेण इंद्रत्वमपि तपसा लभ्यते जन्ममरणविवर्जितं पदं लभ्यते जन्ममरणविवर्जितं पदं पदं स्थानं लब्धम् लभ्यते प्राप्यते । केन । णाणेण वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेनेति । तथाहि । आहारभयभैषज्यशास्त्रज्ञानेन सम्यक्त्वरहितेन भोगो लभ्यते । सम्यक्त्वसहितेन तु यद्यपि परंपरया निर्वाणं लभ्यते तथापि त्रिविधाम्युदयरूपः पंचेंद्रियभोग एव । सम्यक्त्वसहितेन तपसा तु यद्यपि निर्वाणं लभ्यते तथापि देवेंद्रचक्रवर्त्यादिविभूतिपूर्वकैव । वीतरागस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानेन सविकल्पेन यद्यपि देवेंद्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषो भवति तथापि निर्विकल्पेन मोक्ष एवेति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । हे भगवन् यदि विद्वानमात्रेण मोक्षो भवति तर्हि सांख्यादयो वदन्ति ज्ञानमात्रादेव मोक्षः तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । अत्र वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानमिति भगिनं तिष्ठति तेन वीतरागविशेषणेन चारित्र्यं लभ्यते सम्यग्बिषेपणेन सम्यक्त्वमपि लभ्यते षानकवदे-  
कस्यापि मध्ये प्रथमस्ति । तेषां मते तु वीतरागविशेषणं नास्ति सम्यग्बिषेपणं च नास्ति ज्ञानमात्रमेव । तेन दूषणं भवतीति भावार्थः ॥ १९९ ॥

इस प्रकार इकतालीस दोहाओंके महासलमें पांच दोहाओंमें शुद्धोपयोगका व्याख्यान किया । आगे पंद्रह दोहाओंमें वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं:—  
[दानेन] दानसे [परं] नियमकरके [भोगाः] पांच इंद्रियोंके भोग [लभ्यते] प्राप्त होते हैं [अपि] और [तपसा] तपसे [इंद्रत्वं] इंद्रपद मिलता है तथा [ज्ञानेन] वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसे [जन्ममरणविवर्जितं] जन्म जरा मरणसे रहित [पदं] जो मोक्षपद वह [लभ्यते] मिलता है ॥ भावार्थ—आहार भय और ष और शास्त्र इन चार तरहके दानोंकी यदि सम्यक्त्वरहित करे तो भोगभूमिके मुक्त पाता है तथा सम्यक्त्वसहित दान करे तो परंपराय मोक्ष पाता है । यद्यपि प्रथम अवस्थामें देवेंद्रचक्रवर्ती आदिकी विभूति भी पाता है, ती भी निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानकर मोक्ष ही है । यहां प्रभाकर भट्टने प्रथम किया कि हे भगवन् जो ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष होती है तो सांख्यादिक भी ऐसे ही कहते हैं कि ज्ञानसे ही मोक्ष है उनको क्यों दूषण देते हो । तब धीगुरुने कहा । इस जिनशासनमें वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान कहा गया है तो वीतराग कहनेमें वीतराग चारित्र्य भी आ जाता है और सम्यक् पदके कहनेसे सम्यक्त्व भी आ जाता है । जैसे एक चूर्णमें अथवा पाकमें अनेक औषधि आ जाती हैं परंतु वस्तु एक ही रह जाती है उभीगुह वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानके

अथ तदर्थं विद्वान्पुण्यदोष इत्यपि,—

देव निरंजन इति मण्ड, पाणि सुवरु ण भन्ति ।

पाणविहीणा जीवहा, विर संसारं भ्रमन्ति ॥ २०० ॥

देवः निरंजन एवं भणति ज्ञानेन मोक्षो न भ्रान्तिः ।

ज्ञानविहीना जीवाः विरं संसारं भ्रमन्ति ॥ २०० ॥

देव इत्यादि । देव देवः । विविदिष्टः । निरंजनः अनंतज्ञानादिगुणसहितोऽप्यसंवेदनरहितः इति मण्ड एवं भणति । एवं किं । पाणि सुवरु वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनरूपेण सम्यग्ज्ञानेन मोक्षो भवति । ण भन्ति न भ्रान्तिः संदेहो नास्ति । पाणविहीणा जीवहा पूर्वोक्तस्वसंवेदनज्ञानेन विहीना जीवाः विर संसारं भ्रमन्ति विरं बहुतरं फलं संसारं परिभ्रमन्ति इति । अत्र वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमध्ये यद्यपि सम्यग्ज्ञानादिप्रयमस्ति तथापि सम्यग्ज्ञानसंशय सुवरुता । विविदिष्टो मुन्य इति वचनादिति भावार्थः ॥ २०० ॥

अथ पुनरपि तदर्थं दृष्टान्तदृष्टान्तिकाभ्यां निम्नोति;—

पाणविहीणहं मोक्षमपत्र, जीव म कस्यापि अद्राशीः ।

बहुना मल्लिलविलोहितेन करः चिदपो न भवति ॥ २०१ ॥

ज्ञानविहीनस्य मोक्षपदं जीव मा कस्यापि अद्राशीः ।

बहुना मल्लिलविलोहितेन करः चिदपो न भवति ॥ २०१ ॥

पाण इत्यादि । पाणविहीणहं यथातिपूजालाभादिदुष्टभावपरिणतचित्तं मम कोपि न

कहनेमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य-ये तीनों आजाते हैं । सांख्यादिकके मतमें वीतराग विशेषण नहीं है और सम्यक् विशेषण नहीं है केवल ज्ञानमात्र ही कहते हैं सो वह मिथ्याज्ञान है इसलिये दूषण देते हैं । यह जानना ॥ १९९ ॥

आगे उसी अर्थको विपक्षीको दूषण देकर दृढ करते हैं;—[निरंजनः] अनंत ज्ञानादि गुण सहित और अठारह दोष रहित जो [देवः] सर्वज्ञ वीतरागदेव हैं वे [एवं] ऐसा [भणति] कहते हैं कि [ज्ञानेन] वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञानसे ही [मोक्षः] मोक्ष है इसमें [न भ्रान्तिः] इसमें संदेह नहीं है । और [ज्ञानविहीनाः] स्वसंवेदनज्ञानरहित जो [जीवाः] जीव हैं वे [निरं] बहुत काल तक [संसारं] संसारमें [भ्रमन्ति] भटकते हैं । भावार्थ—यहां वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमें यद्यपि सम्यक्त्वादि तीनों हैं तौभी मुख्यता सम्यग्ज्ञानकी ही है । क्योंकि धीजिन वचनमें ऐसा कथन किया है कि जिसका कथन किया जाये वह मुख्य होता है और अन्य गौण होता है । ऐसा जानना ॥ २०० ॥

आगे फिरभी इसी कथनको दृष्टांत और दार्ढ्यतवे निश्चय करते हैं;—[ज्ञानविही-



विभोगानाकरणं यन्निदानबंधस्तदेव शक्त्यं तत्प्रभृतिसमस्तमनोरथविकल्पग्यालावन्दीरहित-  
त्वेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजालावबोधो निजबोधः तस्मान्निजबोधाद्भासं यत् प्राणु त्रि  
फञ्जु ण तेण शास्त्रादिजनितं ज्ञानमपि यत्सेन कार्यं नास्ति । कस्मादिति चेत् । दुःखसहं  
कारणु दुःखस्य कारणं ज्ञेयं येन कारणेन तत्तु पीतरागस्वसंवेदनरहितं ततः जीवहं  
जीवस्य होइ भवति क्षणेण क्षणमात्रेण कालेनेति । अत्र यद्यपि शास्त्रजनितं ज्ञानं स्वगु-  
णात्मपरिज्ञानरहितं तपभरणं च मुख्यदृष्ट्या पुण्यकारणं भवति तथापि मुक्तिकारणं न  
भवतीत्यभिप्रायः ॥ २०२ ॥

अथ येन निष्कालवरागादिदृष्टिर्भवति तदाज्ञानं न भवतीति निरूपयति;—

तं गियणाणु जि होइ णपि, जेण पवइइ राउ ।

दिणपरकिरणहं पुरउ जिय, किं विलसइ तमराउ ॥ २०३ ॥

तत् निजज्ञानमेव भवति नापि येन प्रवर्धते रागः ।

दिनकरकिरणानां पुरतः जीव किं विलसति तमोरागः ॥ २०३ ॥

ज्ञानसे [ कार्यं ] बाहर ( रहित ) [ ज्ञानमपि ] शास्त्रबर्गरः का ज्ञान भी है [ नेन ] उम  
ज्ञानसे [ कार्यं न ] कुछ काम नहीं [ येन ] क्योंकि [ तपः ] पीतरागस्वसंवेदनज्ञानरहित  
तप [ क्षणेण ] क्षीम ही [ जीवस्य ] जीवको [ दुःखस्य कारणं ] दुःखका कारण  
[ भवति ] होता है । भावार्थ—निदानबंध आदि तीन शक्तियोंको आदि तः समस्त विष-  
याभिलाषरूप मनोरथोंके विकल्पजालरूपी अतिक्रमि उशालाभोसे रहित जो निज सम्प्रज्ञान  
है उससे रहित बाह्यपदार्थोंका शास्त्रद्वारा ज्ञान है उससे कुछ काम नहीं । कार्यं तो एक  
निज आत्माके जाननेसे है । यहाँ सिद्धने प्रश्न किया कि निदानबंधरहित आत्मज्ञान  
गुमने बतलाया उसमें निदानबंध कैसे कहते हैं । उसका समाधान । जो देगे गुने और  
भोगे हुए इंद्रियोंके भोगोंसे जिसका चित्त रंग रदा है ऐसा अज्ञानी जीव स्वल्पस्व  
सौभाग्यका अभिलाषी बागुदेव चक्रवर्तीपदके भोगोंकी बांटा करे, दान पूजा तपभरणदि-  
कर भोगोंकी अभिलाषा करे वह निदानबंध है सो बड़ी सत्य ( बांटा ) है । इस शक्तसे  
रहित जो आत्मज्ञान उसके बिना शब्दरसास्वादिका ज्ञान मोक्षका कारण नहीं है । क्योंकि  
पीतरागस्वसंवेदनज्ञानरहित तप भी दुःखका कारण है । ज्ञानरहित तपसे जो मनोरथी  
संपदायें मिलती हैं वे क्षणभंगुर हैं । इसलिये यह निश्चय हुआ कि आत्मज्ञानसे रहित  
जो शास्त्रका ज्ञान और तपभरणदि है उनसे गुणधनाकर पुण्यका बंध होता है । तप  
पुण्यके प्रभावसे जगत्की विभूति पाता है वह क्षणभंगुर है । इसलिये अज्ञानियोंका तप  
और गुन यद्यपि पुण्यका कारण है तभी मोक्षका कारण नहीं है ॥ २०३ ॥

आगे जिससे निष्कालवरागादिदृष्टि हो वह आत्मज्ञान नहीं है ऐसा निरूप

अथ कर्मफलं मुंजानस्सन् योसौ रागद्वेषं करोति स कर्म वध्नातीति कथयति;—

मुंजंतुवि णियकम्मफलु, मोहइं जो जि करेइ ।

भाउ असुंदरु सुंदरुवि, सो पर कम्म जणेइ ॥ २०६ ॥

मुंजानोपि निजकर्मफलं मोहेन य एव करोति ।

भावं असुंदरं सुंदरमपि स परं कर्म जनयति ॥ २०६ ॥

मुंजंतुवि इत्यादि । मुंजंतुवि मुंजानोपि । किं । णियकम्मफलु वीतरागपरमाहादरूप-  
शुद्धात्मानुभूतिविपरीतं निजोपार्जितं शुभाशुभकर्मफलं मोहइं निर्मोहशुद्धात्मप्रतिकूलमोहो-  
दयेन जो जि करेइ ए एव पुरुषः करोति । कं । भाउ भावं परिणामं । किं विमिष्टं ।  
असुंदरु सुंदरुवि अशुभं शुभमपि सो पर स एव भावः कम्म जणेइ शुभाशुभं कर्म  
जनयति । अयमत्र भावार्थः । उदयागते कर्मणि योसौ स्वस्वभावच्युतः सन् रागद्वेषौ  
करोति स एव कर्म वध्नाति ॥ २०६ ॥

अथ उदयागते कर्मानुभवे योसौ रागद्वेषौ न करोति स कर्म न वध्नातीति कथयति,—

मुंजंतुवि णियकम्मफलु, जो तहिं राउ ण जाइ ।

सो णवि बंधइ कम्म पुणु, संचिउ जेण विलाइ ॥ २०७ ॥

मुंजानोपि निजकर्मफलं यः तत्र रागं न याति ।

स नैव वध्नाति कर्म पुनः संचितं येन विलीयते ॥ २०७ ॥

मुंजंतुवि इत्यादि । मुंजंतुवि मुंजानोपि । किं । णियकम्मफलु निजकर्मफलं निजशु-

क्या जरूरत है उसी तरह जिसका चित्त आत्मामें लग गया उसके दूसरे पदार्थोंकी बांध  
नहीं रहती ॥ २०५ ॥

आगे कर्मफलको भोगता हुआ जो राग द्वेष करता है वह कर्मोंको बांधता है;—[ य-  
एव ] जो जीव [ निजकर्मफलं ] अपने कर्मोंके फलको [ मुंजानोपि ] भोगता हुआ भी  
[ मोहेन ] मोहसे [ असुंदरं सुंदरं अपि ] भले और बुरे [ भावं ] परिणामोंको  
[ करोति ] करता है [ सः ] वह [ परं ] केवल [ कर्म जनयति ] कर्मको उपजाता  
( बांधता ) है । भावार्थ—वीतराग परम आहादरूप शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत जो  
अशुद्धरागादिक विभाव उनसे उपार्जन किये गये शुभ अशुभकर्म उनके फलको भोगता  
हुआ जो अज्ञानी जीव मोहके उदयसे हर्ष विषाद भाव करता है वह नये कर्मोंका बंध  
करता है । सारांश यह है कि जो निजस्वभावसे च्युत हुआ उदयमें आये हुए कर्मोंमें  
राग द्वेष करता है वही कर्मोंको बांधता है ॥ २०६ ॥

आगे जो उदयप्राप्त कर्मोंमें राग द्वेष नहीं करता वह कर्मोंको भी नहीं बांधता ऐसा

द्व्यात्मोपलंभावावेनोपार्जितं पूर्वं यन् शुभाशुभं कर्म तस्य फलं जो यो जीवः तर्हि तत्र कर्मानुभवप्रस्तावे राउ ण जाइ रागं न गच्छति वीतरागविदानंदैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखामृतकृमः सन् रागद्वेषौ न करोति सो स जीवः णवि बंधइ नैव बध्नाति । किं न बध्नाति । कम्म्यु ज्ञानावरणादि कर्म पुण्य पुनरपि । येन कर्मबंधाभावपरिणामेन किं भवति । संचितं जेण विलाइ पूर्वमंचितं कर्म येन वीतरागपरिणामेन विलयं विनामं गच्छतीति । अप्राइ प्रभाकरभट्टः । कर्मोदयफलं भुञ्जानोपि ज्ञानी कर्मणापि न बध्यते इति सांख्यादयोपि वदंति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्विरिति । भगवानाह । ते निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचरित्रनिरपेक्षा वदंति तेन कारणेन तेषां दूषणमिति तात्पर्यं ॥ २०७ ॥

अथ यावत्कालमणुमाप्रमपि रागं न मुंचति तावत्कालं कर्मणा न मुच्यते इति प्रति-  
पादयति;—

जो अणुमित्तुचि राउ मणि, जाम ण मिहइ पुर्यु ।

सो णचि मुचइ ताम जिय, जाणंतुचि परमत्यु ॥ २०८ ॥

कहते हैं;—[ निजकर्मफलं ] अपने बाधे हुए कर्मोंके फलको [ भुञ्जानोपि ] भोगता हुआ भी [ तत्र ] उस फलके भोगनेमें [ यः ] जो जीव [ रागं ] राग द्वेषको [ न याति ] नहीं प्राप्त होता [ सः ] वह [ पुनः कर्म ] फिर कर्मको [ नैव ] नहीं [ बध्नाति ] बांधता [ येन ] जिस कर्मबंधाभावपरिणामसे [ संचितं ] पहले बाधे हुए कर्म भी [ विलीयते ] नाश होजाते हैं । भावार्थ—निजशुद्धात्माके ज्ञानके अभावसे उपाजन किये जो शुभ अशुभ कर्म उनके फलको भोगता हुआ भी वीतराग विदानंद परमस्वभाव-रूप शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न अतीन्द्रियसुखरूप अमृतसे तृप्तहुआ जो रागी द्वेषी नहीं होता वह जीव फिर ज्ञानावरणादि कर्मोंको नहीं बांधता है और नये कर्मोंके बंधवा अभाव होनेसे प्राचीन कर्मोंकी निर्जटा ही होती है । यह संवरपूर्वक निर्जटा ही मोक्षका मूल है । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकर भट्टने प्रश्न किया कि हे प्रभो “कर्मोंके फलको भोगता हुआ भी ज्ञानसे नहीं बंधता” ऐसा सास्य आदिक भी कहते हैं उनको तुम दोष क्यों देते हो । उसका समाधान श्रीगुरु कहते हैं—जो हम तो आत्मज्ञान संयुक्त शरीर जीवोंकी अपेक्षा कहते हैं, ये ज्ञानके अभावसे कर्मफल भोगते हुए भी रागद्वेषभाव नहीं करते । इसलिये उनके नये बंधवा अभाव है । और जो मिथ्यादृष्टि ज्ञानभावनं वाच पूर्वोपार्जितकर्मफलको भोगते हुए रागी द्वेषी होते हैं उनके अत्यन्त बंध होता है । इस तरह सास्य नहीं कहता वह वीतराग चरित्रसे रहित कथन करता है । इसलिये उन सास्यदिकोंको दूषण दिया जाता है । यह तात्पर्य जानना ॥ २०७ ॥

यः अणुमात्रमपि रागं मनसि यावत् न मुंचति अत्र ।

स नैव मुच्यते तावत् जीव जानन्नपि परमार्थं ॥ २०८ ॥

जो इत्यादि । जो यः कर्ता अणुमित्तुवि अणुमात्रमपि मूर्खमपि राउ रागं वीतराग सदानंदैकशुद्धात्मनो विलक्षणं पंचेंद्रियविषयमुखामिलापररागं मणि मनसि जाम ण मिच्छ यावंतं कालं न मुंचति एत्थु अत्र जगति सो णवि मुचइ म जीवो नैव मुच्यते ज्ञानावर णादिकर्मणा ताव तावंतं कालं जिय हे जीव । किं कुर्वन्नपि । जाणंतुवि वीतरागानुष्ठान रहितः सन् शब्दमात्रेण जानन्नपि । कं जानन् । परमत्थु परमार्थशब्दवाच्यनिजशुद्धात्म तत्त्वमिति । अयमत्र भावार्थः । निजशुद्धात्मस्वभावज्ञातेपि शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणवीतराग चारित्रभावनां विना मोक्षं न लभत इति ॥ २०८ ॥

अथ निर्विकल्पात्मभावनाशून्यः शास्त्रं पठन्नपि तपश्चरणं कुर्वन्नपि परमार्थं न वेत्ति कथयति;—

वुज्झइ सत्थइं तउ चरइ, पर परमत्थु ण वेइ ।

ताव ण मुंचइ जाम णवि, इहइ परमत्थु मुणेइ ॥ २०९ ॥

बुध्यते शास्त्राणि तपः चरति परं परमार्थं न वेत्ति ।

तावत् न मुच्यते यावंतं नैव एनं परमार्थं मनुते ॥ २०९ ॥

वुज्झइ इत्यादि । बुज्झइ बुध्यते । कानि । सत्थइं शास्त्राणि न केवलं शास्त्राणि बुध्यते तउ चरइ तपश्चरति पर परं किंतु परमत्थु ण वेइ परमार्थं न वेत्ति न जानाति । कस्मान्न वेत्ति । यद्यपि व्यवहारेण परमात्मप्रतिपादकशास्त्रेण ज्ञायते तथापि निश्चयेन वीतरागस्वसं-वेदनज्ञानेन परिच्छिद्यते । यद्यप्यनशानादिद्वादशविधतपश्चरणेन वहिरंगसहकारिकारणभूतेन

आगे जब तक परमाणूमात्र भी रागको नहीं छोड़ता—धारण करता है तब तक कर्मोंसे नहीं छूटता ऐसा कथन करते हैं;—[यः] जो जीव [अणुमात्रं अपि] थोड़ा भी [रागं] राग [मनसि] मनमेंसे [यावत्] जबतक [अत्र] इस संसारमें [न मुंचति] नहीं छोड़ देता है [तावत्] तबतक [जीव] हे जीव [परमार्थं] निजशुद्धात्मतत्त्वको [जानन्नपि] शब्दसे केवल जानता हुआ भी [नैव] नहीं [मुच्यते] मुक्त होता । भावार्थ—जो वीतराग सदा आनंदरूप शुद्धात्मभावसे रहित पंचेंद्रियोंके विषयोंकी इच्छा रखता है मनमें थोड़ासा भी राग रखता है वह आगमज्ञानसे आत्माको शब्दमात्र जानता हुआ भी वीतराग चारित्रकी भावनाके विना मोक्षको नहीं पाता ॥२०८॥

आगे जो निर्विकल्प आत्मभावनासे शून्य है वह शास्त्रको पढ़ना हुआ भी तथा तपश्चरण करता हुआ भी परमार्थको नहीं जानता है ऐसा कहते हैं;—[शास्त्राणि] शास्त्रोंको [बुध्यते] जानता है [तपः चरति] और तपस्या करना है [परं] लेकिन [परमार्थं]

साध्यते तथापि निश्चयेन निर्विकल्पगुणात्मविभ्रान्तिभ्रणवीतरागचारित्रसाध्यो योसौ परमार्थशब्दवाच्यो निजगुणात्मा तत्र निरंतरानुष्ठानाभावान् ताव ण मुंचइ तावंतं कालं न मुच्यते । केन । कर्मणा जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ चावंतं कालं नैवेनं पूर्वोक्त-  
लक्षणं परमार्थं मनुते जानाति भ्रद्धसे मन्म्यगनुभवतीति । इदमत्र तात्पर्यं । यथा प्रदीपेन विवक्षितं वस्तु निरीक्ष्य गृहीत्वा च प्रदीपस्त्यज्यते तथा शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादकशास्त्रेण शुद्धात्मतत्त्वं ज्ञात्वा गृहीत्वा च प्रदीपस्थानीयः शान्त्विकल्पस्त्याज्यत इति ॥ २०९ ॥

अथ योसौ शास्त्रं पठन्नपि विकल्पं न मुंचति निश्चयेन देहस्य शुद्धात्मानं न मन्यते स जडो भवतीति प्रतिपादयति;—

सत्थु पढंतुयि होइ जडु, जो ण हणेइ धियप्पु ।

देहि वसंतुयि णिम्मलउ, णयि मण्णइ परमप्पु ॥ २१० ॥

शास्त्रं पठन्नपि भवति जडः यः न हंति विकल्पं ।

देहे वसंतमपि निर्मलं नैव मन्यते परमात्मानं ॥ २१० ॥

परमात्माको [ न वेत्ति ] नहीं जानता है [ यावत् ] और जबतक [ एवं ] पूर्व कहे हुए [ परमार्थ ] परमात्माको [ नैव मनुते ] नहीं जानता व भ्रद्धान व अष्टीतरह अनुभव करता है [ तावत् ] तबतक [ न मुच्यते ] नहीं छूटता । भावार्थ—यद्यपि व्यवहार नमसे आत्मा अध्यात्मशास्त्रोंसे जाना जाता है तौभी निश्चयनयमे पीतरागस्त्वमेवेदं ज्ञानहीसे जानने योग्य है, यद्यपि बाह्य सहकारी कारण अनुष्ठानादि बारह प्रकारके तपसे साधा जाता है तौभी निश्चयनयसे निर्विकल्पपीतराग चारित्रहीमे आत्माकी सिद्धि है । जिस पीतरागचारित्रका शुद्धात्मागें विश्राम होना ही लक्षण है । सो बिना पीतराग-चारित्रके आंगमज्ञानसे तथा बाह्य तपसे आत्मज्ञानकी सिद्धि नहीं है । जबतक निजगु-  
णात्मतत्त्वके स्वरूपका आचरण नहीं है तबतक कर्मोंसे नहीं छूट सकता । यह निःस-  
देह जानना जबतक परमतत्त्वको न जानें न भ्रद्धा करे न अनुभवे तपनक कर्मबंधसे नहीं छूटता । इससे यह निश्चय हुआ कि कर्मबंधसे छूटनेका कारण एक आत्मज्ञान ही है । और शास्त्रका ज्ञान भी आत्मज्ञानकेलिये ही किया जाता है, जैसे दीपकसे वस्तुको देख-  
कर वस्तुको उठा लेते हैं और दीपकको छोड़ देते हैं उसी तरह शुद्धात्मतत्त्वके उपदेश करनेवाले जो अध्यात्मशास्त्र उनमे शुद्धात्मतत्त्वकी जानकर उस शुद्धात्मतत्त्वका अनुभव करना चाहिये और शास्त्रका विकल्प छोड़ना चाहिये । शास्त्र तो दीपकके समान है तथा आत्मवस्तु रत्न समान है ॥ २०९ ॥

आगे जो शास्त्रको पढ़करके भी विकल्पको नहीं छोड़ता और निश्चयमे शुद्धात्माको नहीं मानता जो कि शुद्धात्मदेव देहरूपी देवालेंमें मौजूद है उसे न ध्यायता है वद मूर्ख



मत्स्यु इत्यादि । सत्सु पठंतुवि शास्त्रं पठन्नपि होइ जडु स जडो भवति । यः किं करोति । जो ण हणेइ विपत्सु यः कर्ता शास्त्राभ्यासफलभूतस्य रागादिविकल्परहितस्य निजशुद्धात्मस्वभावस्य प्रतिपन्नभूतं मिथ्यात्वरगादिविकल्पं न हंति । न केवलं विकल्पं न हंति । देहि वसंतुवि वेहे वसंतमपि षिम्मलउ निर्मलं फर्ममलरहितं णपि मण्णइ नैव मन्यते न श्रद्धते । कं । परमत्सु निजपरमात्मानमिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा त्रिगुण-समाधिं कृत्वा च स्वयं भावनीयं । यदा तु त्रिगुणित्रिगुणसमाधिं कर्तुं नायाति तदा विषय-कषयावर्चनार्थं शुद्धात्मभावनास्मरणदृढीकरणार्थं च महिर्षिपरिये व्यवहारज्ञानदृढ्यर्थं च परंपरां कथनीयं किंतु तथापि परप्रतिपादनव्याजेन मुख्यवृत्त्या स्वकीयजीव एव संबोधनीयः । कथमिति चेत् । इदमनुपपन्नमिदं व्याख्यानं न भवति मदीयमनसि यदि समी-चीनं न प्रतिभाति तर्हि त्वमेव स्वयं किं न भावयसीति तात्पर्यं ॥ २१० ॥

अथ बोधार्थं शास्त्रं पठन्नपि यस्य त्रिशुद्धात्मप्रतीतिलक्षणो बोधो नास्ति स गूढो भवतीति प्रतिपादयति;—

योहणिमिच्छं सत्सु किल, लोइ पठिज्जइ इत्सु ।

नेणपि योहणं ण जासुं वरु, सो किं मूढु ण तत्सु ॥ २११ ॥

बोधनिमित्तेन शास्त्रं क्लिप्तं लोके पठ्यते अत्र ।

तौनेव बोधो न यस्मै यः सोः किं मूढो न तत्सु ॥ २११ ॥

दे पेगा कइते देः—[ यः ] जो जीव [ शास्त्रं ] शास्त्रको [ पठन्नपि ] पठना हुआ भी [ विकल्पं ] विकल्पको [ न हंति ] नहीं दूर करता ( भेंटता ) वह [ जडो भवति ] मूर्ख है जो विकल्प नहीं भेंटता वह [ देहे ] शरीरमें [ वसंतमपि ] रहते हुए भी [ निर्मले परमात्मानं ] निर्मल परमात्माको [ नैव मन्यते ] नहीं भज्जानमें लाता । भावार्थ— शास्त्रके अध्ययनको तो करत वह है कि रागादि विकल्पोंको दूर करना और निज शुद्धात्मको पचना । इसलिये हम व्याख्यानको जानकर तीनगुणियों अन्तर्गत हो परम सगा-रिणे आश्रित होके निजस्वरूपका ध्यान करना । लेकिन अब तक तीन गुणों ने ही परमस्वभाव न आये ( होमके ) तर तक विषयकषणोंके दृष्टानेकलिये परतीनोंको धर्मो-देसु देसु उम्में भी पडेउ देसुके वदानेमें मुख्यवृत्त्या अपना जीव ही संबोधना । हे हम मूर्ख है कि पठको उपदेश देने अर्थको समझाये । जो माये दूगोंको लुटाये पर-लुटाये देने करे । हमने मुख्य मतेअन अपना ही है । परतीनोंको पेगा ही उपदेश दे जो-कइत देते करके अच्छी नहीं लगती तो तुमको भी मर्ग नष्ट लगती होना तुम भी अपने करते रहित करे ॥ २१० ॥

०.० इत्येति शब्देन शास्त्रं पठते इति नो विमल आशयान् नहि दे वर पुने दे पेगा

बोधनिमित्तं विना शास्त्रं लोके पश्यते अत्र तेनैव कारणेन बोधो न भवति । कथंभूतो, बोधो विदितः स विं शृते न भवति विभु भवत्येव मध्यमिति । तथा । अत्र यद्यपि श्रीब्रह्मसंहारं क विगमयति वादिवादिनां वादिनां अणुनाम्ब्रह्मनिर्णयो बोधो भवत्येव तथापि निर्भ्र-  
 वंत परमात्मब्रह्मणः शास्त्रं शास्त्रशास्त्रोपदेशो श्रीब्रह्मसंहारं वेदनरूपः स एव बोधो भावो न  
 पान्तः । तेनानुबोधेन विना शास्त्रे परित्यजेत् शृते भवतीति । अत्र यः बोधि परमात्म-  
 बोधजननकारणं शास्त्रं शास्त्रं श्रीब्रह्मसंहारं करोति स विद्वान्तीति । तथा बोधः ।  
 “बोधि वेद्यपरा बोधिं हि विद्विष्यन् विद्वान्ति । न हि विद्वान्ति विगमेण विना पटि-  
 देसुदि शास्त्रसंश्रुतु” । परं विंशु । “अकरोदा ज्ञेयं हि विद्वान्ति विगमेण विना पटि-  
 देसुदि शास्त्रसंश्रुतु” । इत्यदि पाठमात्रं शृतीनां परेषां बहुशास्त्र-  
 शास्त्रिणां दूषणा न करिष्यामि । सैवेदुभूतं शास्त्रं वेदात्मकं बुद्धयुक्तं न दूषणा न करिष्यामि ।  
 ब्रह्मादिनि संश्रु । दूषणे ब्रूते सति परस्परं शास्त्रे बोधनिर्भवति तेन ज्ञानव्यभिचारादिकं  
 मत्स्यतीति भावार्थः ॥ २६१ ॥

कथन करने हैं—[अत्र लोके] एव लोकमें [किन्तु] नियमसे [बोधनिमित्तं] ज्ञानके निमित्त [शास्त्रे] शास्त्र [पश्यते] पढ़े जाने हैं [तेनैव] परंतु शास्त्रके पढ़नेसे भी [यस्य] जिसको [परः बोधः न] उत्तमज्ञान नहीं हुआ [सः] यह [किं] क्या [शृते] न [गर्भं] नहीं है [तस्य] टीका गर्भ ही है एगमें संदेह नहीं । भावार्थ—इस लोकमें यद्यपि लोकप्रचलितमें मनीष कथितका कर्ता कवि, माचीनकाश्रीकी टीका कर्ता गमक, जिसमें बादमें कोई न जीतसकें ऐसा वादित्व, और धोताओंके मनको अनुरागी करनेवाला शास्त्रवा ब्रह्म होना रूप दाम्भिक इत्यादि लक्षणोंवाला शास्त्रजनित ज्ञान होता है सोभी निश्चयनयमे श्रीब्रह्मसंहारं वेदनरूप ही ज्ञान अध्यात्मशास्त्रोंमें प्रसंता किया गया है । इसलिये स्वसंवेदन ज्ञानके विना शास्त्रके पढ़ते हुए भी गर्भ है । और जो कोई परमात्मज्ञानके उत्पन्न करनेवाले छोटे छोड़े शास्त्रको भी जानकर श्रीब्रह्मसंहारं स्वसंवेदन ज्ञानकी भावना करते हैं वे मुक्त होजाते हैं । ऐसा ही कथन भ्रमोंमें हर एक जगह कहा है कि—वैराग्यमें लगे हुए जो मोह शत्रुको जीतनेवाले हैं वे थोड़े शास्त्रको ही पढ़कर सुपर जाते हैं मुक्त हो जाने हैं और वैराग्यके विना सब शास्त्रोंको पढ़ते हुए भी मुक्त नहीं होते । यह निश्चय जानना परंतु यह कथन अपेक्षासे है । इस वहानेसे शास्त्र पढ़नेका अभ्यास नहीं छोड़ना, और जो विशेष शास्त्रके पाठी हैं उनको दूषण न देना ॥ जो शास्त्रके अक्षर बना रहा है और आत्मामें चित्त नहीं लगाया वह ऐसे जानना कि

१ श्रीग वैराग्यपरा शास्त्रमपि हि विद्विष्यन्ति निश्चयं । न रात्रु निश्चयं विगमेण विना पटितेभ्यश्चि सर्वेनाश्रेषु ॥ २ अक्षराणि पश्यन् स्थित आत्मनि न दर्शन् वित्तं । कणविरहितं पलायं यथा परं मृदुहीनो बहुतरं ॥



रणं तन्निर्वाणशानादिकं च तीर्थमिति । अयमत्र भावार्थः । पूर्वोक्तं निश्चयतीर्थं श्रद्धानप-  
रिस्तानानुष्ठानरदितानामशानिनां दोषतीर्थं मुणिकारणं न भवतीति ॥ २१२ ॥

अथ शानिनां तथैवाशानिनां च यतीनामंतरं दर्शयति;—

णाणिहिं मूढां मुणिवरहं, अंतरं होइ महंतु ।

देह जि मिल्लइ णाणियउं, जीवहं भिण्णु मुणंतु ॥ २१३ ॥

शानिनां मूढानां मुनिवराणां अंतरं भवति महत् ।

देहमपि मुंचति ज्ञानी जीवाद्भिन्नं मन्यमानः ॥ २१३ ॥

शानिनां मूढानां च मुनिवराणां अंतरं विनोयो भवति । कथंभूतं । महत् । कस्मादिति  
पेन् । देहमपि मुंचति । कोसौ । ज्ञानी । किं कुर्वन् सन् । जीवात्सकशाद्भिन्नं मन्यमानो  
जानन् इति । तथा च । बीतरागस्संवेदनज्ञानी पुत्रकलप्रादि यद्भिर्द्रव्यं तावद्दूरे तिष्ठतु  
शुद्धबुद्धैकम्यभावान् मृगुदात्मस्वरूपात्मकाशान् पृथाभूतं जानन् स्वकीयदेहमपि त्यजति ।  
मूढात्मा पुनः स्वीकरोति इति तात्पर्यम् ॥ २१३ ॥ एवमेकधत्वारिंशत्सुप्रमितमहास्थल-  
मध्ये पंचदशमूर्ध्वीतरागस्संवेदनज्ञानमुच्यत्वेन द्वितीयमंतरस्थलं समाप्तम् । तदनंतरं त-  
थैव महास्थलमध्ये सूत्राष्टकपर्यन्तं परिमहत्यागव्याख्यानमुच्यत्वेन तृतीयमंतरस्थलं प्रारभ्यते ।

तीर्थं हैं निश्चयनयसे निजशुद्धात्मतत्त्वके ध्यानके समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं हैं और  
व्यवहारनयसे तीर्थपरमदेवादिके गुणसारणके कारण मुख्यतासे शुभवंधके कारण ऐसे  
जो पैलास सम्भेदशिखर आदि निर्वाणस्थान हैं वे भी व्यवहारमात्र तीर्थ कहे हैं । जो  
तीर्थ तीर्थ प्रति भ्रमण करै और निज तीर्थका जिसके श्रद्धान परिज्ञान आचरण नहीं है  
वह अज्ञानी है । उसके तीर्थ भ्रमनेसे मोक्ष नहीं होसकती ॥ २१२ ॥

आगे ज्ञानी और अज्ञानी यतियोंमें बहुत बड़ा भेद दिखलाते हैं;—[ ज्ञानिनां ]  
सम्भट्टी भावलिंगी [ मूढानां ] मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी [ मुनिवराणां ] मुनियोंमें [ महत्  
अंतरं ] बड़ा भारी भेद [ भवति ] है । [ ज्ञानी ] क्योंकि ज्ञानीमुनि तो [ देहं अपि ]  
शरीरको भी [ जीवाद्भिन्नं ] जीवसे जुदा [ मन्यमानः ] जानकर [ मुंचति ] छोड़  
देते हैं अर्थात् शरीरका भी गमत्व छोड़ देते हैं तो पुत्र स्त्री आदिका क्या कहना है ये  
तो मत्स्यसे जुदे हैं और द्रव्यलिंगी मुनि लिंग ( भेष ) में आत्मबुद्धिको रस्तता है ।  
भावार्थ—बीतरागस्संवेदनज्ञानी महामुनी मनवचनकाय इन तीनोंसे अपनेको भिन्न  
जानता है द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मादिकसे जिसको गमता नहीं है, पिता माता पुत्र कल-  
त्रादिकी तो बात अलग रही जो अपने आत्मसमावसे निजदेहको ही जुदा जानता है ।  
जिसके पर वस्तुमें आत्मभाव नहीं है और मूढात्मा परभावोंको अपने जानता है । यही  
ज्ञानी और अज्ञानीमें अंतर है । परको अपना मानें वह बंधना है और न मानें वह मुक्त



शिष्याशिष्यादीपुतिभयहिं, तूंसह मृदु णिभंतु ।

एषहिं लज्जह णाणियउ, यंधहं हेउ मुणंतु ॥ २१५ ॥

शिष्याजिकापुस्तकैः तुष्यति ग्दो निर्भातः ।

एतैः लज्जते शानी बंधस्य हेतुं जानन् ॥ २१५ ॥

शिष्याजिकादीश्यादानेन पुस्तकप्रस्तुतुपकरणैश्च तुष्यति संतोषं करोति । कोसौ । मूढः । बंधभूतो । निर्भातः । एतैर्बहिर्द्वेषैर्लज्जां करोति । कोसौ । शानी । किं कुर्वन्नपि । पुण्य-बंधभूतं जानन्नपि । तथा च । पूर्वमूत्रोष्णसम्पर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं निजगुह्यात्मस्वभाव-मभरधानो विशिष्टभेदज्ञानेनाजानंश्च तथैव पीतरागपारित्रेणाभावयंश्च मूढात्मा । वि-करोति । पुण्यबंधकारणमपि जिनदीक्षादानादि शुभानुष्ठानं पुस्तकाद्युपकरणं वा मुक्ति-कारणं मन्यते । शानी तु यद्यपि साक्षात्पुण्यबंधकारणं मन्यते परंपरया मुक्तिकारणं च तथापि निश्चयेन मुक्तिकारणं न मन्यते इति तात्पर्यं ॥ २१५ ॥

अथ चतुष्टयकुंडिकाद्युपकरणैर्मोहमुत्पन्नान् मुनिवराणां उत्पद्यते इति प्रतिपादयति;—

षट्तिं षट्तिं कुंडियहिं, चेह्हाचेह्दियणहिं ।

मोहो जणेयिणु मुणिवरहं, उप्पहिं पाडिय तेहिं ॥ २१६ ॥

षट्ठैः षट्ठैः कुंडिकाभिः शिष्याजिकाभिः ।

मोहं जनयित्वा मुनिवराणां उत्पद्ये पातिताल्लैः ॥ २१६ ॥

आगे शिष्योका करना पुस्तकादिका संग्रह करना इन बातोंसे अज्ञानी प्रमत्त होता है और शानीजन इनको बंधके कारण जानता हुआ इनसे रागभाव नहीं करता इनके संग्रहमें लज्जावान् होता है;—[मूढः] अज्ञानीजन [शिष्याजिकापुस्तकैः] चेला चेली पुस्तकादिकसे [तुष्यति] हर्षित होता है [निर्भातः] इसमें कुछ संदेह नहीं है [शानी] और शानीजन [एतैः] इन बाधपदार्थोंसे [लज्जते] शरमाता है क्योंकि इन सबोंकी [बंधस्य हेतुं] बंधका कारण [जानन्] जानता है । भावार्थ—सम्पर्क-दर्शन सम्पर्कज्ञान सम्पर्कचारित्ररूप जो निजगुह्यारामा उसको न अज्ञान करता न जानता और न अनुभवकरता जो मूढात्मा वह पुण्यबंधके कारण जिनदीक्षा दानादि शुभ आचरण और पुस्तकादि उपकरण उनको मुक्तिके कारण मानता है, और शानीजन इनको साक्षात् पुण्यबंधके कारण जानता है परंपरया मुक्तिके कारण मानता है । यद्यपि व्यवहारनयकर बाह्य सामग्रीको धर्मका साधन जानता है तौभी ऐसा मानता है कि निश्चयनयसे ये मुक्तिके कारण नहीं हैं ॥ २१५ ॥

आगे कमंडलु पीछी पुस्तकादि उपकरण और शिष्यादिका सच ये मुनियोंकी मोह



अथ केनापि जिनदीक्षां गृहीत्वा शिरोमुंडनं कृत्वापि सर्वमंगपरित्यागमदुर्वैवात्म्यान्  
बंधितमिति निरूपयति;—

केनापि अप्पउ बंधियउ, सिरुमुंडियि छारेण ।

सयलवि संग ण परिहरिय, जिणवरलिंगधरेण ॥ २१७ ॥

केनापि आत्मा बंधितः शिरो लुंबित्वा क्षारेण ।

सफला अपि संगान परिहृताः जिनवरलिंगधरेण ॥ २१७ ॥

केनाप्यात्मा बंधितः । किंकृत्वा । शिरोमुंडनं कृत्वा । केन । भगवता । कर्मादिनिचेत् ।  
यतः सर्वेषु संगान परिहृताः । कथंभूतेन भूत्वा । जिनवरलिंगधारकेणेति । तथा ।  
धीतरागनिर्विकल्पनिजानंदैकरूपसुखरमास्वादपरिणतपरमात्मभावनात्मभावेन तीक्ष्णज्ञानोपक-  
रणेन बाह्याभ्यंतरपरिमहकांधारूपप्रभृतिममलमनोरथकलोलमात्मान्यागरूपं मनोमुंडनं पूर्व-  
मकृत्वा जिनदीक्षारूपं शिरोमुंडनं कृत्वापि केनाप्यात्मानं बंधितं । कस्मान् । सर्वमंगपरि-  
त्यागाभावादिति । अप्रेदं क्याप्यानं ज्ञात्वा स्वगुण्ठात्मभावनोपवीतगगपरमानंदपरिमह-

मूत्रादिकी बाधा भी होती है इसलिये शीचका उपकरण कमंडलु और संयमोपकरण पीठी  
और ज्ञानोपकरण पुस्तक इनको महज करते हैं लौभी इनमें ममता नहीं है प्रयोजनगत्र  
प्रथम अवस्थानें मारते हैं । ऐसा दूसरी जगह “रम्येषु” इत्यादिसे कहा है कि, मनोरथ  
स्त्री आदिक यन्त्रुभोंमें जिसने मोह छोड़ दिया है ऐसा महागुनि संयमके गणन पुस्तक  
पीठी कमंडलु आदि उपकरणोंमें क्या मोहको कैमे कर सकता है कभी नहीं करगबना ।  
जैसे कोई बुद्धिमान पुरुष रोगके भयसे अजीर्णको दूर करना चाहे और अजीर्णके दूर  
करनेके लिये औषधिका सेवन करे तो क्या मात्रामे अधिक ले सकता है ऐसा कभी नहीं,  
मात्राप्रमाण ही लेगा ॥ २१६ ॥

आगे पेगा कहते हैं कि जिसने जिनदीक्षा धरके, केशोका लोच निषा और भवक  
परिमहका त्याग नहीं किया उसने अपना आत्मा ही बंधित निषा;—[ केनारि ]  
जितनिराग्नि [ जिनवरलिंगधरेण ] जिनवरका भेष धारण करके [ क्षारेण ] भस्मने  
[ शिरः ] शिरके केस [ लुंबियि ] लोच किये ( उन्वाहे ) ऐति [ मकला अपि  
संगाः ] सब परिमह [ न परिहृताः ] नहीं छोड़े उसने [ आत्मा ] अपना आत्मा  
[ बंधितः ] टगकिया । भावार्थ—धीतरागनिर्विकल्पनिजानंद अमंडरूप सुखरमास्वा  
आस्वाद उतरूप परिणती जो परमात्माकी भावना बदी हुआ तीक्ष्ण लक्ष उन्ने बाह्यके  
और अंतरके परिमहदीर्घा सांपटा आदि से समल मनोरथ उन्ने बन्नेकालके  
त्यागरूप मनबा मुंडन बह तो नहीं किया और जिनदीक्षारूप शिरोमुंडनका भेष रला  
सब परिमहका त्याग नहीं निषा उन्ने अपना आत्मा टगा । ऐसा करने कर्तव्य



कृत्वा तु जगत्रये कान्दत्रयेपि मनोवचनकायैः कृतकारिणानुमनैश्च दृष्टधुनानुभूतनिःपरिमह-  
शुद्धात्मानुभूतिविपरीतपरिमहकांक्षां तज्जेत्यभिप्रायः ॥ २१७ ॥

अथ ये सर्वसंगपरित्यागरूपं जिनलिंगं गृहीत्वापीष्टपरिमहान् गृह्णन्ति ते छर्दि कृत्वा पुन-  
रपि गिलन्ति तामिति प्रतिपादयति;—

जे जिणलिंगु धरेचि मुणि, इष्टपरिमह लिंगि ।

छर्दि करेचिणु ते जि जिय, सा पुणु छर्दि गिलन्ति ॥ २१८ ॥

ये जिनलिंगं धृत्वापि मुनय इष्टपरिमहान् लांति ।

छर्दि कृत्वा ते एव जीव तां पुनः छर्दि गिलन्ति ॥ २१८ ॥

ये केचन जिनलिंगं गृहीत्वापि मुनयन्मपोधना इष्टपरिमहान् लांति गृह्णन्ति । ते किं  
कुर्वन्ति । छर्दि कृत्वा त एव हे जीव तां पुनश्छर्दि गिलन्तीति । तथापि गृहस्थापेक्षया चेतन-  
परिमहः पुत्रकलत्रादिः, सुवर्णादिः पुनरचेतनः, साभरणवनितादि पुनर्मिश्रः । तपोधना-  
पेक्षया छात्रादिः सचित्तः पिच्छकर्मण्डलादिः पुनरचित्तः उपकरणसहितशस्त्रादिस्तु मिश्रः ।  
अथवा मिथ्यात्वरागादिरूपः सचित्तः द्रव्यकर्मनोकर्मरूपः पुनरचित्तः द्रव्यकर्मभावक-  
र्मरूपस्तु मिश्रः । वीतरागत्रिगुप्तसमाधिस्यपुरुषापेक्षया सिद्धरूपः सचित्तः पुत्रलादिपंच-  
द्रव्यरूपः पुनरचित्तः गुणस्थानमार्गणास्थानजीवस्थानादिपरिणतः संसारी जीवस्तु मिश्रश्चेति ।

निजशुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परम आनंदस्वरूपको अंगीकार करके तीनों-  
काल तीनों लोकमें मनवचनकाय कृतकारितअनुमोदनाकर देखे मुने अनुभवे जो परि-  
मह उनकी बांछा सर्वथा त्यागनी चाहिये । ये परिमह शुद्धात्माकी अनुमृत्तिसे  
विपरीत हैं ॥ २१७ ॥

आगे जो सर्व संगके त्यागरूप जिनमुद्राको ग्रहणकर फिर परिमहको धारण करता है  
वह वमनकरके पीछे निगलता है ऐसा कथन करते हैं;—[ ये ] जो [ मुनयः ] मुनि  
[ जिनलिंगं ] जिनलिंगको [ धृत्वापि ] ग्रहणकर [ इष्टपरिमहान् ] फिरभी इच्छित  
परिमहोंको [ लांति ] ग्रहण करते हैं [ जीव ] हे जीव [ ते एव ] वे ही [ छर्दि कृत्वा ]  
वमन करके [ पुनः ] फिर [ तां छर्दि ] उस वमनको पीछे [ गिलन्ति ] निगलते  
हैं । भावार्थ—परिमहके तीन भेदोंमें गृहस्थकी अपेक्षा चेतन परिमह पुत्र कलत्रादि,  
अचेतन परिमह आभरणादि और मिश्र परिमह आभरण सहित स्त्री पुत्रादि; साधुकी  
अपेक्षा सचित्त परिमह शिष्यादि, अचित्त परिमह पीछी कर्मण्डल पुस्तकादि और मिश्र  
परिमह पीछी कर्मण्डल पुस्तकादि सहित शिष्यादि अथवा साधुके भावोंकी अपेक्षा सचित्त  
परिमह मिथ्यात्वरागादि, अचित्त परिमह द्रव्यकर्म नोकर्म और मिश्रपरिमह द्रव्यकर्म  
भावकर्म दोनों मिले हुए । अथवा वीतराग त्रिगुप्तिमें लीन ध्यानी पुरुषकी अपेक्षा सचित्त-

एवंविधवाद्याभ्यंतरपरिमहरहितं जिनलिङ्गं गृहीत्वापि ये मुद्रान्मातुभूतिरिष्टभ्रगनिष्टपरिमहं गृह्णन्ति ते छर्दिताहारत्माहृकपुरुषसदृशा भवन्तीति भावार्थः । तथा चोक्तं । “त्यत्रत्रा स्वकीय-  
पितृमित्रकलत्रपुत्रान् सक्तोन्यगोहृवनितादिषु निर्मुमुक्षुः । दोष्यां पयोनिधिममुद्रतनकचक्रं  
प्रोत्तीर्य गोष्पद्जलेषु निमग्नवान् सः” ॥ २१८ ॥

अथ ये स्वातिपूजालाभनिमित्तं मुद्रात्मानं त्यजन्ति ते लोहकीलनिमित्तं देवं देवकुलं च  
दहन्तीति कथयति;—

एतद्देहं किञ्चिद्दि कारणिण, जे सिधसंगु चयन्ति ।

स्त्रीलालगिगधि तेवि मुनि, देउल्ल देउ दहन्ति ॥ २१९ ॥

लाभस्य कीर्तेः कारणेन ये सिधसंगं त्यजन्ति ।

कीलानिमित्तं तेवि मुनयः देवकुलं देवं दहन्ति ॥ २१९ ॥

लाभकीर्तिकारणेन ये केचन सिधसंगं सिधसङ्घवास्यं निजपरमात्मध्यानं त्यजन्ति ते  
मुनयस्त्पोषणाः । किं कुर्वन्ति । लोहकीलवाप्राप्यं निःसारेन्द्रियगुणनिमित्तं देवसङ्घवास्यं  
निजपरमात्मपदार्थं दहन्ति देवकुलसङ्घवास्यं दिव्यपरमौदारिकजातिं च दहन्तीति ।

परिमह सिद्धपरमेष्ठीका ध्यान, अविष्ट परिमह पुत्रलादि पांच द्रव्यका विचार और  
मित्रपरिमह गुणस्थान मार्गणास्थान जीवममासादिरूप संसारी जीवका विचार । इन तरह  
बाहिरके और अंतरके परिमहसे रहित जो जिनलिङ्ग उसे महण कर जो अज्ञानी मुद्रा-  
त्माकी अनुभूतिसे विपरीत परिमहको महण करते हैं वे बमन करके पीडे आहार करने-  
वालोंके समान निद्राके योग्य होते हैं । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि जो जीव  
अपने माता पिता पुत्र मित्र कलत्र—इनको छोड़कर परके पर और पुत्रादिकमें मोट करने  
हैं अर्थात् अपना परिवार छोड़कर सिध्यगाराओंमें राग करते हैं वे मुद्राभोगे समुद्रको  
तीरके गायके स्त्रोदे जलमें डूबते हैं । कैसा है समुद्र, जिनमें जन्मके समुद्र मगड है  
ऐसे अथाह समुद्रको तो बाहोंसे तिर जाता है लेकिन गायके स्त्रोदके जन्मे डूबना है ।  
यह बड़ा अर्थमा है । परका ही संबंध छोड़दिया तो पराये पुत्रोने क्या राग करना ?  
नहीं करना ॥ २१८ ॥

आगे जो अपनी प्रतिदि ( बड़ाई ) प्रतिष्ठा और पर धरतुका लाभ इन लोहकीलके  
आत्मध्यानको छोड़ते हैं वे लोहके बालेकेलिये देव तथा देवालयको जलते हैं,—[दे]  
जो कीर् [ लाभस्य ] लाभ [ कीर्तेः कारणेन ] और कीर्तिके कारणे [ सिधसंगं ]  
परमात्माके ध्यानको [ त्यजन्ति ] छोड़ देने हैं [ ते अपि मुनयः ] वे ही मुनि [ कीलानि-  
मित्तं ] लोहके बालेकेलिये अपना बालेके कारणे अथवा ११२२पुत्रसंबंध निमित्त  
[ देवकुलं ] मुनिपर योग्य तरीकरूपी देवस्थानको तथा [ देवं ] आन्देवके [ दहन्ति ]



देहभेदेन भेदो नास्ति तर्हि यथा वेचन बर्तयेक एव जीवस्तन्मवमायातं । भगवानाह ।  
 ह्युत्संभनयेन भेदावनादिबन्धनात्प्रभेदाया भेदो नास्ति व्यवहारनयेन पुनर्न्यैतत्प्रभेदाया धने  
 निम्नभिन्नवृक्षयन् सेनायां भिन्नभिन्नदम्बुधारीवद्भेदोऽस्तीति भावार्थः ॥ २२२ ॥

अथ त्रिभुवनसंस्थितानां मूढा भेदं कुर्वन्ति शानिनस्तु भिन्नभिन्नमुवर्णानां षोडशवर्णि-  
 कैश्चत्वरूपैः पल्लवानात्प्रभेदैश्चत्वरूपं जानन्तीति दर्शयति;—

जीवहं तिहुयण संठियहं, मूढा भेउ करंति ।

केवलणाणि णाणि फुडु, सयलुपि एकु मुणंति ॥ २२३ ॥

जीवानां त्रिभुवनसंस्थितानां मूढा भेदं कुर्वन्ति ।

केवलज्ञानेन शानिनः स्फुटं सकलमपि एकं मन्यन्ते ॥ २२३ ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं तिहुयण संठियहं श्वेतकृष्णरक्षादिभिन्नभिन्नवर्णवैशिष्ट्यानां  
 षोडशवर्णिकानां भिन्नभिन्नमुवर्णानां यथा व्यवहारेण षववेष्टनभेदेन भेदः तथा त्रिभुवन-  
 संस्थितानां जीवानां व्यवहारेण भेदं दृष्ट्वा निम्नयनेनापि मूढा भेउ करंति मूढात्मानो  
 भेदं कुर्वन्ति । केवलणाणि वीतरागसदानन्दैकमुखाविनाभूतकेवलज्ञानेन णाणि वीतराग-  
 न्यसंभेदेन शानिनः फुडु स्फुटं निश्चितं सयलुपि समस्तमपि जीवराशिं इकु मुणंति संप्रहृतयेन  
 समुदायं प्रत्येकं मन्यन्त इति अभिप्रायः ॥ २२३ ॥

प्रकार जातिकी अपेक्षासे जीवोंमें भेद नहीं है सब एक जाति हैं और व्यवहारनयसे  
 ब्यक्तिकी अपेक्षा भिन्न भिन्न है अनंत जीव हैं एक नहीं है । जैसे यन एक कहा जाता  
 है और वृक्ष जुदे २ हैं उसी तरह जातिसे जीवोंमें एकता है लेकिन द्रव्य जुदे २ हैं  
 तथा जैसे सेना एक है परंतु हाथी घोड़े रथ सुभट अनेक हैं उसी तरह जीवोंमें  
 जानना ॥ २२२ ॥

आगे तीन लोकमें रहनेवाले जीवोंका अज्ञानी भेद करते हैं सबको समान नहीं  
 जानते और ज्ञानीजन केवलज्ञानलक्षणसे सबको समान जानते हैं । जीवपनेसे कोई कम  
 बढ नहीं है कर्मके उदयसे शरीर भेद है परंतु द्रव्यकर सब समान हैं । जैसे सोनेमें  
 धानभेद है वैसे ही परके संयोगसे भेद मावस होता है तौभी सुवर्णपनेसे सब समान हैं  
 ऐसा दिखलाते हैं;—[ त्रिभुवनसंस्थितानां ] तीन भुवनमें रहनेवाले [ जीवानां ]  
 जीवोंका [ मूढाः ] मूर्ख ही [ भेदं ] भेद [ कुर्वन्ति ] करते हैं और [ शानिनः ] शानी  
 जीव [ केवलज्ञानेन ] केवलज्ञानसे [ स्फुटं ] प्रगट [ सकलमपि ] सब जीवोंको [ एकं  
 मन्यन्ते ] समान जानते हैं । भावार्थ—व्यवहारनयकर सोलहवाकके सुवर्ण भिन्न २  
 वरगमें लपेटें तो बस्त्रके भेदसे भेद है परंतु सुवर्णपनेसे भेद नहीं है, उसी प्रकार तीन  
 लोकमें तिष्ठे हुए जीवोंका व्यवहारनयसे शरीरके भेदसे भेद है परंतु जीवपनेसे भेद नहीं



बाहेल परिणता न चाकाशम्यचंद्रमाः । अत्र दृष्टान्तमाह । यथा देवदत्तमुग्धोपाधिवशेन नानादर्पणानां पुटला एव नानामुग्धाकारेण परिणमन्ति न च देवदत्तमुग्धं नानारूपेण परिणमन्ति । यदि परिणमन्ति तदा दर्पणसं गुग्मप्रतिबिम्बं चेतनत्वं प्राप्नोति न च तथा, तर्पकचंद्रमा अपि नानारूपेण न परिणमतीति । किं च न शैको मङ्गलनामा कोपि दृश्यते प्रत्यक्षेण यत्रेन्द्रवर्णानारूपेण भविष्यति इत्यभिप्रायः ॥ २२६ ॥

अथ सर्वजीवविषये समदर्शित्वं मुक्तिकारणमिति प्रकटयति;—

— रागदोसवे परिहरेयि, जे सम जीव णियंति ।

ते समभावि परिद्विपा, लहु णिब्बाणु लहंति ॥ २२७ ॥

रागद्वेषी परिहृत्य ये समा जीवा निर्गच्छंति ।

ते समभावे प्रतिष्ठिताः लघु निर्वाणं लभन्ते ॥ २२७ ॥

राय इत्यादि पदसंज्ञानारूपेण व्याख्यानं क्रियते । रायदोसवे परिहरेयि धीतराग-निजानंदैकस्वरूपस्वशुद्धारमद्रव्यभावनविलक्षणौ रागद्वेषी परिहृत्य जे ये केचन सम जीव

पटजातिथी अपेक्षा सब पटोंका एकरूपता है परंतु सब जुदे २ हैं और पुरुषजातिकर सबकी एकता है परंतु सब अलग २ हैं । उसी प्रकार जीवजातिकी अपेक्षासे सब जीवोंका एकरूपता है तौभी प्रदेशोंके भेदसे सब ही जीव जुदे जुदे हैं । इहां पर कोई पर-पादी प्रश्न करता है कि जैसे एक ही चंद्रमा जलके भरे बहुत घड़ोंमें जुदा जुदा भासता है उसीप्रकार एक ही जीव बहुत शरीरोंमें बिद्य २ भास रहा है । उसका श्रीगुरु समा-धान करते हैं—जो बहुत जलके घड़ोंमें चंद्रमाकी किरणोंकी उपाधिसे जलजातिके पुटल ही चंद्रमाके आकार परिणत होगये हैं लेकिन आकाशमें स्थित चंद्रमा तो एक ही है कुछ चंद्रमा तो बहुत स्वरूप नहीं होगया । उसका दृष्टान्त कहते हैं । जैसे कोई देवदत्त-नामा पुरुष उसके मुखकी उपाधि ( निमित्त ) से अनेक प्रकारके दर्पणोंसे दोमायमान जो काचका मटल उसमें धे काचरूप पुटल ही अनेकमुखके आकार परिणत हुए हैं कुछ देवदत्तका मुख अनेकरूप नहीं परिणत हुआ है, मुख एक ही है । जो कदाचित देवदत्तका मुख अनेकरूप परिणमन करे तो दर्पणमें तिष्ठते हुए मुखोंके प्रतिबिंब चेतन हो जायें । परंतु चेतन नहीं होते, जड़ ही रहते हैं । उसीप्रकार एक चंद्रमा भी अने-करूप नहीं परिणमता । ये जलरूप पुटल ही चंद्रमाके आकार परिणत हो जाते हैं । इसलिये ऐसा निश्चय समझना कि जो कोई ऐसे कहते हैं कि एक ही प्रस नानारूप दीखता है । यह कहना ठीक नहीं है । जीव जुदे २ हैं ॥ २२६ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि सब ही जीव द्रव्यसे तो जुदे २ हैं परंतु जातिसे एक हैं और गुणोंकर समान है ऐसी धारणा करना मुक्तिका कारण है;—[ ये ] जो [ रागद्वेषी ]

गिन्यंति सर्वसाधारणकेवलज्ञानदर्शनलक्षणैः समाना महत्ताः जीवा निर्गच्छन्ति जन्ते  
ते पुरुषाः । कथंभूताः । समभावि परिद्विया जीविनमरणव्याभालाभमुग्गदुःसादिममता-  
भावनारूपे समभावे प्रतिष्ठिताः संतः लघु णिव्वाणु लहंति लघु शीघ्रं जानन्ति क्वचि-  
काचित्याद्भुतकेवलज्ञानादिगुणास्पदं निर्वाणं लभन्त इति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञाना रागद्वेष-  
लक्षणा च शुद्धात्मानुभूतिरूपा समभावना कर्तव्येभ्यः अभिप्रायः ॥ २२७ ॥

अथ सर्वजीवसाधारणं केवलज्ञानदर्शनलक्षणं प्रकाशयति;—

जीवहं दंसणु णाणु जिय, लक्खणु जाणइ जो जि ।

देहविभेएं भेउ तहं, णाणि किं मण्णइ सो जि ॥ २२८ ॥

जीवानां दर्शनं ज्ञानं जीव लक्षणं जानाति य एव ।

देहविभेदेन भेदं तेषां ज्ञानी किं मन्यते तमेव ॥ २२८ ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं जीवानां दंसणु णाणु जगत्प्रयकालप्रयवर्तिसमस्तद्रव्यगुणपर्य-  
याणां क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन परिच्छित्तिसमर्थ विमुद्गदर्शनं ज्ञानं च । जिय हे जीव  
लक्खणु जाणइ जो जि लक्षणं जानाति य एव देह विभेएं भेउ तहं देहविभेदेन भेदं  
तेषां जीवानां, देहोद्भवविषयसुखरसास्वादविलक्षणशुद्धात्मभावनारहितेन जीवेन यानुषा-

राग और द्वेषको [ परिहृत्य ] दूर करके [ जीवाः समाः ] सब जीवोंको समान [ निर्ग-  
च्छन्ति ] जानते हैं [ ते ] वे साधु [ समभावे ] समभावमें [ प्रतिष्ठिताः ] विराजमान  
[ लघु ] शीघ्र ही [ निर्वाणं ] मोक्षको [ लभन्ते ] पाते हैं । भावार्थ—वीतराग निजान-  
दस्वरूप जो निज आत्मद्रव्य उसकी भावनासे विमुक्त जो राग द्वेष उनको छोड़कर जो  
महान् पुरुष केवलज्ञान दर्शन लक्षणकर सब ही जीवोंको समान गिनते हैं वे पुरुष  
समभावमें स्थित शीघ्र ही शिवपुरको पाते हैं । समभावका लक्षण ऐसा है कि जीविन  
मरण लाभ-अलाभ सुख दुःखादि सबको समान जानें । जो अनंत सिद्ध हुए और होवेंगे  
यह सब समभाव का प्रभाव है । समभावसे मोक्ष मिलती है । कैसा है वह मोक्षस्थान,  
जो अत्यंत अद्भुत अचिंत्य केवलज्ञानादि अनंत गुणोंका स्थान है । यहां यह व्याख्यान  
जानकर राग द्वेषको छोड़के शुद्धात्माके अनुभवरूप जो समभाव वे सदा करने चाहिये ।  
यही इस ग्रंथका अभिप्राय है ॥ २२७ ॥

आगे सब जीवोंमें केवलज्ञान और केवल दर्शन साधारण लक्षण हैं इनके बिना कोई  
जीव नहीं है । ये गुण शक्तिरूप सब जीवोंमें पाये जाते हैं ऐसा कहते हैं;—[ जी-  
वानां ] जीवोंके [ दर्शनं ज्ञानं ] दर्शन और ज्ञान [ लक्षणं ] निज लक्षणको [ य एव ]  
जो कोई [ जानाति ] जानना है [ हे जीव ] हे जीव [ स एव ज्ञानी ] वही ज्ञानी  
[ देहविभेदेन ] देहके भेदसे [ तेषां भेदं ] उन जीवोंके भेदको [ किं मन्यते ] क्या मान

जिंताणि कर्माणि तदुदयेनोत्पन्नेन देहभेदेन जीवानां भेदं णाणि किमणुइ वीतरागस्वसंवे-  
दनतानी हिं गन्वते । नैव । फं । सो जि तमेव पूर्वोक्तं देहभेदमिति । अत्र ये केचन  
ब्रह्माहुनवादिनो नानाजीवान् मन्व्यंते तन्मतेन विवक्षितैरुजीवस्य जीवितमरणसुरदुः-  
खारिके जाते सर्वजीवानां तन्मिमेव क्षणे जीवितमरणसुरदुःखादिकं प्राप्नोति । कस्मारिति  
येत् । एकजीवत्वादिति । न च तथा दृश्यते इति भाषार्थः ॥ २२८ ॥

अथ जीवानां निश्चयनयेन योसौ देहभेदेन भेदं करोति स जीवानां दर्शनशानचारिप्र-  
लक्षणं न जानातीत्यभिप्रायं मनसि भूत्वा सूत्रमिदं कथयति;—

देहविभेपइं जो षुणइ, जीवहं भेउ विचिचु ।

सो णवि लक्खणु षुणइ तहं, दंसणु णाणु चरिचु ॥ २२९ ॥

देहविभेदेन यः करोति जीवानां भेदं विचित्रं ।

स नैव लक्षणं मनुते तेषां दर्शनं शानं चारित्रं ॥ २२९ ॥

देह इत्यादि । देह विभेयहं देहममत्वमूलभूतानां रथातिपूजालाभस्वरूपादीनां अपध्या-  
नानां विपरीतस्य स्वगुणालाभ्यानस्याभावे यानि कृतानि कर्माणि तदुदयजनितेन देहभेदेन

सकता है नहीं मानसकता । भाषार्थ—तीनलोक और तीन काल घरती समस्त द्रव्य  
गुण पर्यायोक्तो एक ही समयमें जानने समर्थ जो केवल दर्शन केवल ज्ञान हैं इन निज  
लक्षणोंको जो कोई जानता है वही सिद्ध पद पाता है । जो ज्ञानी अच्छीतरह इन निज  
लक्षणोंको जान लेवे वह देहके भेदसे जीवोंका भेद नहीं मानसकता । अर्थात् देहसे  
उत्पन्न जो विषयसुर उनके रसके आस्वादसे विगुल गुदारभासी भावनासे रहित जो  
जीव उसने उपाजर्जन किये जो ज्ञानावरणादि कर्म उनके उदयसे उत्पन्न हुए देहादिकके  
भेदसे जीवोंका भेद वीतरागस्वसंवेदन ज्ञानी कदापि नहीं मानसकता । देहमें भेद हुआ  
तो क्या, गुणसे सब समान हैं और जीव जातिकर एक हैं । यहां पर जो कोई ब्रह्मा-  
हुनवादी घेदाती नाना जीवोंको नहीं मानते हैं, एक ही जीव मानते हैं, ऐसी बात  
अप्रमाण है । उनके मतमें एक ही जीवके माननेसे बड़ा भारी दोष होता है ।  
वह इस तरह है कि एक जीवके जीने मरने सुख दुःखादिके होनेपर सब जीवोंके उसी  
समय जीवना मरना सुख दुःखादि होने चाहिये, क्योंकि उनके मतमें यन्तु एक है ।  
परंतु ऐसा देखनेमें नहीं आता । इसलिये उनका यन्तु एक मानना बूधा है ऐसा  
जानो ॥ २२८ ॥

आगे जीवहीको जानते हैं परंतु उसके लक्षण नहीं जानते यह अभिप्राय मनमें  
रखकर व्याख्यान करते हैं,—[ यः ] जो [ देहविभेदेन ] शरीरोंके भेदसे [ जीवानां ]



जो कुण्ड यः करोति । कं । जीवहं भेद विचिनु जीवानां भेदं विचित्रं नरनारकादि-  
देहरूपं सो णवि लक्षणेण सुणइ तहं स नैव लक्षणं मनुते तेषां जीवानां । किं लक्षणं ।  
दंसणु णाणु चरित्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमिति । अत्र निश्चयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-  
लक्षणानां जीवानां ब्राह्मणश्रत्रियवैश्यचांडालादिदेहभेदं दृष्ट्वा रागद्वेषौ न कर्तव्याविति  
तात्पर्यं ॥ २२९ ॥

अथ शरीराणि वादरसूक्ष्माणि विधिवशेन भवंति न च जीवा इति दर्शयति;—

अंगहं सुक्षुमहं वादरहं, विहिवसिं हंति जि वाल ।

जिय पुणु सयलुवि तित्तडा, सच्चत्थवि सयकाल ॥ २३० ॥

अंगानि सूक्ष्माणि वादराणि विधिवशेन भवंति ये बालाः ।

जीवाः पुनः सकला अपि तावंतः सर्वत्रापि सर्वकाले ॥ २३० ॥

अंगहं इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । अंगहं सुक्षुमहं वादरहं अंगानि  
सूक्ष्मवादराणि जीवानां विहिवसि हंति विधिवशाद्भवन्ति अंगोद्भवपंचत्रियविषयकांक्षा-  
मूलभूतानि दृष्टश्रुतानुभूतभोगवांडारूपनिदानबंधादीनि यान्यपध्यानानि तद्विलक्षणा वासी

जीवोंका [ विचित्रं ] नानारूप [ भेदं ] भेद [ करोति ] करता है [ सः ] वह [ तेषां ]  
उन जीवोंका [ दर्शनं ज्ञानं चारित्रं ] दर्शन ज्ञान चारित्र [ लक्षणं ] लक्षण [ नैव  
मनुते ] नहीं जानता अर्थात् उसको गुणोंकी परीक्षा (पहचान) नहीं है । भावार्थ—  
देहके ममत्वके मूल कारण ख्याति (अपनी बड़ाई) पूजा और लभरूप जो आर्तरीद्र-  
स्वरूप खोटे ध्यान उनसे रहित निज शुद्धात्माका ध्यान उसके अभावसे इस जीवने  
उपार्जन क्रिमे जो शुभ अशुभ कर्म उनके उदयसे उत्पन्न जो शरीर है उसके भेदसे  
भेद मानता है उसको दर्शनादि गुणोंकी गम्य नहीं है । यद्यपि पापके उदयमे नरक  
योनि, पुन्यके उदयसे देवोंका शरीर और शुभाशुभ मिश्रसे नर देह तथा मायाचारसे  
पशुका शरीर मिलता है अर्थात् इन शरीरोंके भेदसे जीवोंकी अनेक चोद्ययें देखी जाती  
हैं परंतु दर्शन ज्ञान लक्षणसे सब सुल्य है । उपयोग लक्षणके त्रिना कोई जीव नहीं है ।  
इसलिये ज्ञानीजन सबको समान जानते हैं । निश्चयनयमे दर्शन ज्ञान चारित्र जीवोंके  
लक्षण हैं, ऐसा जानकर ब्राह्मण क्षत्री वैश्य शूद्र चांडालादि देहके भेद देखकर रागद्वेष  
नहीं करना चाहिये । सब जीवोंमे मैत्री भाव करना यही तात्पर्य है ॥ २२९ ॥

आगे सूक्ष्म वादर शरीर जीवोंके कर्मके संबंधमे होने हैं सो सूक्ष्म वादर म्मात्र  
जंगम ये सब शरीरके भेद ह जीव नो चिद्रूप हे मय भेदोंमे गहन ? ऐसा दिखाने  
हैं,— [ सूक्ष्माणि ] सूक्ष्म [ वादराणि ] वादर [ अंगानि ] शरीर [ ये ] तथा  
जी [ बालाः ] बाल बृद्ध नरणाद अन्याय [ विधिवशेन ] कर्मांश [ भवंति ] होती हैं

रगुद्वात्मभावना सद्रहितेन जीवेन यदुपार्जितं विधिसंशं कर्म तद्वशेन भवंत्येव । न केवल-  
भंगानि भवंति जे पाल ये बालवृद्धादिपर्यायाः तेषु विधिवशेनैव । अथवा संबोधनं हे  
पाल हे अमान जिय पुणु सयलवि तित्तडा जीवाः पुनः सर्वेपि तन् प्रमाणा द्रव्यप्रमाणं  
प्रत्यनताः, क्षेत्रापेक्षयापि पुनरैकैकोपि जीवो यद्यपि व्यवहारेण स्वदेहमात्रमथापि निश्चयेन  
लोकाकाशप्रमितामंग्येयप्रदेशप्रमाणः । क । सर्वत्रत्यपि सर्वत्र लोके । न केवलं लोके  
सयकाल सर्वत्र कालत्रये तु । अत्र जीवानां पादरसुह्मारिकं व्यवहारेण कर्मकृतभेदं  
दृष्ट्वा विशुद्धदर्शनज्ञानलक्षणपेक्षया निश्चयनयेन भेदो न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ २३० ॥

अथ जीवानां शत्रुमित्रादिभेदं यः न करोति स निश्चयनयेन जीवलक्षणं जानातीति  
प्रतिपादयति;—

सत्त्वुवि मित्तुवि अप्पु पर, जीव असेसुवि षड् ।

एकु करेयिणु जो मुणइ, सो अप्पा जाणेइ ॥ २३१ ॥

शत्रुरपि मित्रमपि आत्मा परः जीवा अशेषा अपि एते ।

एकत्वं कृत्वा यो मनुते स आत्मानं जानाति ॥ २३१ ॥

सत्त्वुवि इत्यादि । सत्त्वुवि शत्रुरपि मित्तुवि मित्रमपि जीव असेसुवि जीवा अशेषा

[ पुनः ] और [ जीवाः ] जीव तो [ सकला अपि ] सभी [ सर्वत्र ] सब जगद्  
[ सर्वकाले अपि ] और सब कालमें [ तापंतः ] उतने प्रमाण ही अर्थात् असंख्यात  
प्रदेशी ही हैं । माचार्य—जीवोंके शरीर व बालवृद्धादि अवस्थायें कर्मोंके उदयसे  
होती हैं । अर्थात् भंगसे उत्पन्न हुए जो पंचेन्द्रियोंके विषय उनकी बांटा जिनका मूल  
कारण है ऐसे देसे सुने भोगे हुए भोगोंकी बांटा रूप निदान बंधादि सोटे ध्यान उनसे  
विमुख जो शुद्धात्माकी भावना उससे रहित इस जीवने उपार्जन किये शुभाशुभ कर्मोंके  
योगसे ये चतुर्गतिके शरीर होते हैं और बालवृद्धादि अवस्थायें होती हैं । ये अवस्थायें  
कर्मजनित हैं जीवकी नहीं हैं । हे अजानी जीव यह बात तू निःसंदेह जान । ये सभी  
जीव द्रव्यप्रमाणसे धर्मन्त है, क्षेत्रकी अपेक्षा एक एक जीव यद्यपि व्यवहारनयकर अपने  
मिले हुए देहके प्रमाण है तौभी निश्चयनय कर लोकाकाशप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है ।  
सब लोकमें सब कालमें जीवोंका यही स्वरूप जानना । पादर सुह्मादि भेद कर्म जनित  
होना समझकर ( देखकर ) जीवोंमें भेद मत जानो । विशुद्ध ज्ञान दर्शनकी अपेक्षा सब  
ही जीव समान है कोई भी जीव दर्शन ज्ञान रहित नहीं है ऐसा जानना ॥ २३० ॥

आगे जो जीवोंके शत्रु मित्रादि भेद नहीं करता है वह निश्चयकर जीवका लक्षण  
जानता है ऐसा कहते हैं;—[ एते अशेषा अपि ] ये सभी [ जीवाः ] जीव हैं उनमेंसे  
[ शत्रुरपि ] कोई एक किसीका शत्रु भी है [ मित्रं अपि ] मित्र भी है [ आत्मा ]

अथ एह एते प्रत्यक्षीभूताः एकं करेविष्णुं जीं मुण्डं एकत्वं कृत्वा यो मनुते शत्रुनिघ-  
जीवितमरणलाभालाभारिसमताभावनास्वरूपीतरागपरममायायिकं कृत्वा योर्मा जीरानां  
शुद्धसंग्रहनेरुत्वं मन्यते सो अप्या जाणेद् म वीनगगमहत्तानंदैक्यभावं शत्रुनिघादि-  
विकल्परुद्रेणालारहितमान्मानं जानातीनि मायायैः ॥ २३१ ॥

अथ योसौ सर्वजीवान् समानान्न मन्यते तस्य ममभावो नाम्नीत्यावेदयति;—

॥ जो ण वि मण्ड जीव जिय, सयलवि एकसहाय ।

तासु ण थक्क भाउ समु, भवसायरि जो णाय ॥ २३२ ॥

यो नैव मन्यते जीवान् जीव सकलानपि एकसमायान् ।

तस्य न तिष्ठति भावः समः भवमागरे यः नीः ॥ २३२ ॥

जो णवि इत्यादि । जो णवि मण्डय यो नैव मन्यते । कान् । जीव जीवान् जिय हे  
जीव कतिसंख्योपेतान् । सयलवि ममन्तानपि । कथंभूतान्न मन्यते । एकसहाय चीतराग-  
निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा सरुलविमलकेवलज्ञानादिगुणैर्निश्चयेनैकेश्वरभावात् तामु ण थक्क  
भाउ समु तस्य न तिष्ठति ममभावः । कथंभूतः । भवमायारि जो णाय ममारममुदे यो

अपना है और [ परः ] दूररा है । ऐसा व्यवहारमे जानकर [ यः ] जो ज्ञानी [ एकत्वं  
कृत्वा ] निश्चयसे एकपना करके अर्थात् सबमें समदृष्टि रखकर [ मनुते ] समान  
मानता है [ सः ] वही [ आत्मानं ] आत्मके स्वरूपको [ जानाति ] जानता है ।  
भावार्थ—इन संसारी जीवोंमें शत्रु आदि अनेक भेद दीखते हैं परंतु जो ज्ञानी सबको  
एक दृष्टिसे देखता है समान जानता है । शत्रु मित्र जीवित मरण लाभ अलाभ आदि  
सबोंमें समभावरूप जो चीतराग परमसामाधिक चारित्र्य उभके प्रभावसे जो जीवोंको  
शुद्ध संग्रह नयकर एक जानता है सबको समान मानता है वही अपने निज स्वरूपको  
जानता है । जो निजस्वरूप, चीतराग सहजानंद एक स्वभाव तथा शत्रु मित्र आदि  
विकल्प जालसे रहित है । ऐसे निजस्वरूपको समता भावके बिना नहीं जान सकता ॥२३१॥

आगे जो सब जीवोंको समान नहीं मानता उभके समभाव नहीं होसकते ऐसा  
कहते हैं;—[ जीव ] हे जीव [ यः ] जो [ सकलानपि ] सभी [ जीवान् ] जीवोंको  
[ एकेश्वरभावान् ] एक स्वभाववाले [ नैव मन्यते ] नहीं जानता [ तस्य ] उम अज्ञानीके  
[ समः भावः ] समभाव [ न तिष्ठति ] नहीं रहता [ यः ] जो समभाव [ भवमागरे ]  
ससार समुद्रके तीरेको [ नाः ] नावके समान है । भावार्थ—जो अज्ञानी सब जीवोंको  
समान नहीं मानता अर्थात् चीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें स्थित होकर सबको समान दृष्टिसे  
नहीं देखता । सरुल ज्ञायक परमनिर्मलकेवल ज्ञानादि गुणोंके निश्चयनयमे सब जीव

भावहारणोपायभूता नौरिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा रागद्वेषमोहान् मुषसा च परमो-  
परमभावरूपे शुद्धात्मनि स्यात्तद्व्यमित्यभिप्रायः ॥ २३२ ॥

अथ जीवानां बोधो भेदः स कर्मकृत इति प्रकाशयति;—

जीवहं भेद जि कम्मकिउ, कम्म्वि जीउ ण होइ ।

जेण विभिण्णउ होइ तहं, कालु लहेविणु कोइ ॥ २३३ ॥

जीवानां भेद एव कर्मकृतः कर्मैव जीवो न भवति ।

येन विभिन्नः भवति तेभ्यः कालं लब्ध्वा कमपि ॥ २३३ ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं जीवानां भेद जि भेद एव कम्मकिउ निर्भेदशुद्धात्मविल-  
क्षणेन कर्मणा कृतः कम्म्वि जीउ ण होइ शानावरणानि कर्मैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं  
जीवस्वरूपं न भवति । कम्मात्त भवतीति चेत् । जेण विभिण्णउ होइ तहं येन कारणेन  
विभिन्नो भवति तेभ्यः कर्मैभ्यः । किंत्वा । कालु लहेविणु कोइ पीतरागपरमात्मानुभू-  
तिसहकारिकारणभूतं कमपि कालं लब्ध्वेति । अयमत्र भावार्थः । टंकोत्कीर्णसायकैक्यु-  
द्धजीवस्वभावादिलक्षणं मनोक्षामनोसखीपुरुषादिजीवभेदं दृष्ट्वा रागाद्यपध्यानं न कर्त-  
व्यमिति ॥ २३३ ॥

एकसे हैं ऐसी जिसके अद्वा नहीं है उसके समभाव नहीं उत्पन्न होसकता । ऐसा  
निस्संदेह जानो । कैसा है समभाव, जो संसार समुद्रसे तारनेकेलिये जहाज समान  
है । यहां ऐसा व्याख्यान जानकर राग द्वेष मोहको तजकर परमशांत भावरूप शुद्धा-  
त्मामें लीन होना योग्य है ॥ २३२ ॥

आगे जीवोंमें जो भेद है वह सब कर्मजनित है ऐसा प्रगट करते हैं;—[ जीवानां ]  
जीवोंमें [ भेदः ] नर नारकादि भेद [ कर्मकृत एव ] कर्मोंसे ही किया गया है और  
[ कर्म एव ] कर्म ही [ जीवः ] जीव [ न भवति ] नहीं होसकता । [ येन ] क्योंकि  
वह जीव [ कमपि ] किसी [ कालं ] समयको [ लब्ध्वा ] पाकर [ तेभ्यः ] उन  
कर्मोंसे [ विभिन्नः ] जुदा [ भवति ] होजाता है । भावार्थ—कर्म शुद्धात्मासे जुदे  
हैं, शुद्धात्मा भेदकल्पनासे रहित है । ये शुभाशुभकर्म जीवका स्वरूप नहीं हैं जीवका  
स्वरूप तो निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव है । अनादिकालसे यह जीव अपने स्वरूपको भूल  
रहा है, इसलिये रागादि अशुद्धोपयोगसे कर्मको बांधता है । सो कर्मका बांध अनादि-  
कालका है । इस कर्मबंधसे कोई एक जीव पीतराग परमात्माकी अनुभूतिके सहकारी  
कारणरूप जो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका समय उसको पाकर उन कर्मोंसे जुदा हो जाता है ।  
कर्मोंसे छूटनेका यही उपाय है जो जीवके भवसिति समीप ( बोड़ी ) रही हो जभी  
सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और सम्यक्त्व उत्पन्न होजाये सभी कर्मफलकसे छूट सकना है ।

अपि एह एते प्रत्यक्षीभूताः एकु करेविणु जो मुणइ एकत्वं कृत्वा यो मनुते शत्रुमित्र-  
जीवितमरणलाभालाभादिसमताभावनारूपवीतरागपरमसामायिकं कृत्वा योसौ जीवानां  
शुद्धसंमद्हनयेनैकत्वं मन्यते सो अप्पा जाणेइ म वीतरागसहजानंदैकस्वभावं शत्रुमित्रादि-  
विकल्पकहोलमालारहितमात्मानं जानातीति भावार्थः ॥ २३१ ॥

अथ योसौ सर्वजीवान् समानान्न मन्यते तस्य समभावो नान्नीत्यावेदयति;—

११ जो ण चि मण्णइ जीव जिय, सपलवि एकसहाव ।

तासु ण थक्कइ भाउ समु, भवसापरि जो णाय ॥ २३२ ॥

यो नैव मन्यते जीवान् जीव सकलानपि एकस्वभावान् ।

तस्य न तिष्ठति भावः समः भवसागरे यः नौः ॥ २३२ ॥

जो णचि इत्यादि । जो णचि मण्णइ यो नैव मन्यते । कान् । जीव जीवान् जिय हे  
जीव कविसंरपोपेतात् । सपलवि समन्तानपि । कथंभूतान्न मन्यते । एकसहाव वीतराग-  
निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा सकलविमलक्रेवलशानादिगुणैर्निश्चयेनैकस्वभावान् तासु ण थक्कइ  
माउ समु तस्य न तिष्ठति समभावः । कथंभूतः । भवसापरि जो णाय संसारसमुद्रे यो

भयना हे जोर [ परः ] दूसरा हे । ऐसा व्यवहारमें जानकर [ यः ] जो जानी [ एकत्वं  
कृत्वा ] निश्चयसे एकपना करके अर्थात् सर्वमें समदृष्टि रखकर [ मनुते ] समान  
मानता है [ सः ] बही [ आत्मानं ] आत्माके स्वरूपको [ जानाति ] जानता है ।  
भावार्थ—इन संसारी जीवोंमें शत्रु आदि अनेक भेद दीसते हैं परंतु जो शानी सबको  
एक दृष्टिमें देखता है समान जानता है । शत्रु मित्र जीरिन मरण लाभ अनाभ आदि  
सर्वोंमें समभावरूप जो वीतराग परमसामायिक चारित्र्य उभके प्रभारमें जो जीवोंको  
शुद्ध संमद् नयकर एक जानता है सबको समान मानता है बही अपने निज स्वरूपको  
जानता है । जो निजस्वरूप, वीतराग सहजानंद एक स्वभाव तथा शत्रु मित्र आदि  
विकल्प जानमें रहित है । ऐसे निजस्वरूपको समता भावके बिना नहीं जान सकता ॥ २३१ ॥

अने जो सब जीवोंको समान नहीं मानता उभके समभाव नहीं होसकते ऐसा  
कहते हैं;—[ जीव ] हे जीव [ यः ] जो [ सकलानपि ] सभी [ जीवान् ] जीवोंको  
[ एकस्वभावान् ] एक स्वभावके [ नैव मन्यते ] नहीं मानता [ तस्य ] उभके प्रभारमें  
[ समः भावः ] समभाव [ न तिष्ठति ] नहीं रहता [ यः ] जो समान व [ भवसागरे ]  
संसार समुद्रके समुद्रके [ नौः ] नौके समान है । भावार्थ—जो जो सब जीवोंको  
समान समुद्रके समुद्रके [ नौः ] नौके समान है । भावार्थ—जो जो सब जीवोंको  
समान समुद्रके समुद्रके [ नौः ] नौके समान है । भावार्थ—जो जो सब जीवोंको

नावसारणोपायभूता नौरिति । अप्रेक्षं ध्यात्वायानं ज्ञात्वा रागद्वेषमोहात् मुक्त्वा च परमो-  
परमभावरूपे शुद्धात्मनि स्थानव्यमित्यभिप्रायः ॥ २३२ ॥

अथ जीवानां दोषो भेदः स कर्मकृत इति प्रकाशयति;—

जीवहं भेद जि कम्मकिड, कम्मुवि जीउ ण होइ ।

जेण विभिण्णउ होइ तहं, फालु लहेविणु कोइ ॥ २३३ ॥

जीवानां भेद एव कर्मकृतः कर्मैव जीवो न भवति ।

येन विभिन्नः भवति तेभ्यः कालं लब्ध्वा कमपि ॥ २३३ ॥

जीवहं इत्यारि । जीवहं जीवानां भेद जि भेद एव कम्मकिड निर्भेदशुद्धात्मविल-  
क्षणेन कर्मणा कृतः कम्मुवि जीउ ण होइ ज्ञानावरणादि कर्मैव विगुह्यज्ञानदर्शनस्वभावं  
जीवस्वरूपं न भवति । कम्माम्न भवतीति चेत् । जेण विभिण्णउ होइ तहं येन कारणेन  
विभिन्नो भवति तेभ्यः कर्मभ्यः । किं कृत्वा । फालु लहेविणु कोइ वीतरागपरमात्मानुभू-  
तिसहकारिकारणभूतं कमपि कालं लब्ध्वेति । अयमत्र भावार्थः । टंकोत्कीर्णेशायैकशु-  
द्धजीवस्वभावाद्द्विलक्षणं मनोज्ञाननोऽस्त्रीपुरुषादिजीवभेदं दृष्ट्वा रागाद्यपभ्यानां न कर्त-  
व्यमिति ॥ २३३ ॥

एकसे हैं ऐसी जिसके अन्दा नहीं है उसके समभाव नहीं उत्पन्न होसकता । ऐसा  
निस्संदेह जानो । कैसा है समभाव, जो संसार समुद्रसे तारनेकेलिये अद्वाज समान  
है । यहां ऐसा ध्याख्यान जानकर राग द्वेष मोहको तजकर परमात्मात भावरूप शुद्धा-  
त्मामें लीन होना योग्य है ॥ २३२ ॥

आगे जीवोंमें जो भेद है वह सब कर्मजनित है ऐसा प्रगट करते हैं;—[ जीवानां ]  
जीवोंमें [ भेदः ] नर नारकादि भेद [ कर्मकृत एव ] कर्मोंसे ही किया गया है और  
[ कर्म एव ] कर्म ही [ जीवः ] जीव [ न भवति ] नहीं होसकता । [ येन ] क्योंकि  
यह जीव [ कमपि ] किसी [ कालं ] समयको [ लब्ध्वा ] पाकर [ तेभ्यः ] उन  
कर्मोंसे [ विभिन्नः ] जुदा [ भवति ] होजाता है । भावार्थ—कर्म शुद्धात्मासे जुदे  
है, शुद्धात्मा भेदकल्पनासे रहित है । ये शुभाशुभकर्म जीवका स्वरूप नहीं हैं जीवका  
स्वरूप सो निर्मल ज्ञान दर्शन सभाव है । अनादिकालसे यह जीव अपने स्वरूपको भूल  
रहा है, इसलिये रागादि अशुद्धोपयोगसे कर्मको बांधता है । सो कर्मका बंध अनादि-  
कालका है । इस कर्मबंधसे कोई एक जीव वीतराग परमात्माकी अनुभूतिके सहकारी  
कारणरूप जो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका समय उसको पाकर उन कर्मोंसे जुदा हो जाता है ।  
कर्मोंसे छूटनेका यही उपाय है जो जीवके भवत्विति समीप ( मोड़ी ) रही हो अभी  
सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और सम्यक्त्व उत्पन्न होजावे सभी कर्मकलंकसे छूट सकता है ।

इत्युच्यते । व्यवहारेण तु निध्यात्वरामादिपरिणतपुरुषः सोऽपि कथंचिद्, निष्को  
नास्तीति ॥ २३६ ॥

अथ तदेव परसंसर्गदूषणं दृष्टान्तेन समर्थयति;—

॥ भद्राहं वि णासंति गुण, जहं संसग्गु खलेहिं ।

यइसाणरु लोहहं मिलिउ, तें पिट्टियइ घणेहिं ॥ २३७ ॥

भद्रानामपि नश्यंति गुणाः येषां संसर्गः सतीः ।

वैधानरो लोहेन मिलितः तेन पिट्यते घनेः ॥ २३७ ॥

मन्तं हि इत्यारि । भद्राहं वि भद्रानामपि हरश्चभावमहितानामपि णासंति गुण  
नासंति परमात्मोत्पत्तिफलभजनगुणाः । येषां किं । जहं संसग्गु येषां संसर्गः । केः मद् ।  
मन्तं हि परमात्मपरसंसर्गनिवर्तनभूतैर्निग्रयनयेन शरीरयुद्धिदोषरूपैः रागद्वेषादिपरिणामैः  
शरीरदुःखैश्चकारणैः तु निध्यात्वरामादिपरिणतपुरुषैः । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह । यइमानरु  
लोहहं मिलिउ वैधानरो लोहमिलितः तें तेन कारणेन पिट्टियइ घणेहिं निद्रुतद्वयो  
शब्दे । केः । घनेरिति । अत्रानाप्तुल्लभ्यमौल्यविपातको येन दृष्टपुतानुभूतभोगाकांशात्प-

निदानबंधाद्यप्यन्यपरिणाम एव परमंतराग्न्याभ्यः । व्यवहारेण तु परपरिणितपुरुष  
इत्यभिप्रायः ॥ २३७ ॥

अथ मोहपरित्यागं दर्शयति;—

जोइय मोह परिषयहि, मोह ण भद्रउ होइ ।

मोहामत्तउ सयलु जगु, दुखलु सहंतउ जोइ ॥ २३८ ॥

योगिन् मोहं परित्यज मोहो न भद्रो भवति ।

मोहासक्तः सकलं जगत् दुःखं सहमानं पश्य ॥ २३८ ॥

जोइय इत्यारि । जोइय हे योगिन् मोह परिषयहि निर्मोहपरमात्मस्वरूपभावनाप्रति-  
पक्षभूतं मोहं त्यज । कम्मान् । मोह ण महउ होइ मोहो भद्रः समीचीनो न भवति ।  
तदपि कम्मान् । मोहासक्तउ सयलु जगु मोहामत्तं समसं जगत् निर्मोहशुद्धात्मभावना-  
रहितं दुखलु सहंतउ जोइ अद्याकुलत्वलभ्रणपारमार्थिकमुग्धविलक्षणमाकुलत्वोत्पादकं  
दुःखं सहमानं पश्यति । अत्रास्तां तावद्दहिरंगपुत्रकलत्रादौ पूर्वं परित्यक्तेन पुनर्वासनावसेन  
स्मरणरूपो मोहो न कर्तव्यः । शुद्धात्मभावनास्वरूपं तपश्चरणं सत्साधकभूतशरीरं तस्यापि  
स्थित्यर्थमज्ञानपानादिकं बद्धसमाणं तत्रापि मोहो न कर्तव्यः इति भावार्थः ॥ २३८ ॥

अथ स्थलसंख्यायदिर्भूतमाहारमोहविषयनिराकरणसमर्थनार्थं प्रक्षेपकप्रयत्नाद् वक्ष्या, —

काऊण णग्गरूपं, घीभस्सं दहमडयसारिच्छं ।

अहिलससि किं ण लच्चसि, भिक्खाण भोयणं मिट्ठं ॥ २३९ ॥ (क्षे०)

निदान बंध आदि खोटे परिणामरूपी दुष्टोंकी संगति नहीं करना अथवा अनेक दोषोंकर  
सहित रागी द्वेषी जीवोंकी भी संगति कभी नहीं करना, यह तात्पर्य है ॥ २३७ ॥

•• आगे मोहका त्याग करना दिखलाते हैं;—[ योगिन् ] हे योगी तू [ मोहं ] मोहको  
[ परित्यज ] विलकुल छोड़ दे क्योंकि [ मोहः ] मोह [ भद्रः न भवति ] अच्छा नहीं  
होता है [ मोहासक्तः ] मोहसे आसक्त [ सकलं जगत् ] सब जगतजीवोंको [ दुःखं  
सहमानं ] क्लेश भोगतं हुए [ पश्य ] देख । भावार्थ—जो आकुलता रहित है वह  
दुःखका मूल मोह है । मोही जीवोंको दुःख सहित देखो । वह मोह परमात्मस्वरूपकी  
भावनाका प्रतिपक्षी दर्शनमोह चारित्रमोहरूप है । इसलिये तू उसको छोड़ । पुत्र स्त्री  
आदिकमें तो मोहकी बात दूर रहे यह तो प्रत्यक्षमें त्यागने योग्य ही है । और विषय-  
वामनाके बन्ध देह आदिक पर बन्धुओंका रागरूप मोहजाल है वह भी सर्वथा त्यागना  
चाहिये । अंतर बाध मोहका त्यागकर सम्यक् स्वभाव अंगीकार करना । शुद्धात्माकी  
भावनारूप जो तपश्चरण उसका साधक जो शरीर उसकी स्थितिकेलिये अन्न जलादिक  
लिये जाते हैं तौभी विनोय राग न करना, रागरहित नीरस आहार लेना चाहिये ॥२३८॥



अथ लोमकपायदोषं दर्शयति;—

जोड़य लोह्ण परिचयहि, लोह्ण ण भल्लउ जोड़ ।

लोहासत्तउ सयल्लु जयु, दुक्खु सहंतउ जोड़ ॥ २४३ ॥

योगिन् लोभं परित्यज लोभो न मदः भवति ।

लोमासक्तं सकलं जगत् दुःखं सहमानं पश्य ॥ २४३ ॥

हे योगिन् लोभं परित्यज । कस्मान् । लोभो भद्रो समीचीनो न भवति । लोभामर्त्तं समस्तं जगत् दुःखं सहमानं पश्येति । तथाहि—लोमकपायविपरीतात् परमात्मस्वभाव-द्विपरीतं लोभं त्यज हे प्रभाकरमठ । यतः कारणान् निर्लोभपरमात्मभावनारहिता जीवा दुःखमुपमुंजानास्तिष्ठंतीति तात्पर्यं ॥ २४३ ॥

अधामुमेव लोमकपायदोषं दृष्टानेन समर्थयति;—

तलि अहिरणि वरि घणवटणु, संटस्सयल्लुं चोड़ ।

लोह्हं लग्गिधि हुपवह्हं, पिक्खु पटंतउ तोड़ ॥ २४४ ॥

तले अधिकरणे उपरि घनपातनं संडसककुंचनं ।

लोहं लगित्वा हुत्तवहं पश्य पिट्टं त्रोटनं ॥ २४४ ॥

तले अधमनभागेऽधिकरणसंज्ञोपकरणं उपरितनभागे घनघानपातनं तथैव संडमकसं-  
ज्ञेनोपकरणेन कुंचनमाकर्षणं । केन । लोहपिठनिमित्तेन । कस्य । हुत्तमुजोऽग्नेः त्रोटनं  
संज्ञं पश्येति । अयमत्र भावार्थः । यथा लोहपिठसंसाग्दग्निरक्षानिलोकपूज्यः प्रसिद्धः

आगे लोमकपायका दोष कहते हैं;— [ योगिन् ] हे योगी नू [ लोभं ] लोमको  
[ परित्यज ] छोड़ [ लोभः ] ये लोभ [ भद्रो न भवति ] अच्छा नहीं है क्योंकि  
[ लोभामर्त्तं ] लोभमें लगे हुए [ सकलं जगत् ] इस संपूर्ण जगत्को [ दुःखं सहमानं ]  
दुःख सहते हुए [ पश्य ] देख । भावार्थ—लोमकपायसे रहित जो परमात्मस्वभाव उमगे  
निर्दोष जो हम सब परमवक्ता लोम, धनधान्यादिका लोभ उमे नू छोड़ । क्योंकि लोभी  
जीव मक्खवगें दुःख भोगने हे ऐसा नू देख रहा है ॥ २४३ ॥

आगे लोमकपायके दोषको दृष्टानेमे पुष्ट करने हे, — [ लोहं लगित्वा ] जैसे लोहका  
मर्ख पक्कर [ हुत्तवहं ] अग्नि [ तले ] नीचे उमगे हुए [ अधिकरणे उपरि ] अदरनके  
ऊपर [ घनपातनं ] पत्थरी चोट [ संडसककुंचनं ] मिशामीने में पत्थरा [ पिट्टं त्रोटनं ]  
चोट उमग से हुत्तवहं हुत्तवहं हुत्तवहं दे ऐसा [ पश्य ] देख । भावार्थ—  
लोहका मर्खमे लोहक हुत्तवहं हुत्तवहं दे ऐसा नू मर्खवहं दे याद लोहका मर्ख न करे

देवता विद्वानवियों लभते तथा लोभादिकपायपरिणतिकारणभूतेन पंचेंद्रियशरीरसंबन्धेन  
निलोभपरमात्मगणस्य भावनारहितो जीवो यन्पातस्थानीयानि नारकादिदुःखानि बहुकालं  
महत् इति ॥ २४४ ॥

अथ श्लेहपरित्यागं वक्ष्यति;—

जोह्य षोडश परिचयहि, षोडश ण भद्रुज होइ ।

षोडासत्तउ सयलु जगु, दुखखु सहंतउ जोइ ॥ २४५ ॥

योगिन् श्लेहं परित्यज श्लेहो न भद्रो भवति ।

श्लेहानक्तं सकलं जगत् दुःखं सहमानं पश्य ॥ २४५ ॥

रागादिश्लेहप्रतिपक्षभूते वीतरागपरमात्मपदार्थध्याने स्थित्वा शुद्धात्मतत्त्वाद्विपरीनं हे  
योगिन् श्लेहं परित्यज । कर्मान् । श्लेहो भद्रः समीचीनो न भवति । तेन श्लेहेनासक्तं  
मनसं जगन्निर्गोशुद्धात्मभावनारहितं विविधशरीरमानमरूपं बहुदुःखं सहमानं पश्येति ।  
अत्र भेदाभेदरत्नप्रयात्नकमोक्षमार्गं मुक्तरा श्लेहनिपक्षभूते मिथ्यात्वरगादी श्लेहो न कर्तव्य  
इति सात्पर्यं । उक्तं च । “तावदेव सुखी जीवो यावन्न निश्चये क्वचित् । श्लेहानुविद्धहृदयं  
दुःखमेव पदे पदे” ॥ २४५ ॥

अथ श्लेहदोषं दृष्टान्तेन व्रथयति;—

जलसिंचणु पयणिदलणु, पुणु पुणु पीलणदुखखु ।

षोहहं शग्गिधि तिलणिपरु, जंति महंतउ पिक्खु ॥ २४६ ॥

तरह लोह अर्थात् लोभके कारणसे परमात्मतत्त्वकी भावनासे रहित मिथ्यादृष्टि जीव  
यन्पातके समान नरकादि दुःखोको बहुतकालतक भोगता है ॥ २४४ ॥

आगे श्लेहका त्याग दिखलाते हैं;—[ योगिन् ] हे योगी रागादिरहितवीतराग परमा-  
त्मपदार्थके ध्यानमें टहरकर ज्ञानका वैरी [ श्लेह ] श्लेह (प्रेम) को [ परित्यज ] छोड़  
[ श्लेहः ] क्योंकि श्लेह [ भद्रः न भवति ] अच्छा नहीं है [ श्लेहासक्तं ] श्लेहमें लगा-  
हुआ [ सकलं जगत् ] समस्त संसारी जीव [ दुःखं सहमानं ] अनेक प्रकार शरीर और  
मनके दुःख सह रहा है उसको तू [ पश्य ] देख । ये संसारी जीव श्लेहरहित शुद्धात्म-  
तत्त्वकी भावनासे रहित हैं, इसलिये नानाप्रकारके दुःख भोगते हैं । दुःखका मूल एक  
श्लेहादिकका श्लेह ही है । भावार्थ—यहां भेदाभेदरत्नप्रयरूप मोक्षके मार्गसे विमुक्त होकर  
मिथ्यात्वरगादिमें श्लेह नहीं करना यह साराश है । क्योंकि ऐसा कहा भी है कि जब  
तक यह जीव जगतसे श्लेह न करे तबतक सुखी है और जो श्लेहसहित है जिनका मन  
श्लेहसे बंध रहा है उनको हर जगह दुःख ही है ॥ २४५ ॥

सन् तो ततः कारणात् चरि वरं किन्तु चिंतहि चित्तय ध्याप । कि । तउ त्रि तः  
 तपस्तप एव विचितय नान्यन् । तपश्चरणचित्तान् किं फलं भवति । पावहि प्राप्नोषि ।  
 कं । मौक्त्यु पूर्वोक्तलक्षणं मोक्षं । कथंभूतं । महंतु तीर्थंकरपरमदेवादिमहापुरुषैराश्रित-  
 न्महांतमिति । अत्र बहिर्द्रव्येच्छानिरोधेन वीतरागतात्त्रिकानंदपरमात्मरूपे निर्विघ्न-  
 समाधौ स्थित्वा गृहादिममत्वं त्यक्त्वा च भावना कर्तव्येति तात्पर्यं ॥ २५४ ॥

अथ जीवहिंसादोषं दर्शयति;—

जो मारिवि जीवहं लक्ष्ण्डा, जं जिय पाउ करीसि ।  
 पुत्रकलत्तहं कारणहं, तं तुहं एकु सहीसि ॥ २५५ ॥

मारयित्वा जीवानां लक्षणि यन् जीव पापं करिष्यसि ।  
 पुत्रकलत्राणां कारणेन तत् त्वं एकः सहिष्यसे ॥ २५५ ॥

मारिवि इत्यादि । मारिवि जीवहं लक्ष्ण्डा उपादिविकल्पपरहितस्य स्वस्वभावनलक्ष-  
 णस्य शुद्धचैतन्यप्राणस्य निश्चयेनाभ्यंतरे यद्यं कृत्वा बहिर्भागे धानेकजीवलभ्यानां तेन  
 दिमोपकरणेन पुत्रकलत्तहं कारणहं पुत्रकलत्रममत्वनिमित्तोत्पन्नदृष्टप्रतानुभूतभोगाक्षा-  
 धाम्यरूपतीक्ष्णभागेन जं जिय पाउ करीसि हे जीव यत्पापं करिष्यसि तं तुहं एकु  
 सहीसि तस्यापकृतं त्वं कर्ता नरकादिगतिव्येकाकी सन् महिष्यसे हि । अत्र रागाद्यभागे

करता हुआ [ मोक्षं ] मोक्ष [ न प्राप्नोषि ] कमी नहीं पासकता [ ततः ] इसलिये  
 [ वरं ] उत्तम [ तप एव ] तपका ही [ चित्तय ] चित्तवनकर क्योंकि [ तपसा ] तपने  
 ही [ महंतं मोक्षं ] श्रेष्ठ मोक्ष सुनको [ प्राप्नोषि ] पासकेगा । भावार्थ—तू गृहादि  
 परबस्तुओंको चित्तवन करता हुआ कर्मफलक रहित केवच्छानादि अनंतगुण सहित मोक्षको  
 नहीं पायेगा और मोक्षका मार्ग जो निश्चयव्यवहाररत्नत्रय उभयो भी नहीं पायेगा । इन  
 गृहादिके चित्तवनमें बबबतमें भ्रमण करेगा । इसलिये इनका चित्तवन नो मन कर  
 लेनिन वागहनकारके तपका चित्तवनकर । इसीमें मोक्ष पायेगा । पर मोक्ष तीर्थकर  
 परमदेवविदेव महापुरुषोंने आश्रित है इसलिये सबमें उत्कृष्ट है । मोक्षके सामान अन्य  
 पदार्थ नहीं । यहा परद्रव्यकी इच्छाको मोक्षकर कीनगम पाय आनंदरूप जो परमात्म-  
 स्वरूप उसके ध्यानमें दृष्टकर पर परित्यागदिच्छा मगन । जो एक केवन निजगम-  
 यकी धरना करना मरु तात्पर्य है । आत्मभावनाक विषय अन्य कुछ भी करने योग्य  
 नहीं है ॥ २५४ ॥

निश्चयेनाहिंसा भण्यते । कस्मात् । निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणस्य रक्षाकारणत्वात्, रागादुत्पत्तिस्तु निश्चयहिंसा । तदपि कस्मात् । निश्चयशुद्धप्राणस्य हिंसाकारणात् । इति शान्त्वा रागादिपरिणामरूपा निश्चयहिंसा त्याग्येति भावार्थः । तथा चोक्तं निश्चयहिंसाश्रमणं । “रागादीण मशुण्या अहिंसगत्तेति देसिदं समप । तेमि देव वपनी हिमेति जिनेदि गिरिट्टं” ॥ २५५ ॥

अथ एतेव हिंसादोषं दृढयति;—

॥ मारियि चूरियि जीवडा, जं तुहुं दुक्खु करीसि ।

तं तद् पासि अणंतगुणु, अवसद् जीय द्देसि ॥ २६६ ॥

तू [ एकः ] अकेला [ सहिष्णुसे ] सदेगा । भावार्थ—हे जीव तू पुत्रादि कुटुंबकेन्द्रिये हिंसा झूठ चोरी कुद्रील परिग्रहादि अनेक प्रकारके पाप करना है तथा अंतरंगमें रागादि विकल्प रहित ज्ञानादि शुद्ध चैतन्य प्राणोंका पात करता है अपने प्राण रागादिधर्ममें गंते करता है और बाह्यमें अनेक जीवोंकी हिंसाकरके अशुभकर्मोंको उपार्जन करना है उनका फल तू नरकादि गतिमें अकेला सदेगा । कुटुंबके लोक कोई भी तेंरे दुःखके घटानेवाले नहीं हैं तू ही सदेगा । श्री जिनशासनमें हिंसा दोतरहकी है । एक आत्मपात दूसरी परपात । उनमेंसे जो मिथ्यात्वरागादिकके निमित्तमें देखे तुने भोगे हुए भोगोंकी बाँटारूप जो तीक्ष्ण दाय उससे अपने ज्ञानादि प्राणोंको हतना वह निश्चय हिंसा है रागादिककी उत्पत्ति यह निश्चय हिंसा है । क्योंकि इन विभागोंसे निम्न भाव पाने जाते हैं । ऐसा जानकर रागादि परिणामरूप निश्चयहिंसा त्यागना । यही निश्चयहिंसा आत्मपात है । और प्रमादके योगमें अविषेकी होकर पर्वंद्री दोरंद्री तीरंद्री दीरंद्री जीवोंका पात करना वह परपात है । जब हतने पर जीवका पात बिचारा तब हतके परिणाम गतिन हुए और भावोंकी गतिनता ही निश्चयहिंसा है इसलिये परमाणव्य हिंसा आत्मपातका कारण है । जो हितक जीव है वह पर जीवोंका पातकर अदका पात करता है । यह स्वदया पर दयाका स्वरूप जानकर हिंसा सर्वथा त्यागना । हिंसाके समान अन्य पाप नहीं है । निश्चय हिंसाका स्वरूप सिद्धांतमें दूसरी जगह देना कहा है—ओ रागादिकका अभाव बही शास्त्रमें अहिंसा कही है और रागादिककी उत्पत्ति यही हिंसा है ऐसा कथन जिनशासनमें जिनेश्वरदेवने दिसलाया है । अर्थात् ओ रागादिकका अभाव वह स्वदया और जो प्रमादरहित विदेवस्वरूप करजाभाव वह परदया है । यह स्वदया परदया धर्मका मूल कारण है । जो पापी हितक होगा उसके परिष्कार निर्गत नहीं होसकते देगा निश्चय है, पर जीव पात तो उसकी आदुष अदुशर है वस्तु हतने जब परपात बिचारा तब आत्मपात ही हुआ ॥ २५५ ॥

त्वत्तिस्तु हिंसा भण्यते तत्र च पापबंधः । यदि पुनरेकांतेन देहात्मनोर्भेद एव तर्हि परकी-  
यदेहघाते दुःखं न भवति तथा स्वदेहघातेपि दुःखं न स्यात्त च तथा । निश्चयेन पुनर्जति  
गतेपि देहो न गच्छतीति हेतोर्भेद एव । ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता, पापबंधोपि न  
च निश्चयेन इति । सत्यमुक्तं त्वया, व्यवहारेण पापं तथैव नारकादिदुःखमपि व्यवहारे-  
णेति । तदिष्टं भवतां चेत्तर्हि हिंसां कुरुत यूयमिति ॥ २५७ ॥

अथ मोक्षमार्गं रतिं कुर्विति शिक्षां ददाति;—

मूढा सयल्लुचि कारिमज्ज, सुहृज्ज मं तुस कंडि-।

सिवपहि णिम्मलि करहि रइ, धरु परियणु लहु छंडि ॥ २५८ ॥

मूढ सकलमपि कृत्रिमं भ्रान्ता मा तुषं कंडय ।

शिवपथे निर्मले, कुरु रतिं गृहं परिजनं लघु त्वज ॥ २५८ ॥

नहीं है वैसे प्राणोंका भी नाश नहीं होसकता । अगर जुदे हैं अर्थात् जीवसे सर्वथा  
भिन्न हैं तो इन प्राणोंका नाश नहीं होसकता । इस प्रकारसे जीवहिंसा है ही नहीं तुम  
जीवहिंसामें पाप क्यों मानते हो । उसका समाधान । जो ये इंद्रिय बल आयु श्वातो-  
च्छ्वास प्राण जीवसे किसी नयकर अभिन्न हैं भिन्न नहीं हैं किसी नयसे भिन्न हैं । ये  
दोनों नय प्रमाणीक हैं । अब अमेद कहते हैं सो मुनो । अपने प्राणोंके होनेपर जो  
व्यवहार नयकर दुःखकी उत्पत्ति वह हिंसा है उसीसे पापका बंध होता है । और जो इन  
प्राणोंको सर्वथा जुदे ही मानें देह और आत्माका सर्वथा भेद ही जानें तो जैसे परके  
शरीरका घात होनेपर दुःख नहीं होता है वैसे अपने देहके घातमें भी दुःख न होना  
चाहिये इसलिये व्यवहारनयकर जीवका और देहका एकरव दीसता है परंतु निश्चयसे  
एकरव नहीं है । यदि निश्चयसे एकरवना होवे तो देहके विनाश होनेसे जीवका  
विनाश हो जावे सो जीव अविनाशी है । जीव इस देहको छोड़कर परभवको जाता  
है तब देह नहीं जाती है । इसलिये जीव और देहमें भेद भी है । यद्यपि निश्चय-  
नयकर भेद है तभी व्यवहारनयकर प्राणोंके चले जानेसे जीव दुःखी होता है सो  
जीवको दुःखी करना यही हिंसा है और हिंसासे पापका बंध होता है । निश्चय-  
नयकर जीवका घात नहीं होता यह तूने कहा वह सत्य है परंतु व्यवहारनयकर प्राणवि-  
योगरूप हिंसा है ही और व्यवहारनयकर ही पाप है और पापका फल नरकादिकके  
दुःख हैं वे भी व्यवहारनयकर ही हैं । यदि तुझे नरकके दुःख अच्छे लगते हैं तो  
हिंसा कर और नरकका भय है तो हिंसा मत कर । ऐसे व्याख्यानसे अज्ञानी जीवोंका  
संशय भेदा ॥ २५७ ॥

मूढा इति । मूढा मयलुपि कारिमउ हे मूढजीव शुद्धात्मानं विहायान्यन् पंचेन्द्रि-  
यविषयरूपं स्वमग्नमपि कृत्रिमं विनभरं भुङ्गुतं मं तुम कंठि भ्रांतो भूत्वा सुपकंडनं मां  
कुरु एवं विनभरं शान्वा सिवपदि पिम्मलि शिवशब्दवाच्यविशुद्धज्ञानदर्शनस्यभावो  
शुभात्मा तस्य प्राण्युपायः पंथा निजशुद्धात्मस्य कृत्रिमज्ञानानुष्ठानरूपः स च रागादि-  
रहितव्येन निर्मलः करदि रइ इत्यंभूते मोक्षे मोक्षमार्गे च रतिं प्रीतिं कुरु घरु परियणु  
लहु छंदि पूर्वोक्तमोक्षमार्गप्रतिपक्षभूतं गृहं परिजनादिकं क्षीयं त्यजेति सात्वर्यं ॥ २५८ ॥

अथ पुनरल्पभुवानुपेक्षां प्रतिपादयति;—

जोइय सपलुपि कारिमउ, णिक्कारिमउ ण कोइ ।

जीविं जंतिं कुडि ण गय, इहु पडिछंदा जोइ ॥ २५९ ॥

योगिन् सकलमपि कृत्रिमं निःकृत्रिमं न किमपि ।

जीवेन याता देहो न गतः इमं दृष्टांतं पश्य ॥ २५९ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् सपलुपि कारिमउ टंकोत्कीर्णशायकैकस्वभावाद-  
कृत्रिमाद्वीतरागनित्यानंदैकस्वरूपान् परमात्मनः सकाशात् यदन्यन्मनोवाकायव्यापाररूपं  
सत्तममग्नमपि कृत्रिमं विनभरं णिक्कारिमउ ण कोइ अकृत्रिमं नित्यं पूर्वोक्तपरमात्मसदृशं  
संमारे किमपि नास्ति । अस्मिन्नर्थे दृष्टांतमाह । जीविं जंतिं कुडि ण गय शुद्धात्मतत्त्व-  
भावनारहितेन निष्क्यात्वविषयकपायामत्तेन यान्युपार्जितानि कर्मणि तत्कर्मसहितेन जीवेन

आगे श्रीगुरु यह शिक्षा देते हैं कि तू मोक्षमार्गमें प्रीति कर;—[ मूढ ] हे मूढ जीव  
[ सकलमपि ] शुद्धात्माके सिवाय अन्य सब विषयादिक [ कृत्रिमं ] विनाशवाले हैं तू  
[ भ्रात्वा ] भ्रम ( भूल ) से [ तुपं मा कंडय ] भ्रूसेका खंडन मत कर । तू [ निर्मले ]  
परमपवित्र [ शिवपथे ] मोक्षमार्गमें [ रतिं ] प्रीति [ कुरु ] कर [ गृहं परिजनं ] और  
मोक्षमार्गका उद्यमी होके घर परिवार आदिको [ लघु ] क्षीय ही [ त्यज ] छोड़ ।  
भावार्थ—हे मूढ शुद्धात्मस्वरूपके सिवाय अन्य सब पंचेन्द्रीविषयरूप पदार्थ नाशवान् हैं  
तू भ्रमसे भूला हुआ असार भ्रूसेके कूटनेकी तरह कार्य न कर इस सामग्रीको विनाशीक  
जानकर क्षीय ही मोक्षमार्गके घातक घर परिवार आदिकको छोड़कर मोक्षमार्गका उद्यमी  
होके ज्ञानदर्शनस्वभावको रखनेवाले शुद्धात्माकी प्राप्तिका उपाय जो सम्यग्दर्शन सम्य-  
ग्ज्ञान सम्यक् चारित्ररूप मोक्षका मार्ग उसमें प्रीतिकर । जो मोक्षमार्ग रागादिकसे रहित  
होनेकर महा निर्मल है ॥ २५८ ॥

आगे फिर भी अनित्यानुपेक्षाका व्याख्यान करते हैं,—[ योगिन् ] हे योगी [ सक-  
लमपि ] सभी [ कृत्रिमं ] विनभर हैं [ निःकृत्रिमं ] अकृत्रिम [ किमपि ] कोई भी  
वस्तु [ न ] नहीं है [ जीवेन याता ] जीवके जानेपर उसके साथ [ देहो न गतः ]

नो चेत् मर्षसंगपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्पपरमममाधौ ग्यातव्यं । यौवनेति कृत्वा न  
कर्त्तव्या यौवनावस्थायां यौवनोद्रेकजनितविषयरागं त्याग्या विषयप्रतिपन्नमूले वीतरागत्वि-  
धानंदैकस्वभावे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा च निरंतरं भावना कर्त्तव्येति भाषायैः ॥ २६२ ॥

अथ धर्मतपश्चरणरहितानां मनुष्यजन्म वृथेति प्रतिपादयति;—

धम्सु ण संचित तउ ण किउ, रुक्खें चम्ममएण ।

खज्जिवि जरउद्देहियए, णरइ पडिच्चउ तेण ॥ २६३ ॥

धर्मो न संचितः तपो न कृतं वृक्षेण चर्ममयेन ।

खादयित्वा जरोद्रेहिकया नरके पतितव्यं तेन ॥ २६३ ॥

धम्सु इत्यादि । धम्सु ण संचित धर्मसंचयो न कृतः गृहस्थावस्थायां दानशीलपूजो-  
पवासादिरूपसम्यक्त्वपूर्वको गृहधर्मो न कृतः । दर्शनिकप्रतिकार्यैकादशश्रावकधर्मरूपो वा  
तउ ण किउ तपश्चरणं न कृतं तपोधनेन तु समस्तवर्हिद्रव्येच्छानिरोधं कृत्वा अनशनादि-  
द्वादशविधतपश्चरणत्रयेन निजशुद्धात्मस्थाने स्थित्वा निरंतरं भावना न कृता । केन कृत्वा ।  
रुक्खें चम्ममएण वृक्षेण मनुष्यशरीरचर्मनिवृत्तेन । येनैवं न कृतं गृहस्थेन तपोधनेन वा  
णरइ पडिच्चउ तेण नरके पतितव्यं तेन । किंकृत्वा । खज्जिवि भक्षयित्वा । कया कर्त्तव्य-  
तया । जरउद्देहियइ जरोद्रेहिकया । इदमत्र तात्पर्यं । गृहस्थेनाभेदरत्नत्रयस्वरूपमुपादेवं

इच्छा नहीं करनी । जो किसी दिन प्रत्याख्यानकी चौकड़ीके उदयसे श्रावकके मतमें भी  
रहे तो देव पूजा गुरुकी सेवा स्वाध्याय दान शील उपवासादि अणुवतरूप धर्म करे  
और जो बड़ी शक्ति होवे तो सब परिग्रहका त्यागकर यतीके व्रत धारण करके निर्वि-  
कल्पपरमसमाधिमें रहे । यतीको तो सर्वथा धनका त्याग और गृहस्थको धनका प्रमाण  
करना योग्य है । विवेकी गृहस्थ धनकी तृष्णा न करें । धन यौवन असार है, यौवन  
अवस्थामें विषय तृष्णा न करें विषयका राग छोड़कर विषयोसे परानुत्प जो वीतराग  
निजानंद एक अखंड स्वभावरूप शुद्धात्मा उसमें लीन होकर हमेशा भावना करनी  
चाहिये ॥ २६२ ॥

आगे जो धर्मसे रहित हैं और तपश्चरण भी नहीं करते हैं उनका मनुष्य जन्म  
वृथा है ऐसा कहते हैं;— [ येन ] जिसने [ चर्ममयेन वृक्षेण ] मनुष्यशरीररूपी चर्म-  
मर्द वृक्षको पाकर उससे [ धर्मः न कृतः ] धर्म नहीं किया [ तपो न कृतं ] और तप  
भी नहीं किया उसका शरीर [ जरोद्रेहिकया खादयित्वा ] शुद्धात्मारूपी दीमक जै-  
सा खाया जायगा फिर [ तेन ] उसको मरणकर [ नरके ] नरकमें [ पतितव्यं ]  
पड़ेगा । भावार्थ—गृहस्थ अवस्थामें जिसने सम्यक्त्वपूर्वक दान शील पूजा . . . . .

श्रुत्वा भेदरत्नप्रयासकः श्रावकधर्मः कर्तव्यः, यतिना तु निश्चयरत्नत्रये स्थित्वा ध्यात्रहारि-  
करत्नत्रययत्नेन विशिष्टतपश्चरणं कर्तव्यं नोचेत् दुर्लभपरंपरया प्राप्तमनुष्यजन्म  
निष्फलमिति ॥ २६३ ॥

अथ हे जीव जिनेश्वरपदे परमभक्तिं कुर्विति शिष्टां ददाति;—

अरि जिय जिणपइ भक्ति करि, सुहि सज्जणु अचहेरि ।

तिं चप्पेणवि कज्जु णवि, जो पाटइ संसारि ॥ २६४ ॥

अहो जीव जिनपदे भक्तिं कुरु सुरे सजनं अपहर ।

तेन पित्रापि कार्यं नैव यः पातयति संगारे ॥ २६४ ॥

अरि जिय इत्यादि । अरि जिय अहो भव्यजीव जिणपइ भक्ति करि जिनपदे भक्ति  
कुरु गुणानुरागवचननिमित्तं जिनेश्वरेण प्रणीतश्रीधर्मं रतिं कुरु सुहि सज्जणु अचहेरि  
संसारानुत्तरसहकारिकारणभूतं स्वजनं गोत्रमप्यपहर त्यज । कस्मान् । तिं चप्पेणवि तेन  
सोद्विष्टपित्रापि कज्जु णवि कार्यं नैव । यः किं करोति । जो पाटइ यः पातयति । इ ।  
संसारि संसारसमुद्रे । तथाच । हे आत्मन् अनारिवालं दुर्लभे धीतरागमर्षरत्नदीने  
रागद्वेषमोहोद्विष्टे जीवपरिणामलक्षणे शुद्धोपयोगरूपे निश्चयधर्मे व्यवहारधर्मे च पुनः  
पद्मावश्यवादिलक्षणे गृह्यभाषेभ्या दानपूजादिलक्षणे वा शुभोपयोग्यरूपे रतिं कुरु ।

धर्म नहीं धारण किया तथा मुनि होकर सब पदार्थोंकी इच्छाका निरोध कर अनटन  
बगैरः बाह्य प्रकारका तप नहीं किया तपश्चरणके बन्धने शुद्धतमाके ध्यानमें टहरकर  
निरंतर भावना नहीं की मनुष्यके शरीररूप धर्ममयी वृथाकी पाकर धर्मीका च अचहेरका  
धर्म नहीं किया उनका शरीर वृद्धावस्थारूप क्षीमक धीरे स्थायेंगे फिर यह नरकमें  
जायेगा । इसलिये गृह्यको तो यह धोय है कि निश्चयरत्नत्रयकी भद्राकर निश्चयरूप  
उपादेय जान व्यवहार रत्नत्रयरूप श्रावकका धर्म पालना । और धर्मीको यह धोय है  
कि निश्चय रत्नत्रयमें टहरकर व्यवहार रत्नत्रयके बन्धने महा तप करता । अगर धर्मीका  
च श्रावकका धर्म नहीं बना अशुभउ महात्तन नहीं पाते तो महा दुर्लभ मनुष्यदेहका  
पाना निष्फल है उससे कुछ फायदा नहीं ॥ २६३ ॥

आगे श्रीगुरु शिष्यको यह शिक्षा देते हैं कि तू मुनिराजके चरणारविशेकी परमभक्ति  
कर [ अहो जीव ] हे भव्य जीव तू [ जिनपदे ] जिनपदमें [ भक्ति कर ] भक्ति कर  
और जिनेश्वरके चहे हुए जिनधर्ममें भीति कर [ सुरे ] संसार समुद्रके सिद्धिदहणद  
[ स्वजनं ] जो अपने कुटुंबके जन उनको [ परिहर ] त्याग अत्यन्त ही बन्ध बन्ध है  
[ तेन पित्रापि नैव कार्यं ] उस महाभेदरूप पितामें भी कुछ काम नहीं है [ यः ] जो  
[ संसारि ] संसारसमुद्रमें इस शीर्षको [ पातयति ] पतक देवे । भावार्थ—हे आत्मन्



इत्थंमूले धर्मे प्रतिकूलो यः तं मनुष्यं स्वगोत्रजमपि त्यज तदनुकूलं परगोत्रजमपि स्वीकुर्विति । अत्रायं भावार्थः । विषयमुखनिमित्तं यथानुरागं करोति जीवस्तथा जिनधर्मं करोति तर्हि संसारे न पततीति । तथा चोक्तं । “विसयहं कारणि सञ्चु जणु जिम अणुराउ करेइ । तिम जिणभासिए धम्मि जइ ण उ संसारि पढेइ” ॥ २६४ ॥

अथ येन चित्तशुद्धिं कृत्वा तपश्चरणं न कृतं तेनात्मानं वंचितमित्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति;—

जेण ण चिण्णउ तपपरणु, णिम्मलु चित्तु करेवि ।

अप्पा वंचिउ तेण पर, माणुसजग्गु लहेवि ॥ २६५ ॥

येन न चीर्णं तपश्चरणं निर्मलं चित्तं कृत्वा ।

आत्मा वंचितः तेन परं मनुष्यजन्म लब्ध्वा ॥ २६५ ॥

जेण इत्यादि । जेण येन जीवेन ण चिण्णउ न चीर्णं न चरितं न कृतं । किं । तपश्चरणं यासाभ्यंतरतपश्चरणं । किं कृत्वा । णिम्मलु चित्तु करेवि कामक्रोधादिरहितं धीतरागचिदानन्दैकमुस्तामृतवृक्षं निर्मलं चित्तं कृत्वा अप्पा वंचिउ तेण आत्मानं वंचितं तेन नियमेन । किं कृत्वा । लहेवि लब्ध्वा । किं । माणुसजग्गु मनुष्यजन्मेति । तथाहि । दुर्लभपरंपरारूपेण मनुष्यभवे लब्धे तपश्चरणेपि च निर्विकल्पममाधिबलेन रागादिपरिहारेण चित्तशुद्धिः कर्तव्येति । येन चित्तशुद्धिर्न कृता स आशयंचकः इति भावार्थः । तथा चोक्तं ।

धनादिकालमे दुर्लभ जो धीतराग सर्वज्ञका कहा हुआ रागद्वेष मोह रहित शुद्धोपयोग-रूप निश्चयधर्म और शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म उभयों भी छद् आवश्यकरूप यतीका धर्म तथा दान पूजादि श्रावकका धर्म, यह शुभाचाररूप दो प्रकार धर्म उभयों प्रीति कर । इस धर्ममे विमुख जो अपने कुलका मनुष्य उभे छोड़ और इस धर्मके सम्मुख जो पर कुटुंबका भी मनुष्य हो उभयों प्रीति कर । तात्पर्य यह है कि यह जीव जैसे विषयसुखमे प्रीति करता है जैसे जो जिनधर्मसे करे तो संगारमें नहीं गटके । ऐसा दुर्गति जगद् भी कहा है कि जैसे विषयोंके कारण यह जीव धारंकार प्रेम करता है जैसे जो जिनधर्मसे करे तो संगारमें भ्रमण न करे ॥ २६४ ॥

अग्रे जिनने चित्तकी शुद्धता करके तपश्चरण नहीं किया उभयें अपना धाम्मा टग किया यह अनिश्चय मनने स्मरकर व्याख्यान करते हैं;—[ येन ] जिन जीवने [ तपश्चरणं ] बाह्यभ्यंतर तप [ न चीर्णं ] नहीं किया [ निर्मलं चित्तं ] महा निर्मल चित्त [ कृत्वा ] करके [ तेन ] उभयें [ मनुष्यजन्म ] मनुष्यजन्मको [ लब्ध्वा ] पाकर [ परं ] वंदन [ आत्मा वंचितः ] अपना आत्मा टग किया । भावार्थ—महान दुर्लभ इस कष्टद्वेषको छोड़ विषयके प्रेम मन किया और क्रोधादि रहित धीतराग चिरानंद

“चित्ते बद्धे बद्धो मुक्ते मुक्तोऽपि णत्थि संदेहो । अप्पा विमलमहाबो मइदिज्ज म चित्ते” ॥ २६५ ॥

अथ पंचेन्द्रियविजयं दर्शयति;—

ए पंचेन्द्रियकरहटा, जिय मोकला म चारि ।

चरित्ति असेसु वि विमययणु, पुणु पाटहिं संसारि ॥ २६६ ॥

एते पंचेन्द्रियकरहटा जीव सेच्छया मा चारय ।

चरित्वा अशेषं अपि विषयवनं पुनः पानयति संसारे ॥ २६६ ॥

ए इत्यादि । ए एते प्रत्यक्षभूताः पंचेन्द्रियकरहटा अनीन्द्रियगुणान्मादृश्यात्प्रत्यक्षमनः सकाशात् प्रतिपक्षभूताः पंचेन्द्रियकरहटा उद्याः जिय हे गूढजीव मोक्षला म चारि इत्यादि । अत्र पंचेन्द्रियकरहटा जीव सेच्छया मा चारय इत्यादि । अत्र चरित्वा अशेषं अपि विषयवनं पुनः पानयति संसारे ॥ २६६ ॥

सुररूपी अमृतकर मास अपना निर्मल चित्त करके अनघनादि तप म रिया बर का म हे अपने आत्माका टगनेवाला है । एषेन्द्री पर्यायो विकल्पय होना दुर्लभ है, जिसका असेनी पंचेन्द्री होना, असेनी पंचेन्द्रियसे मोनी होना, सेनी त्रियसे गनुय होना दुर्लभ है । मनुष्यमें भी आर्यक्षेत्र उत्तमगुण दीर्घ आयु सतसंग धर्मअवण धर्मका धरन होना जन्मपर्यंत निवाहना ये सब बातें दुर्लभ हैं सबमें दुर्लभ ( कठिन ) आगमन है कि कि चित्त शुद्ध होता है । ऐसा महादुर्लभ मनुष्यदेह पाकर तपश्चरण अंगीकार कर निर्विकल्प समाधिके बलसे रागादिबा त्यागकर परिणाम निर्मल करने चाहिये । किन्तु चित्तको निर्मल नहीं किया ये आत्माको टगनेवाला है । ऐसा दुर्लभ अमृत भी कत कि चित्तके बंधनेसे यह जीव कर्मोंसे बंधता है । जिनका चित्त धन धर्म्यादिसे बंध हुआ ये ही कर्मबंधसे बंधते हैं और जिनका चित्त परिश्रमे पूरा आका ( शुद्ध ) अलग हुआ येही मुक्त हुए । इसमें संदेह नहीं है । यह आत्मा निर्मलकरके चित्तके भीते होनेसे मोक्ष होता है ॥ २६५ ॥

आगे पांच इंद्रियोंका जीतना दिखायते हैं;—[ एते ] ये पंच [ पंचेन्द्रियकरहटा ] पांच (दीर्घ) उत दे उनको [ सेच्छया ] अपनी इच्छा में [ मा चारय ] म चार दे चारि [ अशेषं ] शेष [ विषयवनं ] विषयवनको [ चरित्वा ] चरके [ पुनः ] फिर से [ संसारे ] संसारे ही [ पानयति ] पच देते । आदि [ चरित्वा ] अनीन्द्रियकरके आत्माइनरूप परमात्मा परात्मसे उरके हे उरके हे उरके हे उरके हे

अथ ध्यानवैपम्यं कथयति;—

जोह्य विसमी जोयगह, मणु संठवण ण जाइ ।

इंदियविसय जि सुक्खडा, तित्थु जि चलि चलि जाइ ॥ २६७ ॥

योगिन् विपमा योगगतिः मनः संस्वापयितुं न याति ।

इंद्रियविषयेषु एव मुत्तानि तत्र एव पुनः पुनः याति ॥ २६७ ॥

जोह्य इत्यादि । जोह्य हे योगिन् विसमी जोयगह विपमा योगगतिः । कम्मन् । मणु संठवण ण जाइ निजशुद्धासन्न्यतिचपलं मकंठप्रार्थं मनो धर्तुं न याति । तस्मिन् कम्मन् । इंदियविसय जि सुक्खडा इंद्रियविषयेषु यानि मुत्तानि चलि चलि तित्थु जि जाइ वीतरागपरमादादसमरसीभावपरमसुखरहितानां अनादिवासनावासितर्षणैन्द्रिय-विषयगुणग्राहासक्तानां जीवानां पुनः पुनः तथैव गच्छतीति भावार्थः ॥ २६७ ॥

अथ शतशतान्यापासं प्रश्नोपकं कथयति;—

सो जोहउ जो जोगवह, दंसणु णाणु चरित्तु ।

होपयि पंचहं पाहिरउ, झायंतउ परमत्तु ॥ २६८ ॥

स योगी यः पाळयति दर्शनं ज्ञानं चारित्रं ।

गत्वा पंचम्यः बाह्यः ध्यायन् परमार्थं ॥ २६८ ॥

भवनामे पराङ्मुख होकर इनको स्पष्टद मतकर अपने वशमें रस, ये तुझे संसारमें पटकदोगे इमत्रिये इनको विषयोंमें पीछे लौटा । संसारमें रहित जो शुद्ध आत्मा उभमे उठता जो द्रव्य क्षेत्र काट मन भावरूप पांच प्रकारका संगार उभमे ये वनेन्त्रीकी कंट लच्छेद हुए विषयवनको चरके जगतके जीवोंको जगत्में ही पटकदोगे यह लक्ष्य जगता ॥ २६६ ॥

अने ध्यानकी कठिनाता दिखताते हैं;—[ योगिन् ] हे योगी [ योगगतिः ] एवा-  
नकी गति [ विपमा ] महाविषम हे कथोक्ति [ मनः ] चित्तकी बंदर चपल होनेमें  
[ संस्वापयितुं न याति ] निजशुद्धात्मानमें निजमाधो नही माय होता । कथोक्ति [ इंद्रि-  
यविषयेषु एव ] इंद्रियके विषयोंमें ही [ मुत्तानि ] सुख मान रहा हे इमत्रिये [ मण-  
णु ] उन्ही विषयोंमें [ पुनः पुनः ] फिर फिर अर्थात् बार बार [ याति ] जाता है ।  
भावार्थ—दैन्यगण वाम ज्ञानेद ममासीभावरूप महीन्द्रियगुणमें रहित जो यह संसारकी  
लंब हे उन्हा मन अनादिवातकी अविषयी वामनामें वाम रहा हे इमत्रिये वने-  
न्द्रियके विषयगुणोंमें आसक्त हे इन वानके जीवोंका मन बारबार विषयगुणोंमें आस-  
क्त हे लो- निजशुद्धात्मानमें नही रहता हे इमत्रिये ध्यानकी गति विषम ( कठिन )  
हे ॥ २६७ ॥

सो इत्यादि । सो जोड़त म योगी ध्यानी भण्यते । यः किं करोति । जो जोगवहं  
 यः कर्ता प्रतिपालयति रक्षति । किं । दंसणु णाणु चरित्तु निजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्प्रदान-  
 ज्ञानानुचरणरूपं निश्चयरत्नत्रयं । किं कृत्वा । होयवि भूत्वा । कथंभूतं । बाहिरउ  
 वाहः । केभ्यः । पंचहं परमेष्टिभावनाप्रतिपक्षभूतेभ्यः पंचमगतिमुग्गविनाशकेभ्यः  
 पंचेंद्रियेभ्यः । किं कुर्वाणः । ज्ञापंतउ ध्यायन् सन् । कं । परमत्तु परमार्थशब्दवाच्यं  
 विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परमात्मानमिति तात्पर्यं । योगशब्दमार्थः कथ्यते—‘युज’  
 समाधौ धातुरिति निष्पन्नेन योगशब्देन वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकृत्यते । अयनानंतज्ञाना-  
 दिरूपे स्वशुद्धात्मनि योजनं परिणमनं योगः स इत्थंभूतो योगो यस्यासीति स तु योगी  
 ध्यानी तपोधन इत्यर्थः ॥ २६८ ॥

अथ पंचेंद्रियमुत्सृज्यतित्यत्वं दर्शयति;—

विसयमुहहं पे दिवहडा, पुणु दुक्खवहं परिचाडि ।

सुहउ जीव म वाहि तुहं, अप्पण खंधि कुहाडि ॥ २६९ ॥

विषयमुत्तानि द्वे दिवसके पुनः दुःखानां परिपाटी ।

भांत जीव मा वाहय त्वं आत्मनः स्तंभे कुटारं ॥ २६९ ॥

विसय इत्यादि । विसयमुहहं निर्विषयान्निव्याधीतरागपरमानंदैकम्प्रभावात् परमात्म-  
 मुक्ताप्रतिफलानि विषयमुत्तानि पे दिवहडा दिनद्वयध्यायीनि भवंति पुणु पुनः पञ्चारि-  
 नद्वयानंतरं दुःखरहं परिचाडि आत्ममुग्गवहिसुंघेन विषयासक्तेन जीवेन शान्त्युपाङ्गितानि  
 पापानि तदुदयजनितानां भारकादिदुःखानां परिपाटि प्रत्यावः एवं तात्वा सुहउ जीव

आगे स्वस्वस्थाके वाय जो प्रक्षेपक दोहा दे उसको कहते हैं;—[ स योगी ] वही  
 ध्यानी है [ य ] जो [ पंचभ्यः वाहः ] पंचेंद्रियोंसे बाहर ( अलग ) [ भूत्वा ] होकर  
 [ परमार्थ ] निज परमात्माका [ ध्यायन् ] ध्यान करता हुआ [ दर्शने ज्ञानं चारित्र्यं ]  
 दर्शन ज्ञान चारित्र्यरूपी रत्नत्रयको [ पालयति ] पालता है रक्षा करता है । भावार्थ—  
 जिसके परिणाम निज शुद्धात्मद्रव्यका सम्यक्प्रदान ज्ञान आवरणरूप निश्चयरत्नत्रयके  
 ही लीन हैं, जो पंचमगतिरूपी भोक्षके मुरको विनाश करनेवाली और पंचपरमेष्टियोंकी  
 भावनासे रहित ऐसी पंचेंद्रियोंसे जुदा होगया है वही योगी है । योग शब्दका अर्थ  
 ऐसा है कि अपना मन पेतनमें लगाना वह योग जिसके हो वही योगी है वही  
 ध्यानी है वही तपोधन है वह निःसंदेह जानना ॥ २६८ ॥

आगे पंचेंद्रियोंके मुरको विनाशीक बनाने हैं;—[ विषयमुत्तानि ] विषयोंके हृत्  
 [ द्वे दिवसके ] दो दिनके हैं [ पुनः ] फिर बादमें [ दुःखानां परिपाटी ] ये विरद

हे भ्रान्त जीव म वाहि तुहं मा निश्चिन्तं । कं । कुहाडि कुठारं । क । अप्पणसंधि  
भाल्नीयन्कंधे । अत्रेदं वगारुत्थानं ज्ञात्वा विषयमुत्तं तत्परा वीतरागपरमात्ममुत्ते प स्थित्वा  
निरंतरं भावना कर्तव्येति भावार्थः ॥ २६९ ॥

अध्यात्मभावनार्थं योमौ विद्यमानविषयान् त्यजति तस्य प्रज्ञां करोति;—

संता विमप जु परिहरइ, यलि किञ्जउं हउं तासु ।

सो दइवेण जि मुंडियउ, सीसु सडिहउ जासु ॥ २७० ॥

सतः विषयान् यः परिहरति यत्ति करोमि अहं तस्य ।

स देवेन एव मुंडितः शीघ्रं सत्त्वात् यस्य ॥ २७० ॥

संता इत्यर्थः । संता विमप कडुकविषयवश्यात् किंपाकफलोपमानवत्पूर्वनिदयग-  
त्तुद्वयवशेन संभ्रमणीयवशमंगौरान् विद्यमानविषयान् जो परिहरइ यः परिहरति  
यत्ति किञ्जउं हउं तासु यत्ति पूजां करोमि तस्याहमिति । भीयोगीश्वरेणः शरीरगुणा-  
दुत्थं प्रहरति । विद्यमाने विषययोगे दृष्टान्तात् । सो दइवेण जि मुंडियउ स देवेन  
मुंडितः । स कः । सीसु सडिहउ जासु शिरः सत्त्वात् यथेति । अत्र पूर्वकाले देवागमने  
एव सत्त्वं यत्ति यत्ति एषा भवति सतः पर्ययकेन ज्ञानोपनि एषा भवति सतः पर्ययकेन

एषादिब्रह्मनेवराणाभिगजमणिमुद्रुत्किरणबलापचुंबितपादारविंदजिनधर्मरत्नं दृष्ट्वा च परमा-  
त्मभावनायं केचन विद्यमानविषयत्यागं कुर्वन्ति तद्भावनारत्नानां दानपूजादिकं च कुर्वन्ति  
तत्राभयं प्राप्ति । इदानीं पुनः । “देवागमपरिहीणे कालेनिमयवर्जिते । केवलोत्पत्तिहीने  
सु ह्यप्यत्रधरोन्मते” इति श्लोकव्यतिरेकभ्रमे दुष्प्रमत्ताते यत्कुर्वन्ति तदाभयमिति  
भाषायः ॥ २७० ॥

अथ मनोजये कृते मनीन्द्रियजयः कृतो भवतीति प्रवटयति;—

पंचाहं णायकृ यन्मि करहृ, जेण होंति यस्मि अपण ।

मूल पिणहृह तस्वरहं, अयसहं सुफाहिं पण ॥ २७१ ॥

पंचानां नायकं यत्नं कुरुत येन भवंति वशीनि अन्यानि ।

मूले पिनेष्टे सरवरस्य अपश्यं मुच्यन्ति पर्णानि ॥ २७१ ॥

अर्थात् जिनके संपदा मौजूद है वे सब त्यागकर पीतरागके मार्गको आराधे वे तो  
सत्पुरषोंसे मद्रा ही प्रशंसाके योग्य हैं और जिसके कुछ भी तो सामग्री नहीं है परंतु  
मृष्णासे दुःखी होरहा है अर्थात् जिसके विषय तो विद्यमान नहीं है तौभी अभिलाषी  
है वह मद्रा निच है । जो चतुर्थकालमें तो इस क्षेत्रमें देवोंका आगमन था उनको  
देखकर धर्मकी रुचि होती थी और नानाप्रकारकी ऋद्धियोंके धारी महामुनियोंका  
अतिशय देखकर ज्ञानकी प्राप्ति होती थी तथा अन्य जीवोंको अवधि मनःपर्यय  
केवलज्ञानकी उत्पत्ति देखकर सम्यक्तत्वकी सिद्धि होती थी । जिनके चरणारविंदोंको  
बड़े २ मुकुटधारी राजा नमस्कार करते हैं ऐसे बड़े २ राजाओंकर सेवनीक भरत  
सगर राम पांडवादि अनेक चक्रवर्ति बलमद्र नारायण तथा मंडलीकराजाओंको जिनधर्ममें  
लीन देखकर भव्य जीवोंको जिनधर्मकी रुचि उपजती थी तब परमात्मभावनाकेलिये  
विद्यमान विषयोंका त्याग करते थे । और जबतक गृहस्वप्नेमें रहते थे तबनरु  
दानपूजादि शुभ क्रियायें करते थे चारप्रकारके सपकी सेवा करते थे । इसलिये पहले  
समयमें तो ज्ञानोत्पत्तिके अनेक कारण थे ज्ञान उत्पन्न होनेका अचंभा नहीं था ।  
लेकिन अब इस पंचमकालमें इतनी सामग्री नहीं है । ऐसा कहा भी है कि इस  
पंचमकालमें देवोंका आगमन तो बंद होगयाहै और कोई अतिशय नहीं देखा जाता ।  
यह काल धर्मके अतिशयसे रहित है और केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे रहित है तथा  
हलधर चक्रवर्ती आदि शालाका पुरषोंसे रहित है ऐसे दुःपमकालमें जो भव्य जीव  
धर्मको धारण करते हैं यती श्रावकके मत आचरते हैं यह अचंभा है । ये पुरुष धन्य  
हैं सदा प्रशंसा योग्य हैं ॥ २७० ॥

आगे मनके जीतनेसे इंद्रियोंका जय होता है जिसने मनको जीता उसने सन

पंचहं इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । पंचहं पंचज्ञानप्रतिपन्नभूतानां पंचेंद्रियाणां णायकु रागादिविकल्परहितपरमात्मभावनाप्रतिकूलं दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपप्रभृतिसमस्त्वापध्यानजनितविकल्पजालरूपं मनो नायकं हे भव्याः वसि करहु विशिष्ट-भेदभावनाकुशलेन स्वाधीनं कुरुत । येन स्वाधीनेन किं भवति । जेण हुंति वसि अण्णा येन वशीकृतेनान्यानीन्द्रियाणि वशीभवन्ति । दृष्टांतमाह । मूल विणद्वइ तरुवरहं मूले विनष्टे तरोरुश्रस्य अवसइं मुक्काहि पण्ण अवश्यं नियमेन शुष्यंति पर्णानि इति । अयमत्र भावार्थः । निजशुद्धात्मतत्त्वभावनार्थं येन केनचित्प्रकारेण मनोजयः कर्तव्यः तस्मिन् कृते जितेंद्रियो भवति । तथा चोक्तं । “येनोपायेन शक्येत सन्नियंतुं चलं मनः । स एवोपाय-नीयोत्र न चैव विरमे ततः” ॥ २७१ ॥

अथ हे जीव विषयासक्तः सन् कियंतं कालं गमिष्यसीति संशोधयति;—

विषयासत्ताउ जीव तुहं, किञ्चित् कालु गमीसि ।

सिधुसंगमु करि णिच्चलउ, अवसिं मुक्खु लहीसि ॥ २७२ ॥

विषयासक्तः जीव त्वं कियंतं कालं गमिष्यसि ।

शिवसंगमं कुरु निश्चलं अवश्यं मोक्षं लभसे ॥ २७२ ॥

इन्द्रियोको जीतलिया ऐसा व्याख्यान करते हैं;—[ पंचानां नायकं ] पांच इंद्रियोंके स्वामी मनको [ वशं कुरुत ] तुम वशमें करो [ येन ] जिस मनके वश होनेसे [ अन्यानि वशीनि भवन्ति ] अन्य पांच इंद्रियें वशमें हो जाती हैं । जैसे कि [ तरुवरस्य ] वृक्षकी [ मूले विनष्टे ] जड़के नाश होजानेसे [ पर्णानि ] पत्ते [ अवश्यं शुष्यंति ] निश्चयसे सूख जाते हैं । भावार्थ—पांचवां ज्ञान जो केवलज्ञान उससे परानुस स्वर्ग रमना प्राण चक्षु श्रोत्र इन पांच इंद्रियोंका स्वामी मन है जो कि रागादि विकल्परहित परमात्माकी भावनासे विमुक्त और देरो मुने भोगे हुए भोगोंकी बांछा रूप आर्त रौद्र सोटे ध्यानोको आदि लेकर अनेक विकल्पवाडमदे मन है । ऐसा यह पंचजनरूपी हथी उमको भेद विज्ञानकी भावनारूप अंकुशके बलसे वशमें करो अपने आधीन करो । जिसके वश करनेसे सब इंद्रियें वशमें होसकती हैं जैसे जड़के टूट जानेसे वृक्षके पत्ते धाव ही सूख जाते हैं । इसलिये निज शुद्धात्मकी भावनाकेलिये जिग जिग तरह तरहकी जीतना चाहिये । ऐसा ही अन्य जगह भी कहा है कि, जिस उपायमें पंचजन मन वश होमके वही उपाय मर्यादा स्वीकार करना चाहिये उम उपायमें उदास नहीं होना । जगज्जमें उदास होकर मन जीतनेका उपाय करना ॥ २७१ ॥

अथे उच्यते उपदेश देते हैं कि हे जीव तू विषयोंमें लीन होकर अनंतकाल तक

विषय इत्यादि । विषयामण्ड शुद्धात्मभावनोत्पत्तरागपरमानन्दम्बन्दिपारमार्थिक-  
शुद्धानुभवरहितत्वेन विषयागमो भूया जीव हे अज्ञानजीव तुहं त्वं किञ्चित् काल  
गमिष्यसि किपंतं फालं गमिष्यसि बहिर्मुखभावेन गयसि । तर्हि किं करोमीति प्रत्युत्तरमाह ।  
शिवसंगम क्वरि निश्चलत्वाच्यो योगो केवलज्ञानदर्शनस्वभावस्वीयशुद्धात्मा तत्र संगमं  
गमयं कुरु । बंधभूतं । निश्चलउ घोरोपसर्गपरीपहप्रज्ञावेपि मेरुवन्निभ्रलं तेन निश्चलात्म-  
ध्यानं अवसद् मुखरु लहीसि नियमेनानंतज्ञानादिगुणास्पदं मोक्षं लभसे त्वमिति  
तापर्यम् ॥ २७२ ॥

अथ निश्चलत्वाच्यशुद्धात्मसंगमोत्तरागं मा कार्पांस्त्वमिति पुनरपि संबोधयति;—

इह सिवसंगमु परिहरिषि, शुक्वड कर्हि वि म जाहि ।

जे शिवसंगमि लीण णवि इक्खु सहंता वाहि ॥ २७३ ॥

इमं शिवसंगमं परिहृत्य गुरुवर कापि मा गच्छ ।

ये शिवसंगमे लीना नैव दुःखं सहमानाः पश्य ॥ २७३ ॥

इह इत्यादि । इह इमं प्रत्यक्षीभूतं शिवसंगमं शिवसंसर्गं शिवशब्दाच्योऽनंतज्ञानादि-  
स्वभावः स्वशुद्धात्मा तस्य रागादिरहितं संबंधं परिहरिषि परिहृत्य स्वतया गुरुवड हे  
तपोधन कर्हि वि म जाहि शुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूते मिथ्यास्वरागादौ कापि गमनं

तो मोक्षका साधन कर ऐसा संबोधन करते हैं;—[ जीव ] हे अज्ञानी जीव [ त्वं ] तू  
[ विषयासक्तः ] विषयोमें आसक्त होके [ किपंतं फालं ] कितना काल [ गमिष्यसि ]  
विषयागम [ शिवसंगमं ] अथ तो शुद्धात्माका अनुभव [ निश्चलं ] निश्चलरूप [ कुरु ]  
कर, जिससे कि [ अवश्यं ] अवश्य [ मोक्षं ] मोक्षको [ लभसे ] पावेगा । भावार्थ—  
हे अज्ञानी तू शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परम आनंदरूप अग्निनाशी सुखके  
अनुभवसे रहित हुआ विषयोमें लीन होकर कितने कालतक भटकेगा । पहले तो  
अनंतकाल तक भ्रमा अथ भी भ्रमणसे नहीं थका सो बहिर्मुखपरिणामकरके कब तक  
भटकेगा । अथ तो केवलज्ञान दर्शनरूप अपने शुद्धात्माका अनुभवकर निज भावोंका  
संबंध कर । घोर उपसर्ग और बार्हस परीसटकी उत्पत्तिमें भी सुमेरुके समान निश्चल जो  
आत्मध्यान उसको धारण कर । उसके प्रसादसे निःसंदेह मोक्ष पावेगा । जो मोक्ष  
पदार्थ अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनंत सुख अनंत वीर्योदि अनंत गुणोंका ठिकाना है  
सो विषयके त्यागसे अवश्य मोक्ष पावेगा ॥ २७२ ॥

आगे निजस्वरूपका संसर्ग तू मत छोड़ै निजस्वरूप ही उपादेय है ऐसा ही बार २  
उपदेश करते हैं;—[ गुरुवर ] हे तपोधन [ शिवसंगं ] आत्मकल्याणको [ परिहृत्य ]  
छोडकर [ कापि ] तू कही भी [ मा गच्छ ] मत जा [ ये ] जो कोई अज्ञानी जीव



मा कार्याः जै शिवसंगमु लीण णधि ये केचन विषयकपायाधीनतया शिवशब्दवाच्ये स्वशुद्धात्मनि लीनास्त्वया न भवन्ति दुःखसु सहंता वाहि व्याकुलत्वलक्षणं दुःखं सहमानास्तंतः पश्येति । अत्र स्वकीयदेहे निश्चयनयेन तिष्ठति योसौ केवलज्ञानाद्यनंतगुणमहितः परमात्मा स एव शिवशब्दत्वेन सर्वत्र ज्ञातव्यो नान्यः कोपि शिवनामा व्याप्येको जगत्कर्तेति भावार्थः ॥ २७३ ॥

अथ सम्यक्त्वदुर्लभत्वं दर्शयति;—

कालु अणाइ अणाइ जिउ, भवसायरुवि अणंतु ।

जीविं विण्णि ण पत्ताइं, जिणु सामिउ सम्मत्तु ॥ २७४ ॥

कालः अनादिः अनादिः जीवः भवसागरोपि अनंतः ।

जीवेन द्वे न प्राप्ते जिनः स्वामी सम्यक्त्वं ॥ २७४ ॥

कालु श्यादि । कालु अणाइ गलकालो अनादिः अणाइ जिउ जीवोयनादिः भवसायरुवि अणंतु भवः संसारम्म एव समुद्रः सोप्यनादिरनंतश्च जीविं विण्णि ण पत्ताइं एवमनादिकाले मिथ्यात्वरागाधीनतया निजशुद्धात्मभावनाच्युतेन जीवेन द्वयं न लभ्यं । द्वयं किं । जिणु सामिउं सम्मत्तु अनंतज्ञानादिचतुष्टयसहितः शुभायष्टादशोप-

[ शिवसंगमे ] निजभावमें [ नैव लीनाः ] नहीं लीन होते हैं वे सब [ दुःखं ] दुःखको [ गहमानाः ] सहते हैं ऐसा तू [ पश्य ] देख । भावार्थ—यह आत्मकल्याण प्रत्यक्षमें संसार सागरके तीरनेका उपाय है उसको छोड़कर है तपोपन तू शुद्धात्माकी भावनाके क्षण जो मिथ्यात्वरागादि हैं उनमें कभी गमन मत कर केवल आत्मस्वरूपमें गमन रह । जो कोई अज्ञानी विषयकपायके वश होकर शिवमगन ( निजभाव ) में लीन नहीं रहने उनको व्याकुलत्वात् दुःख भववनमें सहता देख । संगारी जीव सभी व्याकुल हैं दुःख रूप हैं कोई सुखी नहीं है एक शिवपद ही परम आनंदका धाम है । जो अपने स्वभावमें निश्चयनकर टहरनेवाला केवल ज्ञानादि अनंतगुण महित परमात्मा उसीका नाम शिव है ऐसा सब जगह जानना । अथवा शिवांगका नाम शिव है अन्य कोई शिव नामका पदार्थ नहीं है, ऐसा कि नैवाधिक वैशेषिकोंने जगतका कला हलां कोई शिव माना है ऐसा तू मत माने । तू अपने स्वयको अथवा केवलजनिपेको अथवा मोक्षपदको शिव समझ । वही ही शिवमगनकी प्राप्ति है ॥ २७३ ॥

अथ सम्यक्त्वदुर्लभत्वं दर्शयति;— [ कालः अनदिः ] काल भी अनदि है [ जीवो अनदिः ] जीव भी अनदि है जो [ भवसागरादि ] समुद्र भी [ जिणु सामिउं सम्मत्तु ] अनंतज्ञानादिचतुष्टयसहितः शुभायष्टादशोप-

रहितो जिनस्वामी परमाराध्यः । “सिबसंगमु सम्मत्तु” इति पाठांतरे न एव निब-  
 शब्दवाच्यो न पान्यः पुरुषविशेषः । सम्यक्सत्त्वान्देन तु निश्चयेन शुद्धात्मातुभूतिलभनं  
 वीतरागसम्यक्सत्त्वं व्यवहारेण तु वीतरागमवैशंप्रणीतसद्ब्रह्म्यादिभद्धानरूपं सरागमसम्यक्सत्त्वं  
 चेति भावार्थः ॥ २७४ ॥

जिनराज स्वामी और सम्यक्सत्त्व [द्वे] ये दो [न प्राप्ते] नहीं पाये । भावार्थ—  
 फल जीव संसार ये तीनों अनादि हैं उगने अनादिकालसे भटकते हुए हम जीवने  
 मिथ्यात्वरागादिकके बंध होकर शुद्धारमस्वरूप अपना न देखा न जाना । यह मंगारी  
 जीव अनादिकालसे आत्मज्ञानकी भावनासे रहित है । इस जीवने स्वयं गरक राग्यादि  
 सब पाये परंतु ये दो वस्तु न मिली एक तो सम्यग्दर्शन न पाया दूसरे श्रीजिनराज  
 स्वामी न पाया । यह जीव अनादिका मिथ्यादृष्टि है और शुद्ध देवोंका उपासक है ।  
 श्रीजिनराज भगवानकी भक्ति इसके कभी नहीं हुई अन्य देवोंका उपासक हुआ  
 सम्यग्दर्शन नहीं हुआ । यहां कोई प्रश्न करे कि अनादिका मिथ्यादृष्टि होनेसे सम्यक्सत्त्व  
 नहीं उत्पन्न हुआ यह तो ठीक है परंतु जिनराजस्वामी न पाये ऐसा नहीं होमक  
 क्योंकि “भवि भवि जिण पुञ्जिउ गुरु वंदिउ” ऐसा शास्त्रका वचन है अर्थात् भव भवने  
 इस जीवने जिनवर पूजे और गुरु वंदे । परंतु तुम कहते हो कि इस जीवने भवभवनमें  
 भ्रमते जिनराजस्वामी नहीं पाये ॥ उसका समाधान ॥ जो भावभक्ति इसके कभी न  
 हुई भावभक्ति तो सम्यग्दृष्टीकी ही होती है और बाह्यौनिक भक्ति इसके मंगारव  
 प्रयोजनकेलिये हुई यह गिनतीमें नहीं । ऊपरकी सचवात निःसार (बोधी) है भाव  
 ही कारण होते है सो भावभक्ति मिथ्यादृष्टिके नहीं होती । ज्ञानी जीव ही जिनराजके  
 दास है सो सम्यक्सत्त्व निना भावभक्तिके अभावसे जिनस्वामी नहीं पाया इसने सादे  
 नहीं है । जो जिनवर स्वामीकी पाते सो उसीके समान होने ऊपरकी लोचनिस्य स्वरूप  
 भक्ति हुई तो विग कामकी, यह जानना । अब श्री जिनदेवका और सम्यग्दर्शनका  
 स्वरूप तुमो । अनंत ज्ञानादि चतुष्टय सहित और शुभादि अष्टारह दोष रहित है ये  
 जिनस्वामी हैं ये ही परम आराधने योग्य है तथा शुद्धारमस्वरूप निश्चयसम्यक्सत्त्व  
 (वीतराग सम्यक्सत्त्व) अथवा वीतराग सर्वशुद्धके उपदेशो हुए यह हम सात लक्ष हैं,  
 पशार्थ और पांच अस्त्रिकाय उनका ब्रह्मरूप सराग सम्यक्सत्त्व ये निश्चय ब्रह्मरूप हो  
 प्रकारका सम्यक्सत्त्व है । निश्चयका नाम वीतराग है ब्रह्मरूपका नाम सराग है । यह सो  
 भीये पदका यह अर्थ है और दूसरे ऐसा पाठ है “सिबसंगमु सम्मत्तु” इसका अर्थ देने  
 है कि सिब जो श्री जिनदेव उनका संगम अर्थात् भावभजन इस अर्थक होती हुआ  
 और सम्यक्सत्त्व नहीं उत्पन्न हुआ । सम्यक्सत्त्व होने तो परमात्मका श्री परब्रह्म होने ॥ २७५ ॥

अथ शुद्धात्मसंवित्तिमाधकतपश्चरणप्रतिपन्नभूतं गृहवासं दूषयति;—  
 घरवासउ मा जाणि जिय, दुक्कियवासउ एहु ।

पासु कयंतं मंडियउ, अविचलु णिस्संदेहु ॥ २७५ ॥  
 गृहवासं मा जानीहि जीव दुष्कृतवास एषः ।  
 पाशः कृतातेन मंडितः अविचलः निस्संदेहं ॥ २७५ ॥

पर वासउ इत्यादि । घरवासउ गृहवासं अत्र गृहजन्मेन वाममुद्ध्यभूता स्त्री प्राज्ञा ।  
 तथाचोक्तं । “न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते” । मा जाणि जिय हे जीव त्वमात्म-  
 हितं मा जानीहि । कथंभूतो गृहवामः । दुक्कियवामउ एहु समस्तदुःकृतानां पापानां  
 वामः स्थानमेवः पासु कयंतं मंडियउ अज्ञानिजीवबंधनार्थं पाशो मंडितः । केन ।  
 कृतांतनाम्ना कर्मणा । कथंभूतं । अविचलु शुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिपन्नभूतेन मोहबंधनेना-  
 बंधत्वादचलः णिस्संदेहु संदेहो न कर्तव्य इति । अयमत्र भावार्थः । विशुद्धज्ञानदर्शनस्व-  
 भावपरमात्मपदार्थभावनाप्रतिपन्नभूतैः कपाथेन्द्रियैः व्याकुलीक्रियते मनः मनःशुद्धपभावे  
 गृहस्थानां तपोधनवन् शुद्धात्मभावना कर्तुं नायातीति । तथा चोक्तं । “कपाथैरिन्द्रियैर्दुष्टैः  
 व्याकुलीक्रियते मनः । यतः कर्तुं न शक्येत भावना गृहमेधिनिः” ॥ २७५ ॥

आगे शुद्धात्मज्ञानका साधक जो तपश्चरण उसके शत्रुरूप गृहवासको दोष देते  
 हैं;—[ जीव ] हे जीव तू इसको [ गृहवासं ] पर वाम [ मा जानीहि ] मत  
 जाने [ एषः ] यह [ दुष्कृतवासः ] पापका निवासस्थान है [ कृतातेन ] यमराजने  
 (कालने) अज्ञानी जीवोंको बाधनेकेलिये यह [ पासुः मंडितः ] अनेक फांशोंसे  
 मंडित [ अविचलं ] बहुत मजबूत बंदीबाना बनाया है इसमें [ निस्संदेहं ] संदेह  
 नहीं है । भावार्थ—यहां पर शब्दमे मुख्यरूप स्त्री जानना स्त्री ही परका मूल है  
 स्त्री विना गृह वास नहीं कहलाता । ऐसा ही दूसरे शास्त्रोंमें भी कहा है कि परको  
 मत जानो स्त्री ही पर है जिन पुरुषोंने स्त्रीका त्याग किया उन्होंने परका त्याग  
 किया । यह पर मोहके बंधनकर अनि दृष्ट बना हुआ है इसमें संदेह नहीं है । यहाँ  
 पर्यं ऐसा है कि शुद्धात्म ज्ञान दर्शन गृह भावरूप जो परमान्म पदार्थ उसकी  
 नामे विमुख जो उपपद्य कपाय है उनमें यह मन व्याकुल होना है । इसलिये  
 नामे विमुक्त विना शुद्धात्म ज्ञान दर्शन गृह भावरूप ज्ञान नहीं होना । इसकारण  
 नामे विमुक्त विना शुद्धात्म ज्ञान दर्शन गृह भावरूप मन व्याकुल होना है । इसलिये  
 नामे विमुक्त विना शुद्धात्म ज्ञान दर्शन गृह भावरूप मन व्याकुल होना है । इसलिये

अथ गृहममत्वत्यागानंतरं देहममत्वत्यागं दर्शयति,—

३) देहोऽपि जित्तु ण अप्पणउ, तहिं अप्पणउ किं अण्णु ।

परकारणि मण सुख तुहं, सिवसंगमु अवगण्णु ॥ २७६ ॥

देहोऽपि यत्र नात्मीयः सत्रात्मीयः किमन्ये ।

परकारणे मा सुख त्वं शिवसंगमं अवगण्य ॥ २७६ ॥

देहोऽपि इत्यादि । देहोऽपि जित्तु ण अप्पणउं देहोऽपि यत्र नात्मीयः तहिं अप्पणउ किं अण्णु सत्रात्मीयः किमन्ये पदार्था भवन्ति किं तु नैव । एवं ज्ञात्वा परकारणि परम्व देहस्य बहिर्भूतस्य श्रीवत्साभरणोपकरणादिपरिमहनिमित्तेन मण सुख तुहं सिवसंगमु अवगण्णु हे तपोधन शिवसादृश्याद्यगुह्यात्मभावनात्यागं मा कारीरिति । तथादि । अमूर्तेन वीतरागस्यभावेन निजगुह्यात्मना सह व्यवहारेण क्षीरनीरवदेकीभूत्वा निष्ठिति योगी देहः सोऽपि जीवस्वरूपं न भवति इति ज्ञात्वा बहिःपदार्थं ममत्वं त्यक्त्वा गुह्यात्मानुभूतिवशात् वीतरागनिर्विकल्पममाधी स्थित्वा च सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येतिप्रमाणः ॥ २७६ ॥

अथ तमेवार्थं पुनरपि प्रकारांतरेण ध्यायति करोति,—

करि सिवसंगमु एह पर, जहिं पाधिअह सुखणु ।

जोइय अण्णु म चिंति तुहं, जेण ण लब्धइ सुररु ॥ २७७ ॥

तुरु शिवसंगमं एकं परं यत्र प्राप्यते सुखं ।

योगिन् अन्धं मा चिंतय त्वं येन न लभ्यते मोक्षः ॥ २७७ ॥

करि इत्यादि । करि कुरु । कं । सिवसंगमु शिवसादृश्याद्यगुह्यैकस्यभावनिष्ठा-

वागे परकी ममता गुह्याकर शरीरका ममत्वं गुह्याने हे,—[ यत्र ] शिव संगमो [ देहोऽपि ] शरीर भी [ आत्मीयः न ] अपना नहीं है [ तत्र ] उभय [ अन्धे ] अन्ध [ आत्मीयः किं ] कौन अपना होसकता है [ त्वं ] इसकारण तु [ सिवसंगमं ] मोक्षका संगम [ अवगण्य ] छोड़कर [ परकारणे ] पुत्र की दम आशुषन आदि उपकरणोंमें [ मा सुख ] ममत्व गत कर । भावार्थ—अमूर्त वीतराग भावकत्व जे निजगुह्यात्मा उससे व्यवहार नयकर दूधपानीकी तरह यह देह एकनेक हो रहा है ऐसा देह, जीवका स्वरूप नहीं है तो पुत्र बलप्रादि धन धान्यादि अपने विम तरह हो सकेंगे । ऐसा जानकर बाह्यपदार्थोंमें मगता छोड़कर गुह्यात्माकी अनुभूतिवश जे वीतराग निर्विकल्प समाधि उतमें टहर कर सब प्रकारसे गुह्योदधीयका भावना करनी चाहिये ॥ २७६ ॥

आगे शरी अर्थको फिर भी दूसरी तरह प्रगट करने है,—[ योगिन् ] हे योगी दंस [ त्वं ] तु [ एकं शिवसंगमं ] एक निजगुह्यात्माकी ही भवना [ परं ] बंध

बालभावनासंमर्गं तद्गु पर तमेवैकं जहिं पाविजइ मोरगु यम मनुष्यजन्मं प्राप्यते । किं । अक्षयानंतमुर्गं जोइय अण्णु म चिंति हुइं हे योगिन समवतान्तिं मा कार्पांत्वं जेण ण लब्भइ येन कारणेण वहिंशिनया न लभ्यते । बोनीइतु मव्यावाधमुत्तारिलक्षणो मोश इति तात्पर्यं ॥ २७७ ॥

अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनारहितं मनुष्यजन्म निम्मारमिति निश्चिनोति;—

बलि किउ साणुसजम्मडा, देखंतहं पर सारु ।

जइ उट्टम्भइ तो कुहइ, अह उज्झइ तो छारु ॥ २७८ ॥

बलिः क्रियते मनुष्यजन्म पश्यतां परं सारं ।

यदि अवष्टभ्यते ततः कुत्सयते अथ दहते तर्हि क्षारः ॥ २७८ ॥

बलि किउ इत्यादि । बलि किउ बलिः क्रियते मस्तकस्योपरितनमागेनावनारणं क्रियते । किं । साणुसजम्मडा मनुष्यजन्म । किं विशिष्टं । देखंतहं पर सारु वहिंशेणैव कारणेण पश्यतामेव सारभूतं । कस्मान् । जइ उट्टम्भइ तो कुहइ यद्यवष्टभ्यते भूमौ निश्चितं ततः कुत्सितरूपेण परिणमति अह उज्झइ तो छारु अथवा दहते तर्हि मस्तकस्योपरितनमागेनावनारणं तद्यथा । हस्तिशरीरे दंताश्चमरीशरीरे केशा इत्यादि सारत्वं तिर्यक् शरीरे दहते, मनुष्यशरीरे किमपि सारत्वं नास्तीति ज्ञात्वा पुण्यभक्षितेषुदंढवत्परलोकधीजं कृत्वा निम्मारणं सारं क्रियते । कथमिति चेत् । यथा पुण्यभक्षितेषुदंढे वीते कृते सति विशिष्टेभूतं

[ कुर ] कर [ यत्र ] जिसमें कि [ सुखं प्राप्येत ] अतींद्रिय सुख पावै [ अन्यं सा ] अन्य कुछ भी मत [ चिंतय ] चिंतवन कर [ येन ] जिससे कि [ मोक्षः न लभ्यते ] मोक्ष न मिले । भावार्थ—हे जीव तू शुद्धबुद्ध अखंड समाध निज शुद्धात्मका चिंतन कर यदि तू निवर्तन करेगा तो अतींद्रिय सुख पायेगा । जो अनंतसुखको प्राप्त हुए वे केवल आत्मध्यानसे ही प्राप्त हुए दूसरा कोई उपाय नहीं है । इसलिये हे योगी तू मनुष्य कुछ भी चिंतन मत कर परके चिंतनसे अव्यावाध अनंतसुखरूप मोक्षको नहीं पावेगा इसलिये निज स्वरूपका ही चिंतन कर ॥ २७७ ॥

आगे भेदाभेद रत्नत्रयकी भावनासे रहित जीवका मनुष्यजन्म निष्फल है ऐसा कहते हैं;—[ मनुष्यजन्म ] इस मनुष्यजन्मको [ बलिः क्रियते ] मस्तकके ऊपर बार बार हाथे जो कि [ पश्यतां परं सारं ] देखनेमें केवल सार दीसता है [ यदि अवष्टभ्यते ] जो इस मनुष्यदेहको भूमिमें गिरा दिया जावे [ ततः ] तो [ कुत्सयते ] सबकुछ उर्ध्वपक्ष परितनवे [ अथ ] और जो [ दहते ] जलाये [ तर्हि ] तो [ क्षारः ] रास ही बना दे । भावार्थ—इस मनुष्यदेहको जबदूर नपते बाहरमें देखो तो सार प्राप्त

लामो भवति तथा निःसारशरीराधारेण वीतरागमहजानंदैकस्वगुणात्मस्वभावमन्यकृषडा-  
नशानानुचरणरूपनिश्चयरत्नप्रयभावनावलेन तत्साधकव्यवहाररत्नप्रयभावननावलेन स्वर्गाव-  
र्गफलं गृह्यत इति तात्पर्यं ॥ २५८ ॥

अथ देहस्याग्न्युचित्वानित्यत्वादिप्रतिपादनरूपेण व्याख्यानं करोति पदकलेन तथाहि,—

उच्चलि चोप्पडि चिट्ट करि, देहि सुमिहाहार ।

देहहं सयल गिरत्थ गय, जिम्मु दुज्जणि उययार ॥ २७९ ॥

उद्धर्तय प्रक्षय चेष्टां कुरु देहि सुगृहाहारान् ।

देहस्य सकलं निरर्था गताः यथा दुर्जने उपकाराः ॥ २७९ ॥

उच्चलि इत्यादि पदसंज्ञानारूपेण व्याख्यानं क्रियते । उच्चलि उद्धर्तने कुरु चोप्पडि  
तैलादिभक्षणं कुरु चिट्ट करि मंदनरूपां चेष्टां कुरु देहि सुमिहाहार देहि सुगृहा-  
हारान् । कस्य । देहहं देहस्य सयल गिरत्थ गय सकलमपि विनिष्ठाहारदयो निरर्थका  
गताः । केन दृष्टान्तेन । जिम्मु दुज्जणि उययार दुर्जने यथोपकारा इति । तद्वया ।  
यद्यप्ययं कायः खलस्तथापि किमपि मानादिकं दत्त्वा अस्थिरेणापि शिरं मोक्षमाप्त्यं

होता है यदि विचार करो तो कुछ भी सार नहीं है । तिर्यकोके शरीरमें तो कुछ सार  
भी क्षीयता है जैसे हाथीके शरीरमें दांत सार है मुरह गौके शरीरमें बाल सार है  
इत्यादि । परंतु मनुष्यदेहमें सार नहीं है पुणमें स्वाये हुए गलेकी तरह मनुष्यदेहको  
असार जानकर परलोकका बीज करके सार करना चाहिये । जैसे पुणोका स्वाया हुआ  
ईसा किसी कामका नहीं है एक बीजके कामका है सो उसको बोकर असारसे सार बिदा  
जाता है उसी प्रकार मनुष्यदेह किसी कामका नहीं परंतु परलोकका बीजकर असारको  
सार करना चाहिये । इस देहसे परलोक सुधारना ही भेद है । जैसे पुणमें स्वाये मये  
ईसको बोनेसे अनेक ईसोंका लाभ होता है वैसे ही इस असार शरीरके आभारसे  
पीतराग परमानंद गुणात्मस्वभावका सम्यक् ध्यान ज्ञान आचरणरूप निश्चयरत्नप्रयकी  
भावनाके बलसे मोक्ष प्राप्त भी जाती है और निश्चयरत्नप्रयका साधक जो अक्षर  
रत्नप्रय उसकी भावनाके बलसे स्वर्ग मिलता है तथा परंपरासे मोक्ष होती है । यह मनु-  
ष्यशरीर परलोक सुधारनेकेलिये होवे तभी सार है नहीं तो सर्वथा असार है ॥ २७८ ॥

आगे देहको अग्न्युचि अनित्य आदि दिखानेका यह मायाभोगे व्याख्यान करने है,—  
[ देहस्य ] इस देहका [ उद्धर्तय ] उचटना करो [ प्रक्षय ] तैलदिक्का मंदन करो  
[ चेष्टां कुरु ] गूंगार आदिसे अनेक प्रकार सजाओ [ सुगृहाहारान् ] अच्छे २ निद  
आहार [ देहि ] दे लेविन [ सकलं ] ये सब [ निरर्था गताः ] सब व्यर्थ हैं [ दया ]  
जैसे [ दुर्जने ] दुर्जनोंका [ उपकाराः ] उपकार करना इधः है । माहात्म्य—३-

दुष्कसहं इत्यादि । दुःखसहं कारणं वीतरागतात्त्विकानंदरूपान् शुद्धात्ममुखाद्विलभनस्य नारकादिदुःखस्य कारणं मुणिवि मत्वा । क । मणि मनसि । कं । देहुवि देहमणि एहु इमं प्रलक्ष्मीमूतं चयंति देहममत्वं त्यजंति शुद्धात्मनि स्थित्वा जित्पु ण पावहिं यत्र देहे न प्राप्नुवंति । किं । परमगुहु पंचेंद्रियविषयातीतं शुद्धात्मानुभूतिमंपन्नं परममुत्तं तित्पु किं संत वसंति यत्र देहे संतः सत्पुरुषाः किं वसंति शुद्धात्ममुत्तसंतोपं मुक्त्वा तत्र किं रतिं कुर्वंति इति भावार्थः ॥ २८४ ॥

अपान्मायत्तमुत्ते रतिं कुर्विति दर्शयति;—

अप्पायत्ताउ जं जि सुहु, तेण जि करि संतोसु ।

पर सुहु यद चिंतताहं, हियइ ण फिट्ठइ सोसु ॥ २८५ ॥

आत्मायत्तं यदेव गुप्तं तेनैव गुरु संतोषम् ।

परं गुप्तं यत्स चिंतयतां हृदये न नश्यति शोषः ॥ २८५ ॥

अप्पायत्ताउ इत्यादि । अप्पायत्ताउ अन्यद्रव्यनिरपेक्षरतेनात्मापीनं जं जि सुहु यदेव एहात्मसंविज्ञानमुत्तमं गुप्तं तेण जि करि संतोसु तेनैव तरनुभवेनैव संतोपं गुरु पर

सुहृ चढ चिंतताहं इंद्रियाधीनं परमसुखं विलयनं वत्म मित्र हियद् ण किट्टइ सोयु  
हृदये न नश्यति शोषेन्वदाह इति । अत्राध्यात्मरतिस्वाधीनाविच्छेदविमोपरहिता च,  
भोगरतिस्तु पराधीना यद्धेरिधनैरिव समुद्रस्य नदीसहस्रैरिवावृत्तिकरा च । एवं ज्ञात्वा  
भोगसुखं त्यक्त्वा “एदमि रदो णिचं संसुद्धो होदि णिचमेदमि । एदेण होदि निचो सो  
होहदि उत्तमं सुकरं” इति गाथाकथितलक्षणे अध्यात्मसुखे स्थित्वा च भावना कर्तव्येति  
तात्पर्यं । तथा श्लोकं । “त्रिणकट्टेण व अग्गी लवणमसुरो णदीसहस्रमेहिं । ण इमो जीवो  
सको विप्पेदुं कामभोगेहिं” ॥ अध्यात्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते—मिध्यान्वविषयकपायादि-  
घर्हिर्द्रव्ये निरालंबनत्वेनात्मन्यनुष्ठानमध्यात्मं ॥ २८५ ॥

अध्यात्मनो ज्ञानस्वभावं दर्शयति;—

अप्पहं णाणु परिचययि, अणुण ण अत्थि सहाउ ।

इउ जाणेधिणु जोइयहु, परहं म यंधउ राउ ॥ २८६ ॥

आत्मनः ज्ञानं परित्यज्य अन्यो न अस्ति सभाषः ।

इदं ज्ञात्वा योगिन् परस्मिन् मा यथान रागम् ॥ २८६ ॥

उसीमें [ संतोषं ] संतोष [ कुरु ] कर [ परं सुखं ] इंद्रियाधीन सुखको [ चिंतयतां ]  
विलयन करनेवालोंके [ हृदये ] चित्तका [ शोषः ] दाह [ न नश्यति ] नहीं निरता ।  
भावार्थ—आत्माधीन सुख आत्माके जाननेसे उत्पन्न होता है इसलिये नु आत्माके  
अनुभवसे संतोष कर भोगोंकी यांछा करनेसे चित्त शांत नहीं होता । जो अध्यात्मकी  
प्रीति है वह स्वाधीनता है इसमें कोई विषय नहीं है और भोगोंका अनुभव वह पराधी-  
नता है । भोगोंको भोगते कभी तृप्ति नहीं होती । जैसे अग्नि ईंधनसे लुप्त नहीं होती  
और सैकड़ों नदियोंसे समुद्र लुप्त नहीं होता उसीतरह इंद्रियसुखोंसे कभी तृप्ति नहीं  
होती एक आत्मसुखसे ही तृप्ति होती है । ऐसा ही समयसारमें कहा है कि हंम (जैब)  
तू इस आत्मस्वरूपमें ही सदा स्थित हो और सदा इसीमें संसुद्ध हो । इसीमें तू लुप्त  
होगा और इसीसे ही तुझे उत्तम सुखकी प्राप्ति होगी । इस कथनमें अध्यात्मसुखसे  
ठहरकर निजस्वरूपकी भावना करनी चाहिये और कामभोगोंसे कभी तृप्ति नहीं हो  
सकती । ऐसा कहा भी है कि जैसे लुण काठ आदि ईंधनसे अग्नि लुप्त नहीं होती और  
दरारों नदियोंसे लक्षणसमुद्र लुप्त नहीं होता उसीतरह वह जैब काम भोगोंसे लुप्त नहीं  
होता । इसलिये विषयसुखोंको छोड़कर अध्यात्मसुखका सेवन करना चाहिये । आत्म-  
सुखका समुदाय करते हैं—मिध्यान्वविषय कषाय आदि दाह परद्रव्यका अवनश्य  
(सदास) छोड़ना और आत्माने लक्षित होना वह अध्यात्म है ॥ २८५ ॥



अप्पहं इत्यादि । अप्पहं शुद्धात्मनः णाणु परिचयविं वीतरागम्यसंवेदनज्ञानं त्वस्य  
अणु ण अत्थि सहाउ अन्यो ज्ञानाद्धिन्नः स्वभावो नास्मि इउ जाणोविणु इदमात्म-  
शुद्धात्मज्ञानं स्वभावं ज्ञात्वा जोइयहु योगिन् परहं म वंघउ राउ परग्गिन शुद्धात्म-  
विलक्षणं देहे रागादिकं मा कुरु तस्मान् । अत्रात्मनः शुद्धात्मनः शुद्धात्मज्ञानस्वरूपं ज्ञात्वा  
रागादिकं त्यक्त्वा च निरंतरं भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ २८६ ॥

अथ स्वात्मोपलंभनिमित्तं चित्तस्थितिकरणरूपेण परमोपदेशं पंचकलेन दर्शयति;—

विसयकसायहि मण सलिलु, ण वि डहुलिज्जइ जासु ।

अप्पा णिम्मलु होइ लहु, चढ पच्चखु वि तासु ॥ २८७ ॥

विषयकपायैः मनःसलिलं नैव क्षुभ्यते यस्य ।

आत्मा निर्मलो भवति लघु वत्स प्रत्यक्षोपि तस्य ॥ २८७ ॥

विसय इत्यादि । विसयकसायहिं मण सलिलु ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मजलचराकीर्णमं-  
रसागरे निर्बिषयकपायरूपान् शुद्धात्मतत्त्वान् प्रतिपक्षभूतैर्विषयकपायमहावातैर्मनःप्रचुर-  
सलिलं णवि डहुलिज्जइ नैव क्षुभ्यते जासु यस्य भव्यवरपुंडरीकस्य अप्पा णिम्मलु  
होइ लहु आत्मा रत्नविशेषो अनादिकाढरूपमहापाताले पतितः सन् रागादिमलपरिहारेण  
लघु शीघ्रं निर्मलो भवति चढ वत्स । न केवलं निर्मलो भवति पच्चखुवि शुद्धात्मा परम  
इत्युच्यते तस्य परमस्य कला अनुभूतिः परमकला एव दृष्टिः परमकलादृष्टिः तथा परम-

आगे आत्माका ज्ञानस्वभाव दिखलते हैं;—[ आत्मनः ] आत्माका निजस्वभाव  
[ ज्ञानं परित्यज्य ] वीतरागसंवेदन ज्ञानके सिवाय [ अन्यः स्वभावः ] दूसरा स्वभाव  
[ न अस्ति ] नहीं है आत्मा केवलज्ञानस्वभाव है [ इति ज्ञात्वा ] ऐसा जानकर  
[ योगिन् ] है योगी [ परसिन् ] पर वस्तुसे [ रामं ] प्रीति [ मा व्रधान ] मत बाधे  
मतकर । भावार्थ—पर जो शुद्धात्मासे भिन्न देहादिक उनमें राग मतकर आत्माका  
ज्ञानस्वरूप जानकर रागादिक छोडके निरंतर आत्माकी भावना करनी चाहिये ॥ २८६ ॥

आगे आत्माकी प्राप्तिकेलिये चित्तको स्थिर करना ऐसा परम उपदेश श्रीगुरु दित-  
लते हैं;—[ यस्य ] जिसका [ मनःसलिलं ] मनरूपी जल [ विषयकपायैः ] विषय-  
कपायरूप प्रचंडपवनसे [ नैव क्षुभ्यते ] नहीं चलायमान होता है [ तस्य ] उमी भव्य  
जीवका [ आत्मा ] आत्मा [ वत्स ] है वधे [ निर्मलो भवति ] निर्मल होता है और  
[ लघु ] शीघ्र ही [ प्रत्यक्षोपि ] प्रत्यक्ष ही जाना है । भावार्थ—ज्ञानावरणादि अष्ट  
कर्म रूपी जलचर मगरमच्छादि जलके जीव उनमें भग जो ममाग्गाता उनमें विषय-  
कपायरूप प्रचंड पवन जो कि शुद्धात्मनत्त्वमे सदा पगइमुम है उम प्रचंड पवनमें  
जिसका चित्त चलायमान नहीं हुआ उमीका आत्मा निर्मल होता है । आत्मा रत्नके

कलादृष्टया यावदवलोकनं सूक्ष्मनिरीक्षणं तेन प्रत्यक्षोपि स्वसंवेदनमाहोपि भवति । कस्य ।  
तासु यस्य पूर्वोक्तप्रकारेण निर्मलं मनस्तस्येति भावार्थः ॥ २८७ ॥

अथ;—

अप्पा परह्ण मेलयउ, मणु मारियि सहसत्ति ।

सो वढ जोएं किं करह्, जासु ण एही सत्ति ॥ २८८ ॥

आत्मा परस्य न मेलितः मनो मारयित्वा सहसेति ।

स वत्स योगेन किं करोति यस्य न ईदृशी शक्तिः ॥ २८८ ॥

अप्पा इत्यादि । अप्पा अयं प्रत्यक्षीभूतः सविकल्प आत्मा परहं ग्यातिपूजात्प्रभ्रमभू-  
तिममस्तमनोरथरूपविकल्पजालरहितस्य विशुद्धज्ञानदर्शनम्यभावस्य परमात्मनः ण मेल-  
यिउ न योजितः । किं कृत्वा । मणु मारियि मिथ्यास्वविषयकपायादिविकल्पमनू-  
परिणतं मनो बीतरागनिर्विकल्पसमाधिदग्धेण मारयित्वा सहसत्ति इति मी सो वढ जोएं  
किं करह् स पुरुषः वत्स योगेन किं करोति । स कः । जासु ण एही मति यन्वेदसी  
मनोमारणप्रतिर्नासीति तात्पर्यम् ॥ २८८ ॥

समान है अनादिकालका अज्ञानरूपी पातालमें पड़ा है सो रागादिमलके छोड़नेमें शीघ्र ही  
निर्मल हो जाता है हे वधे आत्मा उन भय्य जीवोंका निर्मल होता है और प्रत्यक्ष उनको  
आत्माका दर्शन होता है । परमकल्या जो आत्माकी अनुगृहि बही हुई निश्चयदृष्टि उममें  
आत्मस्वरूपका अवलोकन होता है । आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान करके ही ग्रहण करने योग्य  
है । जिसका मन विषयसे खंचल न हो उसीको आत्माका दर्शन होता है ॥ २८७ ॥

आगे यह कहते हैं कि जिसने शीघ्र ही मनको बसकर आत्माको परमात्मामें नहीं  
मिलाया जिसमें ऐसी शक्ति नहीं है वह योगसे क्या करसकता है कुछ भी नहीं करस-  
कता;—[ सहसा मनो मारयित्वा ] जिसने शीघ्र ही मनको बसमें बरके [ आत्मा ]  
यह आत्मा [ परस्य न मेलितः ] परमात्मामें नहीं मिलाया [ वत्स ] हे तिम्य [ यस्य ]  
जिसकी [ ईदृशी ] ऐसी [ शक्तिः ] शक्ति [ न ] नहीं है [ सः ] वह [ योगेन ]  
योगसे [ किं करोति ] क्या करसकता है । भावार्थः—यह प्रत्यक्षरूप मगर्गी जीव  
विकल्पसहित है दग्धा जिसकी उसको समस्त विकल्पजाल रहित निर्मल ज्ञान दर्शन  
स्वभाव परमात्मामें नहीं मिलाया । मिथ्यास्व विषय कथायादि विकल्पोंके समूहपर परि-  
णत हुआ जो मन उसको बीतराग निर्विकल्पसमाधिरूपसामने शीघ्र ही मारकर  
आत्माको परमात्मामें नहीं मिलाया वह योगी योगसे क्या करसकता है कुछ भी नहीं  
करसकता । जिसमें मन मारनेकी शक्ति नहीं है वह योगी कैसे । योगी तो उमें कहते  
हैं कि जो बहार्द, पूजा ( अपनी मदिमा ) और लाभ आदि सब मनोरथरूप विकल्पज-

द्वयेनोत्पन्नरागादिविकल्पजालः तडत्ति इदिति तर्हि तत्र बहिर्योधशून्ये निर्विकल्पममाधौ मणु मनः 'पूर्वांकरागादिविकल्पाधारभूतं तन्मयं वा अत्यवणहं जाइ अस्तं विनासं गच्छति स्वस्वभावेन तिष्ठति इति । अत्र यदायं जीवो रागादिपरभावशून्यनिर्विकल्पममाधौ तिष्ठति तदायमुच्छ्वासरूपो वायुर्नासिकाछिद्रद्वयं वर्जयित्वा स्वयमेवानीहितवृत्त्या तालुप्रदेशे यत् केशात् शैपाष्टमभागप्रमाणं छिद्रं तिष्ठति तेन क्षणमात्रं दशमद्वारेण तदनंतरं क्षणमात्रं नासिकया तदनंतरं कृत्वा रंभेण निर्गच्छतीति । न च परकल्पितवायुधारणारूपेण श्वामनाशो ग्राह्यः । कस्मादिति चेत् । वायुधारणा तावद्दीहापूर्विका ईहा च मोहकार्यरूपो विकल्परः । स च मोहकारणं न भवतीति इति न च परकल्पितवायुः । किं च । कुंभक-पूरकरेचकादिसंज्ञा वायुधारणा क्षणमात्रं भवत्येवात्र किं तु अभ्यासवशेन घटिकाप्रहरदिवसादिष्वपि भवति तस्य वायुधारणस्य च कार्यं देहारोगत्वलयुत्वादिकं न च मुक्तिरिति । यदि मुक्तिरपि भवति तर्हि वायुधारणाकारकाणामिदानींननपुरुपाणां मोक्षो किं न भवतीति भावार्थः ॥ २९३ ॥

[ अस्तं याति ] सिर होजाता है । भावार्थ—नासिकासे निकले जो श्वासोच्छ्वास हैं वे अंतर अर्थात् आकाश समान निर्मल मिथ्यात्वविकल्पजालरहित शुद्धभावोंमें विलीन हो जाते हैं अर्थात् तत्त्वस्वरूप परमानंदकर पूर्ण निर्विकल्पसमाधिमें सिर चित्त हो जाता है तब श्वासोच्छ्वासरूप पवन रुक जाती है नासिकाके द्वारको छोड़कर तालुवारंभरूपी दशवें द्वारमें होके निकले तब मोह दृष्टता है उसी समय मोहके उदयकर उत्पन्न हुए रागादिविकल्पजाल नाश हो जाते हैं बाह्य ज्ञानसे शून्य निर्विकल्पसमाधिमें विकल्पोंका आधारभूत जो मन वह अस्त हो जाता है अर्थात् निज स्वभावमें मनकी चंचलता नहीं रहती । जब यह जीव रागादि परभावोंसे शून्य निर्विकल्प समाधिमें होता है तब यह श्वासोच्छ्वासरूप पवन नासिकाके दोनों छिद्रोंको छोड़कर स्वयमेव अवांठीक वृत्तिसे तालु-वाके बालकी अनीके आठवें भाग प्रमाण अति सूक्ष्म छिद्रमें ( दशवें द्वारमें ) होकर बारीक निकलती है नासाके छेदको छोड़कर तालुवंभमें ( छेदमें ) होकर निकलती है । और पानंजलमत्तवाले वायुधारणारूप श्वासोच्छ्वास मानते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि वायुधारणा बाष्पपूर्वक होती है और बाष्प है वह मोहसे उत्पन्न विकल्परूप है बाष्पका कारण मोह है । वह मयगीके वायुका निरोध बाष्पपूर्वक नहीं होता है श्वासाविक ही होता है । त्रिनशामनमें ऐसा कहा है कि कुंभक (पवनको रोकना) पूरक (पवनको धांभना) रेचक (पवनको निकालना) ये तीन भेद प्राणायामके हैं इमीको वायुधारणा कहते हैं । यह ध्यानत्र होनी है परंतु अभ्यासके वशमें घड़ी पहर दिवस आदिनक भी होनी है । उस वायुधारणाका फल ऐसा कहा है कि देहकी आंगणों को ही देहके मय गेय गिर

अथ;—

मोहो विलिख्यते मणु मरइ, तुष्टइ सासुणिमासु ।

केवलगणानुवि परिणमइ, अंपरि जाहं णिवासु ॥ २९४ ॥

मोहो विलीयते मनो प्रियते पुत्र्यति श्वासोच्छ्वासः ।

केवलज्ञानमपि परिणमति अंबरे येषां निवासः ॥ २९४ ॥

मोहो विलिख्यते इत्यादि । मोहो मोहो ममत्वादिविकल्पजालं विलिख्यते इत्यर्थं गच्छति मणु मरइ इहलोकपरलोकानामभृतिविकल्पजालरूपं मनो प्रियते तुष्टइ नश्यति । वीर्या । मासुणिमासु अनीहितवृत्त्या नामिकाद्वारं विहाय क्षणमात्रं ताडुभिर्ग गच्छति पुनरप्यं-  
नरं कृत्वा नामिकया निर्गच्छति पुनरपि रंभेनेत्युच्छ्वासनिःश्वामलक्षणे वायुः । पुनरपि किं भवति । केवलगणानुवि परिणमइ केवलज्ञानमपि परिणमति समुत्पद्यते । येषां किं । अंपरि जाहं णिवासु रागद्वेषमोहैरूपविकल्पजालमन्यं अंबरे अंबरमध्यस्थाने शुद्धात्मपर-  
ब्रह्मज्ञानज्ञानानुचरणरूपे निर्विकल्पप्रतिगुतिगुणपरममार्थौ येषां निवास इति । अथमत्र

जाते हैं शरीर हलका हो जाता है परंतु मुक्ति इस वायुधारणासे नहीं होती, क्योंकि वायुधारणा शरीरका धर्म है आत्माका स्वभाव नहीं है । शुद्धोपयोगियोंके लक्षण ही बिना इसके मन भी रुक जाता है और धाम भी स्थिर हो जाते हैं । शुभोपयोगियोंके मनके रोकनेकेलिये प्राणायामका अभ्यास है मनके अचल होनेपर कुछ प्रयोजन नहीं है । जो आत्मस्वरूप है वह केवल ध्याननामई ज्ञान दर्शनस्वरूप है सो शुद्धोपयोगी सो स्वस्वरूपे कृतिहीन हैं और शुभोपयोगी कुछ एक मनकी चपलतासे आनंदपनमें अटोल अवस्थाको नहीं पाते तबतक मनके बंध करनेकेलिये भी संब परमेष्टीका प्रधान स्मरण करते हैं और ओंकारादि मंत्रोंका ध्यान करते हैं । और प्राणायामका अभ्यास कर मनको रोकके चिद्रूपमें लगाते हैं जब यह लगभग तब मन और पवन सब स्थिर हो जाते हैं । शुभोपयोगियोंकी दृष्टि एक शुद्धोपयोगपर है पानंश्रमिमतर्था लक्ष्मीकी वायुधारणा नहीं है । जो वायुधारणाकर ही मुक्ति होवे सो वायुधारणाके करनेकीकोइ इय शुद्धकालमें मोक्ष क्यों न होवे कभी नहीं होती । मोक्ष सो धैर्य स्वभावमें है ॥ २९४ ॥

आगे फिर भी परमसमाधिका कथन करते हैं;—[ येषां ] जिन मुनीश्वरोंका [ अंबरे ] परमसमाधिमें [ निवासः ] निवास है उनका [ मोहः ] मोह [ विलीयते ] नश्यते मात हो जाता है [ मनः ] मन [ प्रियते ] मर जाता है [ श्वासोच्छ्वासः ] श्वासोच्छ्वास [ पुत्र्यति ] रुक जाता है [ अपि ] और [ केवलज्ञानं ] केवलज्ञान [ परिणमति ] उपलब्ध होता है । भावार्थ—दर्शनमोह और परिणमोह आदि कल्पवृक्ष कर दिव्य हो जाता है, रग शोक परलोभ आदिवा बाधा आदि विकल्प आत्मपर मर स्थिर हो

भावार्थः । अंबरशब्देन शुद्धाकाशं न ग्राह्यं किंतु विषयकषायविकल्पशून्यः परमसमाधिर्माहाः, वायुशब्देन च कुंभकरेचकपूरकादिरूपो वायुनिरोधो न ग्राह्यः किं तु स्वयमनीहितवृत्त्या निर्विकल्पसमाधिवलेन दशमद्वारमंथेन ब्रह्मरंध्रसंज्ञेन सूक्ष्मामिधानरूपेण च तालुरंध्रेण योसौ गच्छति स एव ग्राह्यः तत्र । यदुक्तं केनापि । “मणु मरद् पवणु जहि खयहं जाइ । मध्वंगइ तिहुवणु तहि जे ठाइ मूढा अंतरालु परियाणहि तुट्टइ मोहजालु जइ जाणहि” । अत्र पूर्वोक्तलक्षणमेव मनोमरणं ग्राह्यं पवनश्रयोपि पूर्वोक्तलक्षण एव त्रिभुवनप्रकाशक आत्मा तत्रैव निर्विकल्पसमाधौ तिष्ठतीत्यर्थः । अंतरालशब्देन तु रागादिपरभावशून्यत्वं ग्राह्यं न चाकाशे ज्ञाते सति मोहजालं नश्यति न चान्यादृशं परिकल्पितं ग्राह्यमित्यभिप्रायः ॥ २९४ ॥

जाता है और श्वासोच्छ्वासरूप वायु रुक जाती है श्वासोच्छ्वास अवांठीकपनेसे नासिकाके द्वारको छोड़कर तालुछिद्रमें होके निकलते हैं तथा कुछ देरके बाद नासिकासे निकलते हैं । इस प्रकार श्वासोच्छ्वासरूप पवन बंद हो जाता है । चाहे जिस द्वारसे निकाले । केवलज्ञान भी शीघ्र ही उन ध्यानी मुनियोंके उत्पन्न होता है कि जिन मुनियोंका रागद्वेषमोहरूप विकल्पजालसे रहित शुद्धात्माका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निर्विकल्प त्रिगुणमई परमसमाधिमें निवास है । यहां अंबर नाम आकाशका अर्थ नहीं समझना किंतु समस्तविषयकषायरूप विकल्पजालोंसे शून्य परमसमाधि लेना । और यहां वायु शब्दसे कुंभक पूरक रेचकादिरूप बांछापूर्वक वायुनिरोध न लेना किंतु स्वयमेव अवांठीक वृत्तिकर निर्विकल्पसमाधिके बलसे ब्रह्मद्वार नामा सूक्ष्म छिद्र जिसको तालुवेका रंध्र कहते हैं उसके द्वारा अवांठीक वृत्तिसे पवन निकलता है वह लेना । ध्यानी मुनियोंके पवन रोकनेका यत्न नहीं होता है बिना ही यत्नके सहज ही पवन रुक जाता है और मन भी अचल हो जाता है ऐसा समाधिका प्रभाव है । ऐसा दूसरी जगद भी कहा है कि, जो मूढ हैं वे तो अंबरका अर्थ आकाशको जानते हैं और जो ज्ञानी जन हैं वे अंबरका अर्थ परमसमाधिरूप निर्विकल्प जानते हैं । सो निर्विकल्प ध्यानमें मन मरजाता है पवनका सहज ही निरोध होता है और सब अंग तीन भुवनके समान हो जाता है । जो परम समाधिको जानें सो मोह टूट जाये । मनके विकल्पोंका मिटना वही मनका मरना है और वही श्वासका रुकना है जो कि सब द्वारोंमें रुककर दशवें द्वारमेंसे होकर निकले । तीन लोकका प्रकाशक आत्माको निर्विकल्प समाधिमें स्थापित करता है । अंतराल शब्दका अर्थ रागादि भावोंमें शून्य दशा लेना आकाशका अर्थ न लेना । आकाशके जाननेमें मोहज्ञान नहीं मिटना आमन्त्र्यके जाननेमें मोहज्ञान मिटना है । जो पाठप्रति आदि परमसमयमें शून्यरूप समाधि कही है वह अभिप्राय नहीं लेना, क्योंकि अब विमर्शकी शून्यता हो जायेगी तब वस्तुका ही अभाव हो जाइगा ॥ २९४ ॥

अथ,—

जो आयासहं मणु धरद्, लोपालोपपमाणु ।

तुदह मोहू तडत्ति तसु, पावइ परह पवाणु ॥ २९२ ॥

यः आकाशे मनो धरति लोकालोकप्रमाणम् ।

बुध्यति मोहो ज्ञटिति तस्य प्राप्नोति परस्य प्रमाणम् ॥ २९५ ॥

जो इत्यादि । जो यो ध्याता पुरुषः आयासहं मणु धरद् यथा परब्रह्मसंबंधरहितत्वे-  
नाकाशमंबरशब्दाकार्यं शून्यमित्युच्यते तथा वीतरागचिदानंदैकत्वमात्रेण भरिताकर्मोपि  
निध्यात्वरगादिपरभावरहितत्वान्निर्विकल्पममाधिराकाशमंबरशब्दाकार्यं शून्यमित्युच्यते ।  
तत्राकाशसंज्ञे निर्विकल्पसमाधिं मनो धरति स्थिरं करोति । कार्यभूतं मनः । लोपालोप-  
पमाणु लोकालोकप्रमाणं लोकालोकव्याप्तिरूपं अथवा प्रसिद्धलोकालोकाकाशे व्यवहारेण  
ज्ञानापेक्षया न च प्रदेशापेक्षया लोकालोकप्रमाणं मनो मानसं ज्ञानं धरति तुदह मोहू  
तडत्ति तसु बुध्यति नश्यति । कोयं । मोहू मोहः । कथं । ज्ञटिति तस्य ध्यानात् ।  
न केवलं मोहो नश्यति । पावइ प्राप्नोति । किं । परहं पवाणु परस्य परमाण्वस्वरूपस्य  
प्रमाणं । कीदृशं तत्प्रमाणमिति चेत् । व्यवहारेण रूपप्रत्यक्षविषये अशुद्धिः सर्वगतः । यदि  
पुनर्निश्चयेन सर्वगतो भवति तर्हि अशुद्धो अस्मिन्पदसाहः प्राप्नोति न च तथा, । तथाऽमनोपि  
परकीयगुणदुःखविषये तन्मयपरिणामत्वेन परकीयगुणदुःखानुभवं प्राप्नोति न च तथा ।

आगे फिर भी निर्विकल्पसमाधिका कथन करते हैं;—[ यः ] जो ध्याती पुरुष  
[ आकाशे ] निर्विकल्पसमाधिमें [ मनः ] मन [ धरति ] स्थिर करता है [ तस्य ]  
उसीका [ मोहः ] मोह [ ज्ञटिति ] क्षीम [ बुध्यति ] दृष्ट जाता है और ज्ञानकरके  
[ परस्य प्रमाणं ] लोकालोकप्रमाण आत्माको [ प्राप्नोति ] प्राप्त होनाका है । भावार्थ—  
आकाश अर्थात् वीतरागचिदानंद स्वभाव अनंत गुणरूप और निःशब्दावगादिपरभावरहि-  
तस्वरूप निर्विकल्पसमाधि यदा समझना । जैसे आकाशाद्वय सब दृश्योत्पत्ते भरा हुआ है  
परंतु सबसे शून्य अपने स्वरूप है उसीप्रकार चिद्रूप आत्मा सागादि सब उपचिद्योत्पत्ते  
रहित है शून्यरूप है इसलिये आकाश रादका अर्थ यदा शुद्धात्मस्वरूप होता । व्यवहार-  
मयकर ज्ञान लोकालोकका प्रकाशक है और निश्चयनमकर अपने अस्वरूपका प्रकाशक है ।  
आत्माका व्यवहारान लोकालोकको जानना है इसका अर्थ ज्ञानकर अपने अस्वरूपका प्रकाशक  
कहा जाता है यदसीका अपने लोकालोकका अर्थ है । ज्ञानरूप का अस्वरूपका प्रकाश  
है परंतु परब्रह्मका प्रकाश है परब्रह्मका अस्वरूपका प्रकाशक प्रकाशक है ।  
इसलिये यह निश्चय है कि ज्ञानरूपका अस्वरूपका प्रकाशक प्रकाशक है ।  
भी कहते हैं उसमें जो मन लोकालोकका प्रकाशक प्रकाशक है ।

निश्चयेन पुनर्लोकमात्रामंशयेयमदेशोपि मन् व्यवहारं पुनः शरीरानुपमंशरविष्णु-  
वशाद्विचित्रभाजनस्यप्रदीपवत् देहमात्र इति भाषायेः ॥ २९५ ॥

अथ;—

देहि वसंतुवि णवि मुणित्, अप्पा देउ अणंतु ।

अंवरि समरसि मणु घरिवि, स्वामिय णट्टु णिमंतु ॥ २९६ ॥

देहे वसन्नपि नैव मतः आत्मा देवः अनंतः ।

अंबरे समरसे मनः धृत्वा स्वामिन् नष्टो निर्भ्रातः ॥ २९६ ॥

देहि वसंतुवि इत्यादि । देहि वसंतुवि व्यवहारेण देहे वसन्नपि णवि मुणित् नैव  
ज्ञानः । कोसौ । अप्पा निजमुद्गाम्ना । किं विनिष्टः । देउ आराधनायोग्यः केवलज्ञाना-  
द्यनंतगुणाधारत्वेन देवः परमाराध्यः । पुनरपि किंविनिष्टः । अणंतु अनंतपदार्थपरिच्छि-  
त्तिकारणत्वादविनश्वरत्वादनंतः । किं कृत्वा । मणु घरिवि मनो धृत्वा । क । अंबरि  
अंबरशब्दवाच्ये पूर्वोक्तलक्षणे रागादिशून्ये निर्विकल्पममायी । कथंभूते । समरसि वीतरा-  
गतास्त्विहमनोहरानंदस्वदिनि समरमीभावे साध्ये स्वामिय हे स्वामिन् । प्रभाकरभट्टः  
पश्चात्तापमनुशयं कुर्वन्नाह । किं भूते । णट्टु णिमंतु इयं कालमित्थंभूतं परमान्नोपदेग-

व्यवहारनयकर आत्मा ज्ञानकर सबको जानता है इसलिये सब जगत्में हैं । जैसे व्यवहार-  
नयकर नेत्र रूपीपदार्थको जानता है परंतु उन पदार्थोंमें भिन्न है । जो निश्चयकर सर्वगत  
होवे तो परपदार्थोंसे तन्मयी हो जावे जो उनसे तन्मयी होवे तो नेत्रोंको अप्रिका दाह  
होना चाहिये इसकारण तन्मयी नहीं है । उसीप्रकार आत्मा जो पदार्थोंको तन्मयी होके  
जाने तो परके सुख दुःखसे तन्मई होनेसे इसको भी दूसरेका सुख दुःख मात्र ही होना  
चाहिये ऐसा होता नहीं है । इसलिये निश्चयसे आत्मा असर्वगत है और व्यवहारनयने  
सर्वगत है प्रदेशोंकी अपेक्षा निश्चयसे लोकप्रमाण अमंश्याल प्रदेशी है और व्यवहारन-  
यकर पात्रमें रखे हुए दीपककी तरह देह प्रमाण है जैसा शरीर धारणकर वैसा प्रदेशोंका  
संकोच विस्तार हो जाता है ॥ २९५ ॥

आगे फिर भी सिध्य प्रश्न करना है;—[ स्वामिन् ] हे स्वामी [ देहे वसन्नपि ]  
व्यवहारनयकर देहमें रहता हुआ भी [ आत्मा देवः ] आराधने योग्य आत्मा [ अनंतः ]  
अनंत गुणोंका आधार [ नैव मतः ] मने अज्ञानतामें नहीं जाना । क्या करके ।  
[ समरसे ] समानभावरूप [ अंबरे ] निर्विकल्प समाधिमें [ मनः धृत्वा ] मन लगाकर ।  
इसलिये अब तक [ नष्टो निर्भ्रातः ] निम्नदेह नष्ट हुआ । भाषाये—प्रभाकरभट्ट  
पठताता हुआ श्री योगीश्वरदेवसे वीरता करना है कि हे स्वामिन् मने अबतक रागादि  
विभावरहित निर्विकल्पममाधिमें मन लगाकर आत्म देव नहीं जाना इसीलिये इनने

मलभमानःसन् निर्भ्रान्तो नष्टोऽत्मिल्यभिप्रायः ॥ २९६ ॥ एवं परमोपदेशकयनमुत्स्यन्नेन सूत्रदशकं गतं ।

अथ परमोपगमभावमहितेन सर्वमंगपरित्यागेन संसारविच्छेदं भवतीति युग्मेन निश्चिनोति;—

सयलपि संगं ण मिद्धिया, णपि किउ उयममभाउ ।

सियपयमग्गुपि सुणित णपि, जहिं जोइहिं अनुराउ ॥ २९७ ॥

घोरं ण चिणणउ तयचरणु, जं णिययोइहं मारम् ।

पुण्णुपि पाउपि दहु णपि, किमु छिअइ मंगारम् ॥ २९८ ॥

सकल अपि संगं न मुक्ताः नैव कृत उपसमभाषः ।

सियपदमार्गोपि मतो नैव यत्र योगिनां अनुगमः ॥ २९७ ॥

घोरं न स्वीर्ण तपधरणं यन् निजबोधेन मारम् ।

पुण्यमपि पापमपि दुर्घं नैव किं लिप्यते मंगारः ॥ २९८ ॥

सयलपि इत्यादि । सयलपि समस्ता अपि संगं मिथ्यास्वादिनपुद्गेसभेदविना अज्ञ-  
तराः क्षेत्रवास्तुस्वादिबुद्भेदभिन्ना घाटा अपि भेदाः परिहृता ए मिथिया न मुक्ताः ।  
पुनरपि किं न कृतं । णपि किउ उवगमभाउ ज्ञापितमरणसामान्याध्यागदुःस्वदिशमल  
भावलक्षणो नैव कृतः उपसमभाषः । पुनश्च हि न कृतं । सियपयमग्गुपि ह्युचिउ क्वि  
इतिवत् परमवर्णयानं निर्वाणं प्राप्तमभयं । मार्गं मुनिपरं येन वा शिष्यः परिचरन्ति । इति  
व्यन्यात् सिद्धसाध्याद्यो योगी भोक्तव्य मारगोपि न ज्ञातः । कथंभूतो मार्गः । क्युदा-  
स्यसत्यश्चरितान्तानोनुषाणरूपः । यत्र मार्गो हि । जहिं जोइहिं अनुराउ यत्र निश्चय  
भोक्तव्यं परमयोगिनामनुगमस्यापर्यं । न वे बलं भोक्तव्यमार्गोपि न ज्ञातः । घोरं क्व लिप्यते  
तवचरणु घोरं दुर्घं परीपटोपवर्गप्रयत्नं नैव स्वीर्णं न कृतं । किं तन् । अज्ञाननिवृत्त-

बालकः संसारो भटका । निजस्वरूपी प्रापिके विना मे सट ह्यः । अत्र देव  
उपदेश कतो किं जितरो भग निट जावे ॥ २९६ ॥ इत्युक्त्वा परमोपदेशके कथयति  
मुक्त्यस्यैव दग दोटा बदे हँ ।

आमे परमोपदेश भाव मरित सब परिमटका त्याग करणेने मालवक विच्छेद होन  
हे देवा दो दोटाभोगे निश्चय करणे हे,—[ मकला अपि संगार ] सब सयलपि  
[ न मुक्ताः ] गती तोरे [ उपसमभाषः नैव कृतः ] समयव नैव कृतं इत्युक्त्वा [ तव  
योगिनां अनुगमः ] कोर जटा कोरीधरीका येन हे देवा ! सिद्धसाध्यादि ] कोर क्व  
मी [ नैव मतः ] गती जगा [ घोरं तपधरणं ] यत्र ह्यः सयलपि [ न कृतं ] क-



शविधं तपश्चरणं । यत्कथंभूतं । जं णिययोद्धं मासु यत्तपश्चरणं वीजगगनिर्विकल्पितं-  
वेदंनलक्षणेन निजबोधेन सारभूतं । पुनश्च किं न कृतं । पुण्युवि पाउवि निश्चयनवेन  
शुभाशुभनिगलद्वयरहितस्य संसारिजीवस्य व्यवहारेण सुवर्णलोहनिगलद्वयमहत्तं पुण्यपाप-  
द्वयमपि दद्द णवि शुद्धात्मद्रव्यानुभवरूपेण ध्यानाग्निना दग्धं नैव किमु छिज्जइ संसार  
कथं छिद्यते संसार इति । अत्रेदं ध्याएयानं ज्ञान्वा निरंतरं शुद्धात्मद्रव्यमावना कर्तव्येति  
वात्पर्यं ॥ २९७ ॥ २९८ ॥

अथ दानपूजापंचपरमेश्विर्वंदनादिरूपं परंपरया मुक्तिकारणं श्रावकधर्मं कथयति;—

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहं, णवि पुज्जिउ जिणणाहु ।

पंच ण वंदिय परमगुरु, किमु होसइ सिचलाहु ॥ २९९ ॥

दानं न दत्तं मुनिवराणां नापि पूजितः जिननाथः ।

पंच न वंदिता परमगुरवः किं भविष्यति शिवलाभः ॥ २९९ ॥

क्रिया [ यत् ] जो कि [ निजबोधेन सारं ] आत्मज्ञानकर शोभायमान है [ पुण्यमपि  
पापमपि ] और पुण्य तथा पाप ये दोनों [ नैव दग्धं ] नहीं भस्म किये तो [ संसारः ]  
संसार [ किं छिद्यते ] कैसे छूट सकता है । भावार्थ—निय्यात्र ( अतत्त्वश्रद्धा ) राग  
( प्रीतिभाव ) दोष ( वैरभाव ) वेद ( स्त्री पुरुष नपुंसक ) क्रोध मान माया लोभरूप चार  
कषाय और हास्य रति भरति शोक भय म्भानि—ये चौदह अनंतरंग परिग्रह, क्षेत्र  
( प्रामादिक ) वास्तु ( गृहादिक ) हिरण्य ( रुपय्या मौहूर आदि ) सुवर्ण ( गहने आदि )  
धन ( हाथी घोड़ा आदि ) धान्य ( अन्नादि ) दासीदास, कुप्य ( वस्त्र तथा सुगंधादिक )  
गांड ( बर्तन आदि ) ये दस तरहके बाहरके परिग्रह, इस प्रकार बाह्य अभ्यंतर परि-  
ग्रहके चौबीस भेद हुए इनको नहीं छोड़ा । जीवित मरण सुख दुःख लाभ अलामा-  
दिमें समान भाव कभी नहीं किया कल्याणरूप मोक्षका मार्ग सम्पददर्शन ज्ञान चरित्र भी  
नहीं जाने । निजस्वरूपका अद्धान निजस्वरूपका ज्ञान और निजस्वरूपका आचरणरूप  
निश्चयरत्नत्रय तथा नव पदार्थोंका अद्धान नव पदार्थोंका ज्ञान और अशुभक्रियाका त्याग-  
रूप व्यवहाररत्नत्रय—ये दोनों ही मोक्षके मार्ग हैं इन दोनोंमेंसे निश्चयरत्नत्रय को साक्षात्  
मोक्षका मार्ग है और व्यवहाररत्नत्रय परंपराय मोक्षका मार्ग है । ये दोनों भेद कभी  
नहीं जाने संसारका ही मार्ग जाना । अनशनादि पारहप्रकाशका तप नहीं किया बार्देम  
परिग्रह नहीं सहन की । तथा पुण्य सुवर्णका वेड़ी पाप लोहेकी वेड़ी सो ये दोनों  
बंधन निर्मल आत्मध्यानरूपी अग्निमें भस्म नहीं किये । इन दोनोंके विना किये  
समागच्छा विच्छेद नहीं होता समागमे मुक्त होनेके येही कारण हैं । ऐमा व्याख्यान  
जानकर हमेंशा शुद्धात्मस्वरूपका भावना करना चाहिये ॥ २९७ ॥ २९८ ॥

दातु इत्यादि । दातुं च दिष्णत आहाराभयभेषजसाग्भेदेन चतुर्विधदानं भक्तिपूर्वकं न दत्तं । वेषा । मुनिवरहं निधयत्नवहाररत्नप्रपाराधकानां मुनिवरादिचतुर्विधसंपत्तिनां प्राप्ताणां यदि पुञ्जित जलधारया गद गथाश्रवणपुष्पाद्यविषयपूजया न पूजितः । कोसौ । जिनानां देवेन्द्रधरणेन्द्रनरेन्द्रपूजितः केवलज्ञानात्तन्तन्गुणपरिपूर्णः पूज्यपदस्थितो जितनाथः पंच च चंदिय पंच न चंदिताः । चं ते । परमगुरु त्रिभुवनाधीशंशरपदस्थिता अहंनिस्त्राः त्रिभुवनेशंशरमोक्षपदाराधकाः आपार्योपाध्यायसाधनभेति पंचगुरवः किमु होसइ शिवलाहू शिवानन्ददाय्यमोक्षपदस्थितानां तदाराधकानामाचार्योदीनां च यथायोग्यं दानपूजावंदनादिकं न कर्तुं कथं शिवानन्ददाय्यमोक्षपदस्थितानां लामो भविष्यति न कथमपीति । अत्रेदं व्याख्यानं शाल्या उपामकाध्ययनशास्त्रकथितमार्गेण विधिद्रव्यदातृपात्रलक्षणविधानेन दातव्यं पूजावंदनादिकं च कर्तव्यमिति भावार्थः ॥ २९९ ॥

अथ निश्चयेन विस्तारहितध्यानमेव मुक्तिवारणमिति प्रतिपादयति चतुष्कलेनः—

अरुम्मीन्दिपलोपणिहिं, जोड किं झंपियएहिं ।

एसुह् लम्भइ परमगइ, णिघोतिं ठियएहिं ॥ ३०० ॥

आगे दानपूजा और पंच परमेष्ठीकी वंदना आदि परंपरा मुक्तिका कारण जो थाव-कथने उमे कहते हैं;—[ दानं ] आहारादि दान [ मुनिवराणां ] मुनीधर आदि पात्रोंको [ न दत्तं ] नहीं दिया [ जिननाथः ] जिनेन्द्र भगवानको भी [ नापि पूजितः ] नहीं पूजा [ पंच परमगुरवः ] अरहंत आदिक पांच परमेष्ठी [ न चंदिताः ] भी नहीं पूजे तब [ शिवलामः ] मोक्षकी प्राप्ति [ किं भविष्यति ] कैसे हो सकती है । भावार्थ—आहार औषध शास्त्र और अभयदान—ये चार प्रकारके दान भक्तिपूर्वक पात्रोंको नहीं दिये अर्थात् निश्चय व्यवहाररत्नत्रयके आराधक जो यती आदि चार प्रकार संप उनको चार प्रकारका दान भक्तिकर नहीं दिया, और दुःखी भूखे जीवोंको करुणाभावसे दान नहीं दिया । ईंद्र नागेंद्र नरेन्द्र आदिकर पूज्य केवलज्ञानादि अनंतगुणोंकर पूर्ण जिननाथकी पूजा नहीं की—जब चंदन अक्षत पुष्प मैवेच दीप धूप फलसे पूजा नहीं की और तीनलोककर वंदने योग्य ऐसे अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु इन पांच परमेष्ठी-योंकी आराधना नहीं की । सो हे जीव इन कार्योंके बिना तुझे मुक्तिका लाभ कैसे होगा । क्योंकि मोक्षकी प्राप्तिके ये ही उपाय हैं कि जिन पूजा पंचपरमेष्ठीकी वंदना और चारसयको चारप्रकार दान इन बिना मुक्ति नहीं हो सकती । ऐमा व्याख्यान जानकर सानवे उपामकाध्ययन अगमें कही गई जो दान पूजा वंदनादिककी विधि वही करना योग्य है । शुभविधानं न्यायम् उपाजनं क्रिया अच्छा द्रव्य वह दानाक अच्छे गुणोंको धारणकर विधिमें पात्रको देना, (जिनराजकी पूजा करना) सो पर परमेष्ठीका वंदना करना, ये ही व्यवहारनयकर कल्याणका उपाय है ॥ २९९ ॥

अर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां योगः किं ज्ञपिनाभ्याम् ।

एवमेव लभ्यते परमगतिः निश्चितं स्तितैः ॥ ३०० ॥

अदुम्मीलिय लोयणिर्हि अर्धोन्मीलितलोचनपुटाभ्यां जोउ किं योगो ध्यानं किं भवति अपि तु नैव । न केवलमर्धोन्मीलिताभ्यां । ज्ञपियर्हि ज्ञपिताभ्यामपि लोचनाभ्यां नैवेति । तर्हि कथं लभ्यते । एमुद् लभ्यते एवमेव लभ्यते लोचनपुटनिमीलनोन्मीलन-निरपेक्षैः । का लभ्यते । परमगद् केवलज्ञानादिपरमगुणयोगादरमगनिर्माभ्रगतिः । कः लभ्यते । गिञ्चंतिं टियर्हि ख्यातिपूजालाभप्रभृतिममन्त्रचिंताजालरहितैः पुरपश्चिनारहितैः स्वशुद्धात्मरूपस्थितैश्चेत्यभिप्रायः ॥ ३०० ॥

अथ;—

जोइय मिल्लहि चिंत जइ, तो तुटइ संसार ।

चिंतासत्तउ जिणवरुवि, लहइ ण हंसाचारु ॥ ३०१ ॥

योगिन् मुंचसि चिंतां यदि ततः चुट्यति संसारः ।

चिंतासक्तो जिनवरोपि लभते न हंसचारं ॥ ३०१ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् मिल्लहि मुंचसि । कां । चिंतारहिताद्विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावात्परमात्मपदार्थाद्विलक्षणं चिंतां जइ यदि चेत् तो ततश्चिंताभावान् । किं भवति । तुटइ नश्यति । स कः । संसार निःसंसारान् शुद्धात्मद्रव्यान् विलक्षणो द्रव्यक्षे-त्रकालादिभेदभिन्नः पंचप्रकारः संसारः । यतः कारणान् चिंतासत्तउ जिणवरुवि छद्मस्था-वस्थायां शुभाशुभचिंतासक्तो जिनवरोपि लहइ ण लभते न । कं । हंसाचारु मंगयवि-

आगे निश्चयसे चिंतारहित ध्यान ही मुक्तिका कारण है ऐसा कहते हैं;—[ अर्धो-न्मीलितलोचनाभ्यां ] आधे उषड़े हुए नेत्रोंसे अथवा [ ज्ञपिताभ्यां ] बंद हुए नेत्रोंसे [ किं ] क्या [ योगः ] ध्यानकी सिद्धि होती है कमी नहीं । [ निश्चितं स्तितैः ] जो चिंता रहित एकाग्रमें स्थित हैं उनको [ एवमेव ] इसीतरह [ लभ्यते परमगतिः ] स्वयमेव परमगति ( मोक्ष ) मिलती है । भावार्थ—ख्याति ( बड़ाई ) पूजा ( अपनी प्रतिष्ठा ) और लाभ इनको आदि लेकर समस्त चिंताओंसे रहित जो निश्चित पुरुष हैं वे ही शुद्धात्मस्वरूपमें स्थिरता पाते हैं उनहीके ध्यानकी सिद्धि है और वे ही परमगतिके पात्र हैं ॥ ३०० ॥

आगे फिर भी चिंताका ही त्याग बतलाते हैं;—[ योगिन् ] हे योगी [ यदि ] जो तू [ चिंतां मुंचसि ] चिंताओंको छोड़ेगा [ ततः ] तो [ संसारः ] संसारका भ्रमण [ चुट्यति ] छूट जायगा क्योंकि [ चिंतासक्तः ] चिंतामें लगे हुए [ जिनवरोपि ] छद्मम् अवस्थावाले तीर्थकर देव भी [ हंसचारं न लभते ] परमात्माका आचरणरूप

धम्मदिमोहरदितानंतज्ञानादिनिर्मलगुणयोगेन हंम इव हंमः परमात्मा तस्य पारं रागादि-  
रहितं शुद्धात्मपरिणाममिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा दृष्टधुतानुभूतभोगाकांभाप्रभृतिगम-  
न्यधिनाजालं तत्रराशिं चिंतारहिते शुद्धात्मतत्त्वे सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येति तात्पर्यं ॥

अथ;—

जोइय दुम्मइ कयुण तुह, भवकारणि पचहारि ।

पंभु पपंचहिं जो रहिउ, मो जाणिवि मणु मारि ॥ ३०२ ॥

योगिन् दुर्मतिः का तव भवकारणे व्यवहारे ।

प्रभु प्रपंचैवत् रहितं तत् ज्ञात्वा मनो मारय ॥ ३०२ ॥

जोइय इत्यारं । जोइय हे योगिन् दुम्मइ कयुण तुह दुर्मतिः का तवेयं भव-  
कारणि पचहारि भवरदितान् शुभाशुभमनोवचनकावव्यापाररूपव्यवहारविलक्षणान्  
व्यशुद्धात्मद्रव्यात्पतिपद्भूते पंचप्रकारगंगारकारणे व्यवहारे । तर्हि किं करोमीति चेत् ।  
पंभु प्रभुशब्दवाच्यं ध्वशुद्धात्मानं ज्ञात्वा । कथंभूतं यत् । पंचचहिं जो रहिउ यत्प्रपंच-  
रहितं । पञ्चात्किं कुरु । मो जाणिवि तं निजशुद्धात्मानं वीतरागस्वमंषेदनज्ञानेन ज्ञात्वा ।  
पञ्चात्किं कुरु । मणु मारि अनेकमानमनिकल्पजाडरहिते परमात्मनि स्थित्वा शुभाशुभवि-  
कल्पजाडरूपं मनो मारय विनाशयेति भावार्थः ॥ ३०२ ॥

शुद्ध भाषोंको नहीं पाते । भावार्थ—हे योगी निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्मपदा-  
र्थसे पराङ्मुख जो चिंताजाल उसे छोड़ेगा तभी चिंताके अभावसे संसार भ्रमण दूटेगा ।  
शुद्धात्म द्रव्यसे विमुख जो द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप पांचप्रकारके ससारसे तू मुक्त  
होगा । जबतक चिंतावान है तबतक निर्विकल्प ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ।  
दूसरोंकी सो क्या बात है जो तीर्थंकरदेव भी केवल अवस्थाके पहले जबतक कुछ शुभा-  
शुभ चिंताकर सहित हैं तबतक वे भी रागादिरहित शुद्धोपयोगपरिणामोंको नहीं प्राप्त-  
कते । मशय विमोह विभ्रमरहित अनंत ज्ञानादि निर्मलगुण सहित हंसके समान उज्ज्वल  
परमात्माके शुद्ध भाव हैं ये चिंताके बिना छोड़े नहीं होते । तीर्थंकर देव भी मुनि  
होके निश्चित मत धारण करते हैं तभी परमहंस दशा पाते हैं ऐसा व्याख्यान जानकर  
देसे मुने भोगे हुए भोगोंकी बाँडा आदि समस्तचिंताजालको छोड़कर परम निश्चित हो  
शुद्धात्माकी भावना करना योग्य है ॥ ३०१ ॥

आगे श्रीगुरु मुनिमोंको उपदेश देते हैं कि मनको मारकर परमब्रह्मका ध्यान करो;—  
[ योगिन् ] हे योगी [ तव का दुर्मतिः ] तैरी क्या खोटी बुद्धि है जो तू [ भवकारणे  
व्यवहारे ] ससारके कारण उपमरूप व्यवहार करता है । अब तू [ प्रपंचः रहितं ]  
मायाजालरूप पाखंडोंसे रहित [ यत् ब्रह्म ] जो शुद्धात्मा है [ तत् ज्ञात्वा ] उसको

अथ;—

सव्वहिं रायहिं छहिं रसहिं, पंचहिं स्वहिं जंतु ।

चिचु णिवारिवि झाइ तुहुं, अप्पा देउ अणंतु ॥ ३०३ ॥

सर्वैः रागैः पङ्क्तिः रसैः पंचभिः रूपैः गच्छत् ।

चित्तं निवार्य ध्याय त्वं आत्मानं देवमनंतम् ॥ ३०३ ॥

सव्वहिं इत्यादि । झाइ ध्याय चिंतय तुहुं त्वं हे प्रभाकरमहृ । कं । अप्पा स्वशुद्धात्मानं । कथंभूतं । देउ वीतरागपरमानंदमुखेन दीव्यति क्रीडति इति देवसं देवं । पुनरपि कथंभूतं । अणंतु केवलज्ञानानंतगुणाधारत्वादनंतमुखास्पदत्वाद्दिविनश्वरत्वाच्चानंतस्त्रमनंते । किं कृत्वा पूर्व । चिचु णिवारिवि चित्तं निवार्य व्यावृत्त्य । किं कुर्वन् सन् । जंतु गच्छत्परिणममानं सन् । कैः करणभूतैः । सव्वहिं रायहिं वीतरागात्स्वशुद्धात्मद्रव्याद्रिलक्षणैः सर्वशुभाशुभरागैः । न केवलं रागैः । छहिं रसहिं रमनारहिताद्वीतरागमदानंदैकरमपरिणतादात्मनो विपरीतैः शुद्धलवणदधिदुग्धतैलघृतपइरमैः । पुनरपि कैः । पंचहिं स्वहिं अरूपान् शुद्धात्मतरवात्प्रतिपक्षभूतैः कृष्णीनीलरक्तश्वेतपीतपंचरूपैरिति तात्पर्यं ॥ ३०३ ॥

अथ येन स्वरूपेण चिंतयते परमात्मा तेनैव परिणमतीति निश्चिनोति;—

जेण सरुविं झाइयइ, अप्पा एहु अणंतु ।

तेण सरुविं परिणयइ, जिमु फलिहउमणि मंतु ॥ ३०४ ॥

जानकर [ मनो मारय ] विकल्पजालरूपी मनको मार । भावार्थ—वीतरागस्वसंवेदन-ज्ञानसे शुद्धात्माको जानकर शुभाशुभविकल्पजालरूप मनको मारो । मनके बिना वश किये निर्विकल्पध्यानकी सिद्धि नहीं होती । मनके अनेकविकल्पजालोंसे जो शुद्ध आत्मा उसमें निश्चलता तभी होती है जब कि मनको मारके निर्विकल्प दशाको प्राप्त होवे । इसलिये सकल शुभाशुभ व्यवहारको छोड़के शुद्धात्माको जानो ॥ ३०२ ॥

आगे यही कहते हैं कि सब विषयोंको छोड़कर आत्मदेवको ध्यावो;—हे प्रभाकर महृ [ त्वं ] तू [ सर्वैः रागैः ] सब शुभाशुभरागोंसे [ पङ्क्तिः रसैः ] छहों रसोंसे [ पंचभिः रूपैः ] पाच रूपोंसे [ गच्छन् चित्तं ] चलायमान चित्तको [ निवार्य ] रोककर [ अनंतं ] अनंतगुणवाले [ आत्मानं देवं ] आत्मदेवका [ ध्याय ] चिंतयनकर । भावार्थ—वीतराग परम आनंद मुखमें क्रीडा करने वाले केवलज्ञानादि अनंतगुणवाले अविनाशी शुद्ध आत्माका एकामचित्त होकर ध्यान कर । क्या करके ' वीतराग शुद्धात्मद्रव्यसे विमुक्त जो समस्त शुभाशुभराग, निजरमसे विपरीत जो दधि दुग्ध तैल पी नौन निमी ये छहरम और जो अरूप शुद्धात्मद्रव्यमें भिन्न काले मफेद हरे पीले लाल

येन स्वरूपेण ध्यायते आत्मा एवः अनंतः ।

तेन स्वरूपेण परिणमति यथा स्फटिकमणिः मंत्रः ॥ ३०४ ॥

जैण इत्यादि । तेन मरुर्बिं परिणयद् तेन स्वरूपेण परिणमति । कीर्त्तौ कर्ता । अप्पा आत्मा मरु एव मन्त्रहीभूतः । पुनरपि विविदिष्टः । अर्णतु वीतरागानाकुलत्वलभणानन्तरान्परिणतत्वात्तन्तः । तेन चैन । जैण मरुर्बे झाइयद् येन शुभाशुभशुभोपयोगरूपेण ध्यायते चिन्तते । एतन्माद । जह फट्टिहउमणि मंतु यथा स्फटिकमणिः जपापुष्पाशु-पाधिपरिणतः शास्त्रादिमंत्रो वेति । अत्र विशेष्यत्वात्प्यानं तु “येन येन स्वरूपेण युज्यते यंत्रकाहः । तेन तन्मयतां याति विभ्ररूपो मणिर्यथा” इति श्लोकार्थकथितदृष्टान्तेन ध्यातव्यः । इदमत्र तात्पर्यं । अयमात्मा येन येन स्वरूपेण चिन्तते तेन तेन परिणमतीति तात्वाद् शुद्धात्मपदमाद्यर्थिभिः समन्तरागारिविकल्पममूर्त्तं न्यतवा शुद्धरूपेणैव ध्यातव्य इति ॥ ३०४ ॥

पावनरूपे रूप-इनमें निरंतर बिच जाता है उसको रोककर आत्मदेयकी आरा-धना कर ॥ ३०३ ॥

आगे आत्माको जिसरूपसे ध्यावो उसीरूप परिणमता है जैसे स्फटिकमणिके नीचे जैसा डंक दिया जाये वैसा ही रंग भासता है ऐसा कहते हैं;—[ एवः ] यह मूलरूप [ अनंतः ] अविनाशी [ आत्मा ] आत्मा [ येन स्वरूपेण ] जिस स्वरूपसे [ ध्यायते ] ध्याया जाता है [ तेन स्वरूपेण ] उसी स्वरूप [ परिणमति ] परिणमता है [ यथा स्फटिकमणिः मंत्रः ] जैसे स्फटिकमणि और गारुडी आदि मंत्र हैं । भावार्थ—यह आत्मा शुभ अशुभ शुद्ध इन तीन उपयोगरूप परिणमता है । जो अशुभोपयोगका ध्यान करे तो पापरूप परिणवे, शुभोपयोगका ध्यान करे तो पुण्यरूप परिणवे और जो शुद्धोपयोगको ध्याये तो परमशुद्धरूप परिणमन करता है । जैसे स्फटिकमणिके नीचे जैसा डंक लगाओ अर्थात् द्याम हरा पीला लालमेंसे जैसा लगाओ उसीरूप स्फटिक मणि परिणमता है हरे डंकसे हरा और लालसे लाल भासता है । उसीतरह जीवद्रव्य जिस उपयोगरूप परिणमता है उसीरूप भासता है । और गारुडी आदि मंत्रोंमेंसे गारुडीमंत्र गरुडरूप भासता है जिससे कि सर्प डर जाता है । ऐसा ही कथन अन्य मंत्रोंमें भी कहा है कि जिस २ रूपसे आत्मा परिणमता है उम २ रूपसे आत्मा तन्मयी हो जाता है जैसे स्फटिकमणि उज्ज्वल है उसके नीचे जैसा डंक लगाओ वैसा ही भासता है । ऐसा जानकर आत्माको स्वरूप जानना चाहिये । जो शुद्धात्मपदकी प्राप्ति चाहनेवाले हें उनको यही योग्य है कि समस्त रागादिक विकल्पोंक समूहको छोडकर आत्माके शुद्धरूपको ध्यावे और विका-रोंपर दृष्टि न रखे ॥ ३०४ ॥

अथ चतुष्पादिकां कथयति;—

एह जु अप्पा सो परमप्पा, कम्मविसेसें जायउ जप्पा ।

जामइ जाणइ अप्पे अप्पा, तामइं सो जि देउ परमप्पा ॥ ३०५ ॥

एष य आत्मा स परमात्मा कर्मविशेषेण जातः जाप्यः ।

यदा जानाति आत्मना आत्मानं तदा स एव परमात्मा ॥ ३०५ ॥

एह जु एष यः प्रत्यक्षीभूतः अप्पा स्वमेवेदनप्रत्यक्ष आत्मा । स कथंभूतः । सो परमप्पा शुद्धनिश्चयेनानंतचतुष्टयस्वरूपः क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितः स निर्दोषपरमात्मा कम्मविसेसें जायउ जप्पा व्यवहारनयेनानादिकर्मबंधनविशेषेण स्वकीयबुद्धिशेषेण जात उत्पन्नः । कथंभूतो जातः । जाप्यः परार्थीनः जामइ जाणइ यदा काले जानाति । केन कं । अप्पे अप्पा वीतरागनिर्विकल्पस्वमेवेदनज्ञानपरिणतेनात्मना निजशुद्धात्मानं तावइ तस्मिन् स्वशुद्धात्मानुभूतिकाले सो जि स एवात्मा देउ निजशुद्धात्मभावनेत्यवीनरागसुखानुभवेन दीव्यति क्रीडतीति देवः परमाराध्यः । िं विगिष्ठो देवः । परमप्पा शुद्धनिश्चयेन मुक्तिगतपरमात्मममानः । अयमत्र भावार्थः । यद्येवंभूतः परमात्मा शक्तिरूपेण देहमध्ये नास्ति तर्हि केवलज्ञानोत्पत्तिकाले कथं व्यक्तिसंविष्यतीति ॥ ३०५ ॥

अथ तमेवार्थं व्यक्तिं करोति;—

जो परमप्पा णाणमउ, सो हउं देउ अणंतु ।

जो हउं सो परमप्पु परु, एहउ भावि णिंभंतु ॥ ३०६ ॥

यः परमात्मा ज्ञानमयः सः अहं देवः अनंतः ।

यः अहं स परमात्मा परः इत्थं भावय निर्मूर्तः ॥ ३०६ ॥

आगे चतुष्पदछंदसे आत्माके शुद्ध स्वरूपको कहते हैं;—[एष य आत्मा] यह प्रत्यक्षीभूत स्वसंवेदन ज्ञानकर प्रत्यक्ष जो आत्मा [स परमात्मा] वही शुद्ध निश्चयनयकर अनंत चतुष्टयस्वरूप क्षुधादि अष्टादशदोष रहित निर्दोष परमात्मा है वह व्यवहारनयकर [कर्मविशेषेण] अनादिकर्मबंधके विशेषसे [जाप्यः जातः] परार्थीन हुआ दृग्-रेका जाप करता है परंतु [यदा] जिस समय [आत्मना] वीनराग निर्विकल्प स्वमेवेदन ज्ञानकर [आत्मानं] अपनेकी [जानाति] जानना है [तदा] उस समय [स एव] यह आत्मा ही [परमात्मा] परमात्मा देव है । भावार्थ—निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो परम ज्ञानर उमके अनुभवमें क्रीडा कर्मेमें देव कहा जाता है वही आगधने योग्य है । जो आत्मदेव शुद्ध निश्चयनयकर भगवान केरतीरे ममान है । ऐसा परमात्मदेव शक्तिरूपमें देवमें है जो देवमें न होवे तो कर्मज्ञानके समय कर्म प्रगट होवे ॥ ३०५ ॥

जो परमात्मा इत्यादि । जो परमात्मा यः कश्चिन् प्रसिद्धपरमात्मा सर्वोत्कृष्टानंतज्ञानादि-  
रूपा मा गन्धीर्यस्य न भवति परमभ्रमावात्मा च परमात्मा षाण्णमउ ज्ञानेन निर्वृतो  
ज्ञानमयः सो हउं पशपि व्यवहारेण कर्मावृत्तस्तिष्ठामि तथापि निश्चयेन स एवाहं पूर्वोक्तः  
परमात्मा । कथंभूतः । देउ परमाराध्यः । पुनरपि कथंभूतः । अणंतु अनंतमुद्रादिगुणा-  
स्पदत्वादनंतः । जो हउं सो परमप्यु योऽहं स्वदेहस्यो निश्चयेन परमात्मा स एव तत्सदृश  
एव मुक्तिगतपरमात्मा । कथंभूतः । परु परमगुणयोगान् पर उत्कृष्टः एहउ भावि  
इत्थंभूतं परमात्मानं भावय दे प्रभाकरभट्ट । कथंभूतः सन् । णिभंतु भ्रांतिरहितः संशय-  
रहितः समिति । अत्र स्वदेहेपि शुद्धात्मास्तीति निश्चयं कृत्वा मिथ्यात्वाद्युपशमवशेन  
केवलज्ञानाद्युत्पत्तिरीजभूतां कारणमयसाराख्यामागमभाषया वीतरागसम्यक्तवादिरूपां  
शुद्धालोकदेशव्यक्तिं उच्यवा सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ ३०६ ॥

अध्यागुमेवार्थं दृष्टांतदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति;—

णिम्मलफलिहहं जेम जिय, भिण्णउ परकिपभाउ ।

अप्पसहायहं तेम मुणि, सयल्लवि कम्मसहाउ ॥ ३०७ ॥

आगे इसी अर्थको प्रगटपनेसे दृढ करते हैं;—[ यः परमात्मा ] जो परमात्मा  
[ ज्ञानमयः ] ज्ञानस्वरूप है [ स अहं ] वह मैं ही हूं जो कि [ अनंतः देवः ] अविनाशी  
देवस्वरूप हूं [ य अहं ] जो मैं हूं [ स परः परमात्मा ] वही उत्कृष्ट परमात्मा है  
[ इत्थं ] इस प्रकार [ निर्भ्रांतः ] निस्संदेह [ भावय ] तू भावना कर । भावार्थ—जो  
कोई एक परमात्मा परम प्रसिद्ध सर्वोत्कृष्ट अनंतज्ञानादिरूप लक्ष्मीका निवास है ज्ञानमई  
है वैसाही मैं हूं । यद्यपि व्यवहारनयकर मैं कर्मोंसे बंधा हुआ हूं तैाभी निश्चयनयकर मेरे  
बंध मोक्ष नहीं है, जैसा भगवानका स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है । जो आत्मदेव  
महानुनियोंकर परम आराधने योग्य है और अनंत सुख आदि गुणोंका निवास है ।  
इमसे यह निश्चय हुआ कि जैसा परमात्मा वैसा यह आत्मा और जैसा यह आत्मा है  
वैसा ही परमात्मा है । जो परमात्मा है वो मैं हूं और जो मैं हूं वही परमात्मा है । अहं  
यह शब्द देहमें स्थित आत्माको कहता है और सो यह शब्द मुक्ति प्राप्त परमात्मामें  
लगाना । जो परमात्मा वह मैं हूं और मैं हूं सो परमात्मा—यही ध्यान हमेशा करना ।  
वह परमात्मा परमगुणके संबंधसे उत्कृष्ट है । श्रीयोगीन्द्राचार्य प्रभाकरभट्टसे कहते हैं  
कि हे प्रभाकर भट्ट तू सब विकल्पोंको छोड़कर केवल परमात्माका ध्यानकर । निस्संदेह  
होके इस देहमें शुद्धात्मा है ऐसा निश्चयकर । मिथ्यात्वादि सब विभावोंकी उपशम-  
ताके वशसे केवलज्ञानादि उत्पत्तिका जो कारण समयसार ( निज आत्मा ) उसीकी नि-



निर्मलस्कटिकान् यथा जीव भिन्नः परकृतभावः ।

आत्मस्वभावान् तथा मन्यन्त सकलमपि कर्मत्वभावनम् ॥ ३०७ ॥

भिण्णउ भिणो भवति त्रिय हे जीव जेम यथा । कोसौ कर्ता । परकियमाउ जणु-  
प्याशुपाधिरूपः परकृतभावः । कस्मात्मकाशान् । णिम्मलस्कटिहहं निर्मलस्कटिका-  
तेम तथा भिन्नं मृणि मन्यन्त जानीहि । कं । सयलुपि कम्मसहाउ मनसमनि भार-  
कर्मद्रव्यकर्मनोकर्मस्वभावं । कस्मान् सकाशान् । अप्पसहावहं अनंतज्ञानादिगुणस्वभावान्  
परमात्मन इति भावार्थः ॥ ३०७ ॥

अथ तामेव देहात्मनोर्भेदभावनां दृढयति,—

जेम सहारिं णिम्मलउ, फलिहउ तेम सहाउ ।

भंनिण मइलु म मणिण त्रिय, मइलउ देवसववि काउ ॥ ३०८ ॥

यथा स्वभावेन निर्मलः स्कटिकः तथा स्वभावः ।

भ्रान्त्या मलिनं मा मन्यन्त जीव मलिनं दृष्ट्वा फायम् ॥ ३०८ ॥

जेम इत्यादि । जेमु सहारिं णिम्मलउ यथा स्वभावेन निर्मलो भवति । कोसौ ।  
फलिहउ स्कटिकमनिः तेम तथा निर्मलो भवति । कोसौ कर्ता । सहाउ विगुह्जानरूपम्  
परमात्मनः स्वभावः भंनिण मइलु म मणिण पुरोक्तमात्मस्वभावं कर्मतापन्नं भ्रान्त्या मलिनं  
मा मन्यन्त त्रिय हे जीव । किं कृत्वा । मइलउ दिक्खिषवि मलिनं दृष्ट्वा । कं । काउ  
निर्मलमुहपुह्वेकस्वभावरपरमात्मपदार्थाद्विलक्षणं फायमित्यभिप्रायः ॥ ३०८ ॥

रंत्त भावना करनी चाहिये । कीनगगमभ्यन्तरादिरूप शुद्ध आत्माका एकदेश मगटपनेहो  
पाकर सब तरहसे ज्ञानकी भावना करना योग्य है ॥ ३०९ ॥

अग्रे इती अर्थको दृष्टान् दार्ष्टान्तमे पुष्ट करत है;—[ जीव ] हे जीव [ यथा ]  
जेमे [ परकृतभावः ] नीचेके सब बंध [ निर्मलस्कटिकान् ] मदा निर्मल स्कटिकम-  
निमे [ भिन्नः ] जुदे है [ तथा ] उमीरह [ आत्मस्वभावान् ] आत्मस्वभावमे [ मइल-  
मनि ] सब [ कर्मस्वभावं ] शुभाशुनकर्म [ मन्यन्त ] भिन्न जानो । भावार्थ—आत्म-  
स्वभाव मइलिनं हे भावकम द्रव्यकम नोकम ये सब प्रह हे जणुया विद्वा हे । अर्थात्  
इत्यादि शुद्धरूप को विद्वान्तर उममे नू मइल पयव भिन्न मान ॥ ३०९ ॥

अग्रे देह हीन जेमा जुदे ० हे वह उर भावना दृढ करने है—[ यथा ] जेमे  
[ स्कटिकः ] स्कटिकमनि [ स्वभावः ] स्वभावम् [ त्रियेण ] जानते है [ तथा ] उमी  
मइ [ स्वभावः ] कोसौ कर्ता इत्येवमत्र उच्यते हे । एते जेमान्येव तथा [ जीव ] हे  
जेमे [ कार्यं मलिनं ] मलिनं मलिनं [ यथा ] इत्येव [ भ्रान्त्या ] भ्रान्त्या [ मणि ]

अथ पूर्वोक्तभेदभावनां रक्षादिवक्ष्यदृष्टान्तेन व्यथीकरोति चतुष्कलेन,—

रक्तं वत्थं जेम वुहु, देहु ण मण्णइ रत्तु ।

देहिं रत्तिं णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥ ३०९ ॥

जिण्णिं वत्थं जेम वुहु, देहु ण मण्णइ जिण्णु ।

देहिं जिण्णिं णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥ ३१० ॥

वत्थु पण्णइ जेम वुहु, देहु ण मण्णइ णट्टु ।

णट्टं देहिं णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ णट्टु ॥ ३११ ॥

भिण्णउ वत्थु जि जेम जिप, देहुं मण्णइ णाणि ।

देहुवि भिण्णउ णाणि तहं, अप्पहं मण्णइ जाणि ॥ ३१२ ॥

रक्ते वस्त्रे यथा बुधः देहं न मन्यते रक्तं ।

देहे रक्ते ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते रक्तम् ॥ ३०९ ॥

जीर्णे वस्त्रे यथा बुधः देहं न मन्यते जीर्णं ।

देहे जीर्णे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते जीर्णम् ॥ ३१० ॥

वस्त्रे प्रणष्टे यथा बुधः देहं न मन्यते नष्टम् ।

नष्टे देहे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते नष्टम् ॥ ३११ ॥

भिन्नं वस्त्रमेव यथा जीव देहात् मन्यते ज्ञानी ।

देहमपि भिन्नं ज्ञानी तथा आत्मनः मन्यते जानीति ॥ ३१२ ॥

यथा कोपि व्ययद्वाग्ज्ञानी रक्ते वस्त्रे जीर्णे वस्त्रे नष्टेषु स्वकीयवस्त्रे स्वकीयं देहं वस्त्रं जीर्णं नष्टं न मन्यते तथा धीतरागनिर्विकल्पस्वर्गवेदनज्ञानी देहे रक्ते जीर्णे नष्टेषु यदि व्ययद्दारेण देहस्वमपि धीतरागचिदानन्दैकपरमात्मानं शुद्धनिश्चयतयेन देहाद्भिन्नं वस्त्रं जीर्णं नष्टं न मन्यते इति भावार्थः । अथ मण्णइ मन्यते । बोगी । णाणि देहव्यवस्थितेषु भेदज्ञानी । हिं मन्यते । भिण्णउं भिन्नं । ति । वत्थु जि वस्त्रमेव जेम यथा जिप हे जीव ।

मैला [ मा मन्यस्य ] मत मानं । भावार्थ—यद् काय शुद्ध बुद्ध परमात्मपदार्थेने नित हे काय मैली हे आत्मा निर्मल हे ॥ ३०८ ॥

आगे पूर्वकथित भेदविज्ञानकी भावना रक्त पीतादि वस्त्रके दृष्टान्ते चार दोहाभेदे मगट करते हैं;—[ यथा ] जैसे [ बुधः ] कोई बुद्धिमान् पुरुष [ रक्ते वस्त्रे ] एक वस्त्रके [ देहं रक्तं ] शरीरके लाल [ न मन्यते ] नहीं मानता [ तथा ] उत्तरार्धे [ ज्ञानी ] धीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानी [ देहे रक्ते ] शरीरके लाल होनेके [ आत्मानं ] आत्माके [ रक्तं न मन्यते ] लाल नहीं मानता । [ यथा बुधः ] जैसे कोई बुद्धिमान् [ परे जीर्णे ] वस्त्रके जीर्णे ( पुराने ) होनेपर [ देहं जीर्णं ] शरीरके



अथ पूर्वोक्तभेदभावनां रत्नादिवस्त्रदृष्टान्तेन व्यतीकरोति घृतुक्त्वेन,—

रक्तं घृतं जेम बुद्ध, देह ण मण्णइ रत्तु ।

देहिं रत्तिं णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥ ३०९ ॥

जिण्णिं घृतं जेम बुद्ध, देह ण मण्णइ जिण्णु ।

देहिं जिण्णिं णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥ ३१० ॥

घत्तु पणद्धइं जेम बुद्ध, देह ण मण्णइ णहु ।

णहं देहिं णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ णहु ॥ ३११ ॥

भिण्णउ घत्तु जि जेम जिय, देहहं मण्णइ णाणि ।

देह्वि भिण्णउ णाणि तहं, अप्पहं मण्णइ जाणि ॥ ३१२ ॥

रक्ते वस्त्रे यथा बुधः देहं न मन्यते रक्तं ।

देहे रक्ते ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते रक्तम् ॥ ३०९ ॥

जीर्णे वस्त्रे यथा बुधः देहं न मन्यते जीर्णं ।

देहे जीर्णे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते जीर्णम् ॥ ३१० ॥

वस्त्रे मण्डपे यथा बुधः देहं न मन्यते नष्टम् ।

नष्टे देहे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते नष्टम् ॥ ३११ ॥

भिन्नं वस्त्रमेव यथा जीव देहात् मन्यते ज्ञानी ।

देहमपि भिन्नं ज्ञानी तथा आत्मनः मन्यते जानीहि ॥ ३१२ ॥

यथा कोपि व्यवहारज्ञानी रक्ते वस्त्रे जीर्णे वस्त्रे नष्टेपि स्वकीयवस्त्रे स्वकीयं देहं रक्तं जीर्णं नष्टं न मन्यते तथा धीतरागनिर्विकल्पस्वमवेदनज्ञानी देहे रक्ते जीर्णे नष्टेपि सति व्यवहारेण देहस्वमपि धीतरागचिदानन्दैकपरमात्मानं शुद्धनिश्चयनयेन देहाद्भिन्नं रक्तं जीर्णं नष्टं न मन्यते इति भावार्थः । अथ मण्णइ मन्यते । कोसौ । णाणि देहवस्त्रविषये भेदज्ञानी । किं मन्यते । भिण्णउ भिन्नं । किं । घत्तु जि वस्त्रमेव जेम यथा जिय हे जीव ।

मैला [ मा मन्यस्व ] मत मानं । भावार्थ—यह काय शुद्ध बुद्ध परमात्मप्रदार्थसे भिन्न है काय मैली है आत्मा निर्मल है ॥ ३०८ ॥

आगे पूर्वकथित भेदविज्ञानकी भावना रक्त पीतादि वस्त्रके दृष्टान्तसे चार दोहाओंमें मगठ करते हैं;—[ यथा ] जैसे [ बुधः ] कोई बुद्धिमान् पुरुष [ रक्ते वस्त्रे ] लाल वस्त्रसे [ देहं रक्तं ] शरीरको लाल [ न मन्यते ] नहीं मानता [ तथा ] उसीतरह [ ज्ञानी ] धीतराग निर्विकल्प स्वमवेदन ज्ञानी [ देहे रक्ते ] शरीरके लाल होनेसे [ आत्मानं ] आत्माको [ रक्तं न मन्यते ] लाल नहीं मानता । [ यथा बुधः ] जैसे कोई बुद्धिमान् [ वस्त्रे जीर्णे ] कपड़ेके जीर्ण ( पुराने ) होनेपर [ देहं जीर्णं ] शरीरको

पमाप्रमपि शस्यं चैयण करइ अवस्स वेदनां याथां करोत्यवश्यं नियमेन । अत्र चित्तादि-  
तात्परमात्मनः मक्षागाद्विलक्षणा या विषयकषायादिचिन्ता सा न कर्तव्या । कांडादिशस्यनिव-  
दुःखकारणत्वादिनि भावार्थः ॥ ३१८ ॥

किंच;—

मोक्खु म चिन्तहि जोइया, मोक्खु ण चिन्तिउ होइ ।

जेण णियद्धउ जीवडउ, मोक्खु करेसइ सोइ ॥ ३१९ ॥

मोक्षं मा चिन्तय योगिन् मोक्षो न चिन्तितो भवति ।

येन निषद्धो जीवः मोक्षं करिष्यति तदेव ॥ ३१९ ॥

मोक्खु इत्यादि । मोक्खु म चिन्तहि मोक्षचिन्तां मा कार्यास्त्वं जोइया हे योगिन् । यथा-  
कारणात् मोक्खु ण चिन्तिउ होइ रागादिचिन्ताजालरहितः केवलज्ञानाद्यनेनगुणश्रद्धिग-  
दितो मोक्षः चिन्तितो न भवति । तर्हि कथं भवति । जेण णियद्धउ जीवडउ येन मिथ्याव्या-  
सादिचिन्तानामोपाधिनेन कर्मणा बद्धो जीवः सोइ तदेव कर्म शुभाशुभरिक्त्यमभूद्रहिते  
दुःखाम्भरणे गिनानां परमयोगिनां मोक्खु करेसइ अनंतज्ञानादिगुणोपलम्भस्य मोक्षं

वर्तमानाति । अत्र अर्थात् शक्तिवन्ध्याप्रधानां विषयवशात्प्राप्तपञ्चानर्थपन्नार्थं च मोक्ष-  
 भागे भावनारदीकरणार्थं च । "सुखद्वयगतं बन्धनमस्य बोधित्वाहो मुग्धमगमं समाहिमरणं  
 त्पिमुग्धमपत्तिं होतुं शक्यते" इत्यादि भावना कर्मव्या तथापि वीतरागनिर्विकल्पपरम-  
 समाधिके न कर्म-वैति भावार्थः ॥ ३१९ ॥

अथ अनुबिंशतिमुद्रप्रमितमहात्म्ये परमसमाधिख्यायानमुख्यत्वेन सूत्रप्रदूषंतर-  
 र्त्तं कथ्यते । तथा,—

**परमसमाहिमहासरहिं, जे पुहुहिं पद्मेयि ।**

**अप्या धरुद् विमलु महं, भयमल जंति पद्मेयि ॥ ३२० ॥**

परमसमाधिमासरति ये मुहंति प्रविश्य ।

आत्मा निष्ठति विमलः तेषां भवमलानि याति वहित्वा ॥ ३२० ॥

जे पुहुहिं वे कंचन पुण्या ममा भवंति । क । परमसमाहिमहासरहिं परम-  
 माधिमासरोबरे । विहृत्वा ममा भवंति । पद्मेयि प्रविश्य सर्वासुप्रदेशैरवगाहा अप्या  
 धरुद् विद्वान्देवत्वभावः परमान्ता निष्ठति । कथंभूतः । विमलु द्रव्यकर्मनो कर्ममतिज्ञा-  
 नान्निविभावगुणनरनारवारिविभावपर्यायमलरहितः सहं तेषां परमसमाधिरतपुरुषाणां  
 भयमल जंति भवमलान् शुद्धान्मद्रव्याद्विलक्षणानि यानि कर्माणि भवमलकारणभूतानि  
 गच्छंति । विहृत्वा । पद्मेयि शुद्धपरिणामनीरप्रवादेण प्रहितत्वेनेति भावार्थः ॥ ३२० ॥

अथ,—

**सयलविषयपहं जो विलड, परमसमाहि भणंति ।**

**तेण सुहासुहभाषटा, मुणि सयलयि मिहंति ॥ ३२१ ॥**

गमन हो समाधि गरण हो और त्रिनराजके गुणोंकी संपत्ति मुशको हो । यह भावना चौथे  
 पांचवें छठे गुणस्वानमें करने योग्य है तो भी ऊपरके गुणस्वानोंमें वीतरागनिर्विकल्प-  
 समाधिके समय नहीं होती ॥ ३१९ ॥

आगे चौबीस दोहाओंके स्वल्पमें परमसमाधिके व्याख्यानकी मुख्यतासे छह दोहायूत्र  
 करते हैं;—[ ये ] जो कोई महान् पुरुष [ परमसमाधिमासरति ] परमसमाधिरूप  
 सरोवरमें [ प्रविश्य ] घुसकर [ मुहंति ] मग होते हैं उनके सब प्रदेश समाधिरसमें  
 भाग जाते हैं [ आत्मा निष्ठति ] उन्हींके चिदानन्द जखट स्वभाव आत्मका ध्यान स्थिर  
 होता है । जो कि आत्मा [ विमलः ] द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्ममें रहित महानिमल है  
 [ तेषां ] जो योगी परमसमाधिमें रहते हैं उन्हीं पुरुषोंके [ भवमलानि ] शुद्धान्मद्रव्यमें  
 विपरीत अशुद्धभावके कारण जो कर्म हैं वे सब [ विहृत्वा याति ] शुद्धान्मपरिणामरूप  
 जो जलका प्रवाह उससे बह जाते हैं । भावार्थ—जहां जलका प्रवाह जावे वहां मल कैसे  
 रह सकता है कभी नहीं रहता ॥ ३२० ॥



करंतुपि दुर्वांगोपि । किं । तपश्चरणं समस्तपरद्रव्येच्छावर्जितं तपश्चरणं । कथंभूतं ।  
 पौरं पौरं दुर्वां वृक्षगूलापनादिरूपं । न केवलं तपश्चरणं दुर्बलं । सत्यतपि सत्य  
 हृत्तुं शास्त्रजितविकल्पतात्पर्यरहितान् परमात्मरूपात्मतपश्चरुतानि सर्वशास्त्राण्यपि  
 जानन् । इयंभूतोपि सम परमगमाधिविबलियुत यदि वेदागादिविकल्परहितपरमसमा-  
 धिविबलिनो भवति तर्हि णपि देग्इ सिउ न पश्यति । कं । शिवं शिवशब्दवाच्यं विदु-  
 ष्मानदर्शनस्यभाषं इदेहस्यमपि च परमात्मानं । कथंभूतं । संतु रागद्वेषमोहरहितत्वेन  
 शांतं परमोपशमरूपमिति । इदमत्र तात्पर्यं । यदि निजगुणात्मैवोपादेय इति मत्वा तत्सा-  
 दृशत्वेन तदगुणत्वं तपश्चरणं करोति तत्परिज्ञानसाधकं च पठति तदा परंपरया मोक्षसा-  
 धकं भवति, नोपेन् पुण्यबंधधारणं तमेवेति । तथाचोक्तं । निर्विकल्पसमाधिरहिताः संतः  
 भाजरूपं न पश्यन्ति । “आनंदं ब्रह्मणो रूपं निजदेहे व्यवस्थितं । ध्यानहीना न पश्यन्ति  
 ज्ञानंधा इव भास्करम्” ॥ ३२२ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि जो परमसमाधिके बिना शुद्ध आत्माको नहीं देस सकता;—  
 [ पौरं तपश्चरणं दुर्वाणोपि ] जो मुनि गहा दुर्बर तपश्चरण करता हुआ भी और  
 [ शकलानि शास्त्राणि ] सष शास्त्रोंको [ मन्वानः अपि ] जानता हुआ भी [ परमस-  
 माधिविबलितः ] जो परमगमाधिसे रहित है वह [ शांतं शिवं ] शांतरूप शुद्धात्माको  
 [ नैव पश्यति ] नहीं देस सकता । भावार्थ—तप उसे कहते हैं कि जिममें किसी  
 वस्तुकी इच्छा न हो । सो इच्छाका अभाव तो हुआ नहीं परंतु कायकेश करता है;  
 शीतकालमें नदीके तीर, भीष्मकालमें पर्वतके शिखरपर और वर्षाकालमें वृक्षकी मूलमें  
 मदान दुर्बर तप करता है । फेवल तप ही नहीं करता शास्त्र भी पढता है । सकल  
 शास्त्रोंके प्रबंधसे रहित जो निर्विकल्प परमात्मस्वरूप उससे रहित हुआ सीखता है  
 शास्त्रोंका रहस्य जानता है परंतु परमसमाधिसे रहित है अर्थात् रागादि विकल्पसे रहित  
 समाधि जिसके प्रगट न हुई तो वह परमसमाधिके बिना तप करता हुआ और मुत  
 पढता हुआ भी निर्मल ज्ञान दर्शनरूप तथा इस देहमें विराजमान ऐसे निजपरमात्माको  
 नहीं देख सकता । जो आत्मस्वरूप रागद्वेषमोह रहित परमशांत है । परमसमाधिके बिना  
 तप और श्रुतसे भी शुद्धात्माको नहीं देस सकता । जो निज शुद्धात्माको उपादेय जान-  
 कर ज्ञानका साधक तप करना है और ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय जो जैनशास्त्र उनको  
 पढता है तो परंपरा मोक्षका साधक है । और जो आत्माके श्रद्धान बिना कायकेशरूप  
 तप ही करे तथा शब्दरूप ही श्रुत पढे तो मोक्षका कारण नहा है पुण्यबंधके कारण  
 होते हैं । ऐसा ही परमानंद श्लोकमें कहा है कि जो निर्विकल्प समाधिमें रहन जीव है वे  
 आत्मस्वरूपको नहीं देखसकते । ब्रह्मका रूप आनंद है वह ब्रह्म निज देहमें मौजूद है



णयः—

विषयकपाययि णिहल्लिचि, जे ण समाधिं कंति ।  
ते परमप्पहं जोइया, ण यि आराहय होंति ॥ ३२३ ॥

विषयकपायानपि निर्मूल्य मे न ममाधिं कुर्वन्ति ।

ते परमात्मनः योगिन् नैव आराधका भवन्ति ॥ ३२३ ॥

जे ये केचन ण कंति न कुर्वन्ति । कं । समाधिं त्रिगुत्रिगुणपरमममाधिं । ति-  
कृत्वा पूर्वं । णिहल्लिचि निर्मूल्य । कानपि विषयकपाययि निर्मित्यकपायान् शुद्धात्मन्कार-  
प्रतिपक्षभूतान् विषयकपायानपि ते णयि आराहय होंति ते नैराधका भवन्ति और  
हे योगिन् । कस्याराधका न भवन्ति । परमप्पहं निर्दोषिपरमात्मन इति । तथाहि ।  
विषयकपायानिष्टित्तरूपं शुद्धान्मानुभूतिस्वभावं वैराग्यं शुद्धात्मोपलब्धिस्वरूपं तत्त्वविज्ञानं  
वाद्याभ्यंतरपरिग्रहपरित्यागरूपं नैर्प्रथ्यं निश्चिन्तामानुभूतिरूपा वशचित्तना वीतरागनिर्विक-  
ल्पसमाधिप्रद्विहंगसहकारिभूतं जितपरीपहत्वं चेति पंचैतान् ध्यानहेतून् ज्ञात्वा भावयित्वा  
च ध्यानं कर्तव्यमिति भावार्थः । तथा चोक्तं । "वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्प्रथ्यं वशचि-  
त्तता । जितपरीपहत्वं च पंचैते ध्यानहेतवः" ॥ ३२३ ॥

परंतु ध्यानसे रहित जीव ब्रह्मको नहीं देखसकते, जैसे जन्मका अंधा सूर्यको नहीं देख  
सकता है ॥ ३२२ ॥

आगे विषयकपायोंका निषेध करते हैं;—[ ये ] जो [ विषयकपायानपि ] समा-  
धिको धारणकर विषयकपायोंको [ निर्मूल्य ] मूलसे उखाड़कर [ समाधिं ] तीन गुणि-  
रूप परमसमाधिको [ न कुर्वन्ति ] नहीं धारण करते [ ते ] वे [ योगिन् ] हे योगी  
[ परमात्मारोधकाः ] परमात्माके आराधक [ नैव भवन्ति ] नहीं हैं । भावार्थ—ये  
विषय कपाय शुद्धात्म तत्त्वके शत्रु हैं जो इनका नाश न करे वह स्वरूपका आराधक  
कैसा । स्वरूपको वही आराधता है जिसके विषयकपायका प्रसंग न हो सब दोषोंसे रहित  
जो निज परमात्मा उसकी आराधनाके घातक विषयकपायके सिवाय दूसरा कोई भी नहीं  
है । विषयकपायकी निष्टित्तरूप शुद्धात्माकी अनुभूति वह वैराग्यसे ही देखी जाती है ।  
इसलिये ध्यानका मुख्य कारण वैराग्य है । जब वैराग्य हो तब तत्त्वज्ञान निर्मल हो, सो  
वैराग्य और तत्त्वज्ञान ये दोनों परस्परमे मित्र हैं । ये ही ध्यानके कारण हैं और  
वाद्याभ्यंतर परिग्रहके त्यागरूप निर्धैथपना वह ध्यानका कारण है । निश्चिन्ता आत्मानुभूति  
ही है स्वरूप जिनका ऐसा जो मनका वश होना वह वीतरागनिर्विकल्पसमाधिका सहकारी  
है और बार्दस परीपहोंका जीनना वह भी ध्यानका कारण है । ये पांच ध्यानके कारण  
जानकर ध्यान करना चाहिये । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि समार शरीरभोगोंसे

अथ,—

परमसमाधि धरेषु मृगि, ते परमं न जंति ।

ते परमदुःखं बहुविधं, कालं अर्णतु महंति ॥ ३२४ ॥

परमात्माधि धृत्वापि मुनयः ये परमं न याति ।

ते भवदुःखानि बहुविधानि कालं अनंतं सहंते ॥ ३२४ ॥

जो वे केवल मृगि मुनयः न जंति न गच्छति । कं बसेत्परमं । परमं च परमस्य परमस्य परमस्य परमं निजदेहं केवलनाशनाशमुक्तवर्ष परमात्मरूपं । किं कृत्वा पूर्वं । परमसमाधि धरेषु बीतरागविवेकविदानदेवानुभूतिरूपं परमसमाधि धृत्वा ते पूर्वोक्त-दुःखभावनारहितः पुण्याः महंति महंते । कानि कर्मतापत्रानि । भवदुःखस्य बीतरागपरमात्मात्मनः परमाधिकमुत्पत्तिपदभूतानि नानारकारिभवदुःखानि । कतिसं-करोष्येमानि । बहुविधं शारीरमात्मसाधनेन बहुविधानि । कियंतं कालं । कालं अर्णतु अनंतकालपर्यन्तमिति । अनेकं व्याख्यानं कृत्वा निजमुक्तात्मनि स्थित्वा रागद्वेषादिमम-त्विभावनागेन भावना कर्तव्येति तावयंम ॥ ३२४ ॥

अथ,—

जामु मुहामुहभायटा, णपि मयलपि मुहंति ।

परमसमाधि ण तामु मणि, केमुदि एमु भणति ॥ ३२५ ॥

विरहता, लक्षविज्ञान, सकल्पपरिमदका त्याग, मनका वश करना और धार्मिक परीषदका जीवन—ये सब आत्मध्यानके कारण हैं ॥ ३२३ ॥

आगे परमसमाधिकी गतिमा कहते हैं—[ ये मुनयः ] जो कोई मृगि [ परमसमाधि ] परमसमाधिकी [ धृत्वापि ] धारण करके भी [ परमस्य ] निज देहमें ठहरे हुए केवल-शानादि अनंतगुणरूप निज आत्माको [ न याति ] नहीं जानते हैं [ ते ] वे शुद्धात्म-भावनामें रहित पुरुष [ बहुविधानि ] अनेक प्रकारके [ भवदुःखानि ] नारकादि भवदुःख आधि व्याधिरूप [ अनंतं कालं ] अनंत काल तक [ सहंते ] भोगते हैं ।  
 भाषार्थ—मनके दुःखको आधि कहते हैं और सनसंधी दुःखको व्याधि कहते हैं, इन नानाप्रकारके दुःखको अजानी जीव भोगता है । ये दुःख बीतराग परम आकाशरूप जो परमाधिक मुख उमसे विमुक्त हैं । यह जीव अनंतकाल तक निज स्वरूपके ज्ञान बिना धारो गतिबोधके नानाप्रकारके दुःख भोग रहा है । ऐसा व्याख्यान जानकर निज शुद्धात्ममें स्थिर होके रागद्वेषादि समस्त विभावोका त्यागकर निज स्वरूपकी ही भावना करनी चाहिये ॥ ३२४ ॥

यावत् शुभाशुभभावाः नैव सकला अपि शुश्रूषन्ति ।

परमसमाधिर्न तावत् मनसि केवलिन एवं भणन्ति ॥ ३२५ ॥

जामु इत्यादि । जामु यावत्कालं णधि तुष्टीति नैव नश्यन्ति । के कर्तारः । मुहासु-  
हभावडा शुभाशुभविकल्पजालरहितान् परमात्मद्रव्याद्विपरीताः शुभाशुभभावाः परि-  
णामाः । कतिसंख्योपेता अपि । सयलयि समस्ता अपि तामु ण तावत्कालं न । कोसौ ।  
परमसमाहि शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपः शुद्धोपयोगलक्षणः परमसमाधिः ।  
क । मणि रागादिविकल्परहितत्वने शुद्धचेतसि केचुलि एमु भणन्ति केवलिनो वीतराग-  
सर्वज्ञा एवं कथयन्तीति भावार्थः ॥ ३२५ ॥ इति चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थल-  
मध्ये परमसमाधिप्रतिपादकसूत्रपट्टेन प्रथममंतरस्थलं गतं ।

तदनंतरमर्हत्पदमिति भावमोक्ष इति जीवन्मोक्ष इति केवलज्ञानोत्पत्तिरिलोकोर्येः तस्य  
चतुर्विधनामभिधेयस्वार्हत्पदस्य प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यंतं व्याख्यानं करोति ।  
तद्यथा;—

सयलयिघप्पहं तुट्टाहं, सिधपयमग्गि वसंतु ।

कम्मचउक्कइ विलउ गइ, अप्पा हुइ अरहंतु ॥ ३२६ ॥

सकलविकल्पानां शुश्रूषतां शिवपदमार्गे वसन् ।

कर्मचतुष्के विलयं गते आत्मा भवति अर्हन् ॥ ३२६ ॥

हुइ भवति । कोसौ । अप्पा आत्मा । कथंभूतो भवति । अरहंतु अरिमोहनीयं कर्म  
तस्य हननात् रजसी ज्ञानदृगावरणे तयोरपि हननात् रहस्यशब्देनांतरायस्तद्रभावाच्च देवेंद्रा-  
दिविनिर्मितामतिशयवतीं पूजामर्हतीत्यर्हन् । कस्मिन् सति । कम्मचउक्कइ विलउ गइ

आगे यह कहते हैं कि जबतक इस जीवके शुभाशुभभाव सब दूर न हों तबतक  
परम समाधि नहीं होसकती;—[ यावत् ] जब तक [ सकला अपि ] समस्त [ शुभा-  
शुभभावाः ] सकल विकल्पजालसे रहित जो परमात्मा उससे विपरीत शुभाशुभ  
परिणाम [ नैव शुश्रूषन्ति ] दूर न हों नहीं मिटें [ तावत् ] तबतक [ मनसि ] रागादि-  
विकल्परहित शुद्ध चित्तमें [ परमसमाधिः न ] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप शुद्धोपयोग  
जिमका लक्षण है ऐसी परमसमाधि इस जीवके नहीं होसकती [ एवं ] ऐसा [ केवलिनः ]  
केवली भगवान् [ भणन्ति ] कहते हैं । भावार्थ—शुभाशुभ विकल्प जब मिटें तभी  
परमसमाधि होवे ऐसी जिनेश्वरदेवकी आज्ञा है ॥ ३२५ ॥ इस प्रकार चौबीस दोहाओंके  
महास्थलमें परमसमाधिके कथनरूप उह दोहाओंका अंतरस्थल गया ।

आगे तीन दोहाओंमें अर्हत्पदका व्याख्यान करने हैं, अरहन् पद कहो या भाव-  
मोक्ष कहो, अथवा जीवन्मोक्ष कहो या केवलज्ञानकी उत्पत्ति कहो—ये चारों अर्थ एकदो  
ही सूचित करते हैं अर्थात् चांगे शब्दोंका अर्थ एक है, —[ कर्मचतुष्के विलयं गते ]

एतद्वदन्त्येव विनश्यन्ते मते मति । किं बुद्धं मन पूर्व । शिवपदमग्निं यस्तु शिवशब्द-  
 रूपं शम्भोऽपदं मध्य योगी शम्भुदर्शनज्ञानचारित्र्यैकलक्षणो मागंभूमिन् वरान्  
 मत् । केचो मर्ता । शयनदियपदं तुष्टार्हं समस्तविकल्पानां नष्टानां समस्तारागदिविक-  
 ल्पानिनामाद्वैतं भवतीति भावार्थः ॥ ३२६ ॥

अथ,—

केषाट्ठणाणि अणवरुड, लोपालोड मुणंतु ।

णियमं परमाणंदमड, अप्पा इह अरहंतु ॥ ३२७ ॥

केवलज्ञानेनानवरतं लोकालोकं जानन् ।

नियमेन परमानंदमयः आत्मा भवति अर्हन् ॥ ३२७ ॥

इह भवति । शोभा । अप्पा आत्मा । कथंभूतो भवति अरहंतु पूर्वोक्तलक्षणो अर्हन् ।  
 किं बुद्धं । लोपालोड मुणंतु समकरणव्यवधानरहितत्वेन कालप्रयत्नपरं लोकालोकं  
 वायु वायुगुरुत्वेण युगपत् जानन् मन । केन । केवलज्ञानेन लोकालोकप्रकाशकसकलविम-  
 लकेषाट्ठानेन । कथं । अणवरुड निरंतरं । विविदिष्टो भवति भगवान् । परमाणंदमड  
 योगरागपरमममर्गीभावतःक्षणतास्विकपरमानंदमयः । केन । नियमं निश्चयेनात्र संदेहो  
 न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ३२७ ॥

शानावरणी दर्शनावरणी मोहनी और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके नाश होनेसे  
 [ आत्मा ] यह जीव [ अर्हन् भवति ] अर्हत होता है अर्थात् जब घातियाकर्म विलय  
 हो जाते हैं तब अरहंतपद पाता है देवेंद्रादिकर पूजाके योग्य हो यह अरहंत है क्योंकि  
 पूजायोग्यको ही अर्हत कहते हैं । पहले तो महामुनि हुआ [ शिवपदमार्गं वसन् ]  
 मोक्षपदके मार्गरूप सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यं ठहरता हुआ [ सकलविकल्पानां ] समस्त  
 रागादिविकल्पोका [ युष्टार्ता ] नाश करता है अर्थात् जब समस्तारागादि विकल्पोका  
 नाश हो जाये तब निर्विकल्प ध्यानके प्रसादसे केवलज्ञान होता है । केवलज्ञानीका नाम  
 अर्हत है चाहे उसे जीवन्मुक्त कहो । जब अरहंत हुआ तब भाय मोक्ष हुई पीछे चार  
 अघातियाओंको नाशकर सिद्ध हो जाता है । सिद्धको विदेहमोक्ष कहते हैं । यही मोक्ष  
 होनेका उपाय है ॥ ३२६ ॥

अथ केवलज्ञानकी ही गहिमा कहते हैं:—[ केवलज्ञानेन ]

लोकं लोक अलोकको [ अनवरतं ] निरंतर [ जानन् ]

निश्चयसे [ परमानंदमयः ] परम आनंदमई [ अप्पा ]

दमं [ अर्हन् ] अर्हत [ भवति ] ॐ ।

लोका-

]

त्रपके प्रसा-

लोकको एक ही

अथ;—

जो जिणु केवलणाणमउ, परमाणंदसहाउ ।

सो परमप्पउ परमपउ, सो जिय अप्पसहाउ ॥ ३२८ ॥

यः जिनः केवलज्ञानमयः परमानंदस्वभावः ।

सः परमात्मा परमपरः स जीव आत्मस्वभावः ॥ ३२८ ॥

जो इनादि । जो यः जिणु अनेकभयगाहनज्यमनभाषणदेनून् कर्मोरातीन् जयनीति जिनः । कथंभूतः । केवलणाणमउ केवलज्ञानाविनाभूतानंतगुणमयः । पुनरपि कथंभूतः । परमाणंदसहाउ इंद्रियविषयातीतः स्यात्सोऽथः रागादिविकल्परहितः परमानंदस्वभावः सो परमप्पउ स पूर्वोक्तोऽर्हंभर परमात्मा परमपरः प्रकृतानंतज्ञानादिगुणरूपा मालक्ष्मीयंभ स भवति परमः संसारिभ्यः पर उच्छृष्टः पर इत्युच्यते परमश्रीमौ परअ परमपरः सो स पूर्वोक्तो बीतगतः सर्वज्ञः जिय हे जीव अप्पसहाउ आत्मस्वभाव इति । अथ योगी पूर्वोक्तमनितो भगवान् स एव संसारारस्थायां निश्चयेन शक्तिरूपेण जित इत्युच्यते । केवलज्ञानारस्थायां व्यक्तिरूपेण च । तथैव च परमत्रयादिशब्दवाच्यः स एव तदपः

समयमें केवल ज्ञानमें जानना हुआ अर्हंत कहलाता है । जिसका ज्ञान जाननेके क्रममें रहित है । एव ही समयमें समस्तलोकलोकको प्रत्यक्ष जानना है आगे पीछे नहीं जानना । सब धर्म सब काल सब भावको निरंतर प्रत्यक्ष जानना है । जो केवली भगवान परम अनंदमई है । बीतगत परम समरणी भावरूप जो परम आनंद अनिद्रिय अविनाशी सुख वही शिष्या लक्षण है । निश्चयमें ज्ञानानंद स्वरूप है इसमें संदेह नहीं है ॥ ३२७ ॥

अने ऐसा कहने हैं कि केवलज्ञान ही आत्माका निजस्वभाव है और केवलीको ही परमात्मा कहने हैं;—[ यः जिनः ] जो अनंत सागररूपी बनेके भ्रमणके कारण ज्ञान-व्यभिच अष्ट कर्षकी वेग उत्पन्न अतीतेशः वर [ केवलज्ञानमयः ] केवलज्ञानादि अनेक गुणमई है [ परमानंदस्वभावः ] और इंद्रियविषयमें रहित आभीष्टगणादि विहसने रहित परमानंद ही शिष्या स्वभाव है ऐसा जिनेश्वर केवलज्ञानमई अर्हंत देव [ सः ] वही [ परमात्मा ] उच्छृष्ट अनंत ज्ञानादि गुणरूपरश्मीशः अपना परमात्मा है । उच्छृष्टोऽथः सः कहने हैं [ अर्हंत ] हे जीव वही [ परमपरः ] संसारियोंमें उच्छृष्ट है ऐसा जो भगवान वर तो आत्मस्वभाव है और [ स आत्मस्वभावः ] वर आत्मस्वभाव ही स्वभाव है । सवार्थ—समस्त भगवानमें निश्चयतयका शक्तिरूपी शिष्या-स्वभाव है इत्यनेन समस्तका आत्मस्वभाव जित कर्षा है और केवलीका आत्मस्वभाव वही है । प्रकृत देव स्वभाव ऐसा भगवान है ऐसा ही सब जीव है इस तरह निश्चयतयका शिष्या-स्वभाव वर परमपरवही वही परम परमानंद स्वभाव है :—अथ निश्चयतयका शिष्या-स्वभाव

कल्पयन् कथयति । निश्चयनयेन सर्वे जीवा जिनस्वरूपाः जिनोपि सर्वजीवरूप इति भावार्थः । तथा चोगं । "जीवा जिनवर जो मुण्ह जिगवर जीव मुण्ह । सो समभावि परिदुय्यत्तं तु पिज्जाणु एदेह" ॥ ३२८ ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये कर्णद्वयप्रकाशकनमुण्यत्वेन सूत्रप्रयोगे द्वितीयमंतरस्थलं गतं ।

आ उभ्वं परमात्मप्रकाशाशब्दस्वार्थकथनमुण्यत्वेन सूत्रप्रयपर्यंतं व्याख्यानं करोति एतदा;—

सपल्लहं कम्महं दोसहं पि, जो जिणुदेउ विभिण्णु ।

सो परमप्पपयासु तुहं, जोहय णियमं भण्णु ॥ ३२९ ॥

सकलेभ्यः कर्मभ्यः दोषेभ्यः अपि यो जिनदेवः विभिन्नः ।

तं परमात्मप्रकाशं त्वं योगिन् नियमेन मन्यस्य ॥ ३२९ ॥

सो सं परमप्पपयासु परमात्मप्रकाशसंतं तुहं त्वं कर्ता मण्णु मन्यस्य जानीहि जोहय दे योगिष् णियमं निश्चयेन । स कः । जो जिणुदेउ यो जिनदेवः । क्विविशिष्टः । विभिण्णु विनोपेण भिन्नः । कर्मभ्यः । मयलहं कम्महं रागादिरहितचिदानंदैकस्वभावपरमात्मनो यानि भिन्नानि सर्वकर्मोणि तेभ्यः । न केवलं कर्मभ्यो भिन्नः । दोसहंवि टंको-तीर्णक्षयकैवल्यभावस्य परमात्मनो येऽनंतज्ञानतुरगादिगुणास्तत्प्रच्छादका ये दोषालेभ्योपि भिन्न इत्यभिप्रायः ॥ ३२९ ॥

सब जीवोंके हैं सभी जीव जिनसमान हैं और जिनराज भी जीवोंके समान हैं ऐसा जानना । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है । जो सम्यग्दृष्टि जीवोंको जिनवर जानें और जिनवरको जीव जानें जो जीवोंकी जाति है वही जिनवरकी जाति है और जो जिनवरकी जाति है वही जीवोंकी जाति है ऐसे महासुनि द्रव्यार्थिकनयकर जीव और जिनवरमें जातिभेद नहीं मानते ये मोक्ष पाते हैं ॥ ३२८ ॥ इसप्रकार चौबीस दोहाओंके महास्थलमें आरहतदेवके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहाओंमें दूसरा अंतरस्थल कहा ।

आगे परमात्माप्रकाश शब्दके अर्थके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहा कहते हैं;—  
[ सकलेभ्यः कर्मभ्यः ] ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोति [ दोषेभ्यः अपि ] और सब गुहादि अटारह दोषोंसे [ विभिन्नः ] रहित [ यः जिनदेवः ] जो जिनेश्वरदेव है [ तं ] उसको [ योगिन् त्वं ] हे योगी तू [ परमात्मप्रकाशं ] परमात्माप्रकाश [ नियमेन ] निश्चयसे [ मन्यस्य ] मान । अर्थात् जो निर्दोष जिनेश्वर है वही परमात्माप्रकाश है । भावार्थ—सगादि रहित चिदानंद स्वभाव परमात्मामे भिन्न जो सब कर्म वे ही ससारके मूल हैं । जगतके जीव तो कर्मोंकर रहित है और भगवान जिनराज इनमें मुक्त हैं और सब दोषोंसे रहित है । ये दोष सब ससारी जीवोंके लगरहें हैं, ज्ञायकत्वभाव आत्माके अनंत

अथ;—

केवलदंसणु णाणु सुहु, वीरिउ जो जि अणंतु ।

सो जिणदेउवि परममुणि, परमपयासु मुणंतु ॥ ३३० ॥

केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं य एव अनंतं ।

स जिनदेवोपि परममुनिः परमप्रकाशं मन्यमानः ॥ ३३० ॥

सो जिणदेउवि स जिनदेवोपि एवं भवति । न केवलं जिनदेवो भवति । परममुनि परम उच्छ्रो मुनिः प्रज्ञाशानी । किं कुर्वन् सन् । मुणंतु मन्यमानो जानन् सन् । कं । परमपयासु परममुक्कष्टं लोकालोकप्रकाशकं केवलज्ञानं यस्य स भवति परमप्रकाशं परमदधानं । स कः । केवलदंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि केवलज्ञानदर्शनमुत्तरीय-  
नरूपं य एव । कथंभूतं तत् केवलज्ञानादिषुष्यं । अणंतु युगपदनंतद्रव्यशेषकालमात्र-  
वर्षादिभेदादिनिषेधाच्चानंतमिति भावार्थः ॥ ३३० ॥

अथ,—

जो परमपणउ परमपउ, हरि हर संभुवि बुद्धु ।

परमपयासु भणंति मुणि, सो जिणदेउ विमुहु ॥ ३३१ ॥

यः परमात्मा परमपदः हरिः हरः अत्रापि बुद्धः ।

परमप्रकाशं भणति मुनयः स जिनदेवो विमुद्धः ॥ ३३१ ॥

अनंति कथयंति । के ते । अणि मनयः प्रज्ञाशानिनः । कथंभूतं भणंति । परमपयासु

परमप्रकाशः । यः कथंभूतः । जो परमप्यु यः परमात्मा । पुनरपि कथंभूतः । परमपुत्र  
परमानन्दज्ञानादिगुणाभारत्वेन परमपदव्यभावः । पुनरपि किंविशिष्टः । हरि हरिसंज्ञः हर  
मदेधराभिधानः शंभुवि परमप्रकाशभिधानोपि बुद्धु बुद्धः सुगतसंज्ञः सो जिणदेव स एव  
पूर्वोक्तः परमात्मा जिनदेवः । किंविशिष्टः । विमुद्दु समलरागादिदोषपरिहारेण शुद्ध  
इति । अत्र य एव परमात्मप्रकाशसंज्ञो निर्दोषिपरमात्मा व्याख्यातः स एव परमात्मा, स  
एव परमपदः, स एव विष्णुसंज्ञः, स एवेधराभिधानः, स एव ब्रह्मशब्दवाच्यः स एव  
सुगतसंज्ञाभिधेयः, स एव जिनेश्वरः, स एव विमुद्दु इत्याद्यष्टाधिकसहस्रनामाभिधेयो  
भवति । नानागुणीनां जनानां तु कस्यापि केनापि विवक्षितेन नाम्नाराध्यः स्यादिति  
भावार्थः । तथा श्लोकः । “नामाष्टकसहस्रेण युक्तं मोक्षपुरेश्वर” इत्यादि ॥ ३३१ ॥ एवं  
चतुर्विंशतिमूत्रप्रमितमहात्म्यलभ्ये परमात्मप्रकाशसंज्ञार्थकथनमुख्यत्वेन सूत्रप्रयेण तृतीय-  
मंतरस्थलं गतम् ।

तदनंतरं निदम्बरूपकथनमुख्यत्वेन सूत्रप्रयपर्यंतं व्याख्यानं करोति तथायाः—

ज्ञानिं कम्मफलं करियि, मुक्खं होइ अणंतु ।

जिणपरदेवइं सो जि जिय, पभणित सिद्ध महंतु ॥ ३३२ ॥

ध्यानेन कर्मक्षयं कृत्वा मुक्तो भवति अनंतः ।

जिनवरदेवेन स एव जीव प्रमणितः सिद्धो महान् ॥ ३३२ ॥

हरि महादेव ब्रह्मा [ बुद्धः परमप्रकाशः भवति ] बुद्ध और परमप्रकाश नामसे कहते हैं  
[सः] यह [ विमुद्दुः जिनदेवः ] रागादि रहित शुद्ध जिनदेव ही हैं उसीके ये सब नाम  
हैं । भावार्थ—प्रत्यक्षज्ञानी उसे परमानन्द ज्ञानादिगुणोंका आधार होनेसे परमपद कहते  
हैं । वही विष्णु है वही महादेव है उसीका नाम पर ब्रह्म है, सबका शायक होनेसे  
बुद्ध है, सबमें व्यापक ऐसा जिनदेव देवाधिदेव परमात्मा अनेक नामोंसे गाया जाता  
है । समस्त रागादिक दोषके न होनेसे निर्मल है ऐसा जो अरहंत देव वही परमात्म-  
प्रकाश है । निर्दोष परमात्माका व्याख्यान करनेसे वही परमात्मा परमपद, वही विष्णु,  
वही ईश्वर, वही ब्रह्म, वही शिव, वही सुगत, वही जिनेश्वर और वो ही विमुद्दु-  
इत्यादि एक हजार आठ नामोंसे गाया जाता है । नानारुचिके धारक ये संसारी जीव ये  
नानाप्रकारके नामोंसे जिनराजको आराधते हैं । ये नाम जिनराजके सिवाय दूसरेके नहीं  
हैं । ऐसा ही दूसरे ग्रंथोंमें भी कहा है— एक हजार आठ नामों सहित यह मोक्ष-  
पुरका स्वामी उसकी आराधना सब करते हैं । उसके अनंत नाम और अनंतरूप हैं ।  
बाह्यमें नामसे रहित रूपसे रहित ऐसे अगवान डेबको हे प्राणियों तुम आराधो ॥ ३३१ ॥  
इसप्रकार चौबीस दोहाओंके महात्म्यमें परमात्मप्रकाश शब्दके अर्थको मुख्यतामें तीन  
दोहापर्यंत तीसरा अंतरस्थल कहा ।



अथ;—

केवलदंसणु णाणु सुहु, वीरिउ जो जि अणंतु ।

सो जिणदेउवि परममुणि, परमपयासु मुणंतु ॥ ३३० ॥

केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं: य एव अनंतं ।

स जिनदेवोपि परममुनि: परमप्रकाशं मन्यमान: ॥ ३३० ॥

सो जिणदेउवि स जिनदेवोपि एवं भवति । न केवलं जिनदेवो भवति । परममुणि परम उत्कृष्टो मुनि: प्रत्यक्षज्ञानी । किं कुर्वन् सन् । मुणंतु मन्यमानो जानन् सन् । कं । परमपयासु परममुत्कृष्टं लोकालोकप्रकाशकं केवलज्ञानं यस्य स भवति परमप्रकाशं परमप्रकाशं । स कः । केवलदंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि केवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपं य एव । कथंभूतं तन् केवलज्ञानादिचतुष्टयं । अणंतु युगपदनंतद्रव्यक्षेत्रकालभावपरिच्छेदकत्वादविनश्रत्वाद्यानंतमिति भावार्थः ॥ ३३० ॥

अथ;—

जो परमप्पउ परमपउ, हरि हर पंसुवि बुद्धु ।

परमपयासु भणंति मुणि, सो जिणदेउ विसुद्धु ॥ ३३१ ॥

यः परमात्मा परमपदः हरिः हरः ब्रह्मापि बुद्धः ।

परमप्रकाशं भणंति मुनयः स जिनदेवो विशुद्धः ॥ ३३१ ॥

भणंति कथयंति । के ते । मुणि मुनयः प्रत्यक्षज्ञानिनः । कथंभूतं भणंति । परमपयासु

ज्ञान सुखादि गुणोक्तं आच्छादक है । उन दोषोंसे रहित जो सर्वज्ञ वही परमात्मप्रकाश है योगीश्वरोंके मनमें ऐसा ही निश्चय है । श्रीगुरु शिष्यसे कहते हैं कि हे योगिन तू निश्चयसे ऐसा ही मान यही सत्पुरुषोंका अभिप्राय है ॥ ३२९ ॥

किर भी इसी कथनको दृढ करते हैं;—[केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं:] केवल दर्शन केवल ज्ञान अनंतसुख अनंतवीर्य [यदेव अनंतं] ये अनंतचतुष्टय त्रिमके ही [स जिनदेवः] वही जिनदेव है [परममुनिः] वही परममुनि अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानी है । क्या करना संता । [परमप्रकाशं मन्यमानः] उत्कृष्ट लोकालोकका प्रकाशक जो केवल ज्ञान वही त्रिमके परमप्रकाश है उसमें सकल द्रव्य क्षेत्र काल भव भावको जानना हुआ परमप्रकाशक है । ये केवल ज्ञानादि अनंत चतुष्टय एक ही समयमें अनंतद्रव्य अनंतक्षेत्र अनंतकाल और अनंतभावोंको जानने हैं इसलिये अनंत हैं अविनश्र है इनका अंत नहीं है ऐसा जानना ॥ ३३० ॥

आगे जिनदेवके ही अनेक नाम हैं ऐसा निश्चय करने हैं;—[यः] त्रिम [परमात्मा] परमपदः [मुनयः] मुनि [परमपदः] परमपद [हरिः हरः] प्रसा प्रति

परमपदाः । यः कथंभूतः । जो परमपद उच्यते । पुनरपि कथंभूतः । परमपद  
परमानन्दज्ञानादिगुणाधारत्वेन परमपदग्रभाषः । पुनरपि निविशिष्टः । हरि हरिसंतः हर  
मदेभगाभिधानः संभुवि परममन्त्राभिधानोपि बुद्ध बुद्धः गुणतसंतः सो जिणदेव एव  
पूर्वोक्तः परमात्मा जिनदेवः । निविशिष्टः । विमुद्धु समहारागारिवोपपरिदारेण ह्य  
इति । अत्र ए एव परमात्मप्रकाशसंज्ञो निर्दोषिपरमात्मा व्याख्यातः स एव परमात्मा, स  
एव परमपदः, स एव विष्णुसंतः, स एवेभराभिधानः, स एव ब्रह्मसम्पदाः स एव  
गुणतसन्त्राभिधेयः, स एव जिनेश्वरः, स एव विमुद्धु इत्यादिभिक्तसद्वत्तनामाभिधेयो  
भवति । नानाकृतीनां जनानां तु कस्यापि केनापि विवक्षितेन नामाराध्यः स्यादिति  
भावार्थः । तथा चोक्तं । “नामाष्टकसद्वत्तरेण युक्तं मोक्षपुरेश्वरं” गितारि ॥ ३३१ ॥ एवं  
चतुर्विंशतिमूर्तिप्रमितमहासहस्रमध्ये परमात्मप्रकाशस्यार्थकधनमुत्पत्त्येन सूत्रप्रयेण तृतीय-  
मंतरस्थले गतम् ।

तदनंतरं गिद्धम्यरूपकथनमुत्पत्त्येन सूत्रप्रयपर्यंतं व्याख्यातं करोति तद्यथा;—

ज्ञानिं कम्मकम्पउ करियि, मुफउ होइ अणंतु ।

जिणपरदेवहं सो जि जिप, पभणितु सिद्ध महंतु ॥ ३३२ ॥

ध्यानेन कर्मक्षयं कृत्वा मुक्तो भवति अनंतः ।

जिनवरदेवेन स एव जीव प्रभणितः सिद्धो महान् ॥ ३३२ ॥

हरि महादेव ब्रह्मा [ बुद्धः परमप्रकाशः भर्णति ] बुद्ध और परमप्रकाश नामसे कहते हैं  
[ मः ] बद्ध [ विमुद्धुः जिनदेवः ] रागादि रहित शुद्ध जिनदेव ही है उसीके ये तप नाम  
हैं । भावार्थ—प्रत्यक्षज्ञानी उगे परमानन्द ज्ञानादिगुणोंका आधार होनेसे परमपद कहते  
हैं । वही विष्णु है वही महादेव है उसीका नाम पर ब्रह्म है, सबका शायक होनेसे  
बुद्ध है, सबमें व्यापक ऐसा जिनदेव देवाधिदेव परमात्मा अनेक नामोंसे गाया जाता  
है । समस्त रागादिक दोषके न होनेसे निर्मल है ऐसा जो अरहत देव वही परमात्म-  
प्रकाश है । निर्दोष परमात्माका व्याख्यान करनेसे वही परमात्मा परमपद, वही विष्णु,  
वही ईश्वर, वही ब्रह्म, वही शिव, वही गुणत, वही जिनेश्वर और वो ही विमुद्धु-  
इत्यादि एक हजार आठ नामोंसे गाया जाता है । नागरभिके धारक ये तीसरी जीव ये  
नानामकारके नामोंसे जिनराजको आराधते हैं । ये नाम जिनराजके सिवाय दूसरेके नहीं  
हैं । ऐसा ही दूसरे भंधोंमें भी कहा है— एक हजार आठ नामों सहित बद्ध मोक्ष-  
पुरका स्वामी उत्तरी आराधना सब करता है । उत्तरे अनंत नाम और अनेकरूप हैं ।  
बाह्यवर्षे नामसे रहित रूपसे रहित ऐसा भगवान् देवको दे भाषियो प्रथम आ ॥ ३३२ ॥  
इसप्रकार चौबीस दोहाओंके महात्मको परमात्मप्रकाश सत्यके अभेद तीव्र  
घोटापर्यंत तीसरा अंतरात्मक कहा ।

पमनिउ प्रभगितः कथितः । केन कर्षभूतेन । जिणपरदेचइं जिणपरदेयेन । कोगे  
 भन्तिः । सिद्धु निद्धः । कथंभूतः । महंतु महापुरुषाराभितत्ताए केवउज्झानादिमइत्तुना-  
 धारत्ताए महान् । क एव । सो जि म एव । स कः । योसी मुक्कउ होइ शानापरणारिभिः  
 कर्मभिहुंको रदितः सम्यसाधयत्तुणमदितथ जिम हे जीव । कथंभूतः । अणंतु म  
 चित्तदेवे विनासो धम्म स भवत्यनंतः । किं कृत्वा पूर्ण मुक्को भवति । कम्मवराउ करिणि  
 सिद्धुज्झानदमंनसाभासादात्मप्रव्याप्तिव्यागं यदात्तैरौप्रव्यागद्वयं सेतोपार्जितं यत्कर्म तस्य  
 कृतः कर्मोत्तमं कर्मभवं कृत्वा । केन । शार्णि राणारिभिकहरदितस्यमंवेदनज्ञानभावेन  
 एतत्तैरेति एतत्तमं ॥ ३३२ ॥

अथ —

अण्णुणि कंणुणि निहृणणाहं, सामयसुत्तणसहाउ ।

निण्णुणि सामणुणि कालु जिम, णियमइ लद्धसहाउ ॥ ३३२ ॥

अण्णुणि कंणुणि निहृणण्य सामयसुत्तणभावः ।

नीह मय अण्णि कालं जीव निवसति लद्धणभावः ॥ ३३३ ॥

अणुवि इति । अणुवि अन्यदपि पुनरपि न पूर्वोक्तः सिद्धः । कथंभूतः । बंधुवि बंधुव । बन्ध । निद्रुयपदं विभुवननामध्यजनस्य । पुनरपि किं विशिष्टः । सासयसुवरा-  
सहाउः सागादिबतिगाम्नायाधनाग्रतमुत्तरग्यभावः । एवं गुणविशिष्टः सन् किं करोति स  
भगवान् । निद्रुयु जि तत्रैव मोक्षपदे णिदसह निवसति । कथंभूतः सन् । लद्धसहाउ  
लद्धमुत्तरग्यभावः । विचरालं निवसति । सयलुवि समस्तमप्यनंतानंतकालपर्यंतं जिय  
दे जीवेति । अप्रानेन समस्तबालप्रहणेन विमुक्तं भवति । ये केचन वदंति मुक्तानां पुनरपि  
संसारे पतनं भवति एतानां निरन्ममिति भावार्थः ॥ ३३३ ॥

अथ;—

जन्ममरणविधजिपउ, चउगइदुफलविमुक्तु ।

केवलदंस्सणणाणमउ, णंदइ तित्तु जि मुक्तु ॥ ३३४ ॥

जन्ममरणविधजितः चतुर्गतिदुःखविमुक्तः ।

केवलदर्शनज्ञानमयः नंदति तत्रैव मुक्तः ॥ ३३४ ॥

पुनरपि कथंभूतः न भगवान् । जन्ममरणविविधजिपउ जन्ममरणविविधजितः । पुनरपि  
विधिशिष्टः । चउगइदुफल विमुक्तु महज्जुद्धपरमानंदैकत्वभावं यदात्मसुखं तस्माद्विपरीतं  
यच्चतुर्गतिदुःखं तेन विमुक्तो रहितः । पुनरपि किंस्वरूपः । केवलदंस्सणणाणमउ प्रमकरण-

[ लच्छक्षमावः ] निजस्वभावको पाकर [ जीव ] हे जीव [ सकलमपि कालं ] सदा  
काल [ निचसति ] निवास करते हैं फिर चतुर्गतिमें नहीं आवेंगे । भावार्थ—सिद्ध  
परमेष्ठी तीनलोकके नाथ हैं और जिनका भय्य जीव ध्यान करके भवसागरके पार होते  
हैं इसलिये भय्योके बंधु हैं हितकारी हैं । जिनका सागादि रहित अथावाध अविनाशी  
सुख स्वभाव है । ऐसे अनंत गुणरूप वे भगवान् उस मोक्षपदमें सदा काल विराजते  
हैं । जिन्दोने शुद्ध आत्मस्वभाव पा लिया है । अनंत काल पीत गये और अनंतकाल  
आवेंगे परंतु वे प्रभु सदा काल सिद्ध क्षेत्रमें बस रहे हैं । समस्त काल रहते हैं इसके  
कदनेका प्रयोजन यह है कि जो कोई ऐसा कहते हैं कि मुक्त जीवोंका भी संसारमें  
पतन होता है सो उनका कहना रंडित किया गया ॥ ३३३ ॥

आगे फिर भी सिद्धोंका ही वर्णन करते हैं;—[ जन्ममरणविधजितः ] वे भगवान्  
सिद्धपरमेष्ठी जन्म और मरणकर रहित हैं [ चतुर्गतिदुःखविमुक्तः ] चारों गतियोंके  
दुःखोंसे रहित हैं [ केवलदर्शनज्ञानमयः ] और केवलदर्शनकेवलज्ञानमें हैं ऐसे  
[ मुक्तः ] कर्म रहित हुए [ तत्रैव ] अनंतकालतक उसी सिद्ध क्षेत्रमें [ नंदति ] अपने  
स्वभावमें आनंदरूप विराजते हैं । भावार्थ—सहज शुद्ध परमानंद . जन्मद स्वभाव-  
रूप जो आत्मसुख उसमें विपरीत जो चतुर्गतिके दुःख उनसे र . रणरूप-

व्यवधानरहितत्वेन जगत्त्रयकालप्रयवर्तिपदार्थानां प्रकाशककेवलदर्शनज्ञानाभ्यां निर्गुनः केवलदर्शनज्ञानमयः । एवं गुणविशिष्टः मन् किंकरोति । णंदूह स्वकीयभ्रामारिज्ञानंदग्दानादिगुणैः सह नंदति वृद्धि गच्छति । क । तित्यु जि तत्रैव मोक्षपदे । पुनरति किं विशिष्टः सन् । मुकु ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मनिमुक्तो रहितः अद्यावाद्याद्यनंतगुणैः सहितश्चेति भावार्थः ॥ ३३४ ॥ एवं चतुर्विंशतिमूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सिद्धपरमेष्ठिव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण चतुर्थमंतरस्थलं गतं ।

अद्यानंतरं परमात्मप्रकाशभावनारतपुरुषाणां फलं दर्शयन् मूत्रपर्यंतं व्याख्यानं करोति । तथाहि;—

जे परमप्पपयासु मुणि, भाविं भावहिं सत्यु ।

मोहु जिणेविणु सयलु जिय, ते बुजझहिं परमत्यु ॥ ३३५ ॥

ये परमात्मप्रकाशं मुनयः भावेन भावयंति शास्त्रं ।

मोहं जित्वा सकलं जीव ते बुध्यंति परमार्थम् ॥ ३३५ ॥

भावहिं भावयंति ध्यायंति । के । मुणि मुनयः जे ये केचन । किं भावयंति । सत्यु शास्त्रं । कथंभूतं शास्त्रं । परमप्पपयासु परमात्मस्वभावप्रकाशत्वात्परमात्मप्रकाशसंज्ञं । केन भावयंति । भाविं समस्तरागाद्यपध्यानरहितशुद्धभावेन । किं कृत्वा पूर्वं । जिणेविणु जित्वा । कं । मोहु निर्मोहपरमात्मतत्त्वाद्विलक्षणं मोहं । कतिसंख्योपेतं । सयलु समस्तं

रोगोसे रहित हैं अविनश्वरपुरमें सदा काल रहते हैं । जिनका ज्ञान संसारी जीवोंकी तरह विचाररूप नहीं है कि किसीको पहले जानें किसीको पीछे जानें उनका केवलज्ञान और केवलदर्शन एक ही समयमें सब द्रव्य सब क्षेत्र सब काल और सब भावोंको जानता है । लोफालोक प्रकाशी आत्मा निज भाव अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनंतमुक्त और अनंत वीर्य मई है । ऐसे अनंत गुणोंके सागर भगवान् सिद्ध परमेष्ठी स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभावरूप चतुष्टयमें निवास करते हुए सदा आनंदरूप लोकके शिखरपर विराजरहे हैं जिसका कभी अंत नहीं उसी सिद्धपदमें सदा काल विराजते हैं केवलज्ञान दर्शनकर षट् २ में व्यापक है । सकल कर्मोपाधिरहित महा निरुपाधि निरावापपना आदिदे अनंतगुणों सहित मोक्षमें आनंद विलास करते हैं ॥ ३३४ ॥ इस तरह चौबीस दोहावाले महास्थलमें सिद्ध परमेष्ठीके व्याख्यानकी मुख्यताकर तीनदोहाओंमें चौथा अंतरस्थल कहा ।

आगे तीन दोहाओंमें परमात्मप्रकाशकी भावनामें लीन पुरुषोंके फलको दिखाने हुए व्याख्यान करते हैं;—[ ये मुनयः ] जो मुनि [ भावेन ] भावोंमें [ परमात्मप्रकाशं शास्त्रं ] इस परमात्मप्रकाश नामा शास्त्रका [ भावयंति ] चिंतन करते हैं हमेशा इसीका

निरवरोधं ज्ञियं दे जीवेति ते न एवं गुणविशिष्टास्तपोधनाः शुद्धाहिं पुष्यंति । कं ।  
परमात्सु परमार्पणस्य चिदानन्दैक्यभावं परमात्मानमिति भावार्थः ॥ ३३५ ॥

अथ;—

अप्यु जि भक्तिं जे मुणहिं, इह परमपपयासु ।

लोपालोपपयामयः पायहिं तेवि पयासु ॥ ३३६ ॥

अन्यदपि भक्त्या ये मन्यंते इमं परमात्मप्रकाशं ।

लोकालोकप्रकाशकं प्राप्नुवंति तेवि प्रकाशम् ॥ ३३६ ॥

अप्यु जि इत्यादि । अप्यु जि अन्यदपि विशेषकं कथ्यते भक्तिं जे मुणहिं  
मक्ता ये मन्यंते जानंते । कं । परमपपयासु इमं प्रत्यक्षीभूतं परमात्मप्रकाशप्रथममर्थतस्तु  
परमात्मप्रकाशस्य चिदानन्दैक्यभावं परमात्मत्वं पायहिं प्राप्नुवंति तेवि तेवि । कं । पयासु प्रकाश-  
स्य चिदानन्दैक्यभावं केवलज्ञानं तदाधारपरमात्मानं वा । कथंभूतं परमात्मप्रकाशं । लोपालोपप-  
यासयः अनंतगुणपर्यायमहितत्रिकालविषयलोकालोकप्रकाशकमिति तात्पर्यं ॥ ३३६ ॥

अभ्यास करते हैं [ जीव ] हे जीव [ ते ] वे [ मकलं मोहं ] समस्त मोहको [ जित्वा ]  
जीतकर [ परमार्थं पुष्यंति ] परमतत्त्वको जानते हैं । भावार्थ—जो कोई सब परिम-  
हके त्यागी साधु परमात्मस्वभावका प्रकाशक इस परमात्मप्रकाश नामा ग्रंथको समस्त  
रागादि खोटे ध्यान रहित जो शुद्धभाव उससे निरंतर निचारते हैं वे निर्मोह परमात्म-  
तत्त्वसे विपरीत जो मोह नामा कर्म उसकी समस्त प्रकृतियोंको मूलसे उखाड़ देते हैं  
मिथ्यात्वरागादिकोंको जीतकर निर्मोह निराकुल चिदानन्द स्वभाव जो परमात्मा उसको  
अच्छीतरह जानते हैं ॥ ३३५ ॥

आगे फिर भी परमात्मप्रकाशके अभ्यासका फल कहते हैं;—[ अन्यदपि ] और भी  
फल कहते हैं [ ये ] जो कोई भव्य जीव [ भक्त्या ] भक्तिसे [ इमं परमात्मप्रकाशं ]  
इस परमात्माप्रकाश शास्त्रको [ मन्यंते ] पढ़ें सुनें इसका अर्थ जानें [ तेवि ] वे भी  
[ लोकालोकप्रकाशकं ] लोकालोकको प्रकाशनेवाले [ प्रकाशं ] केवलज्ञान तथा उसके  
आधारभूत परमात्मतत्त्वको हीम ही पासकेने । अर्थात् परमात्मप्रकाश नाम परमात्मत-  
त्त्वका भी है और इस ग्रंथका भी है सो परमात्मप्रकाशग्रंथके पढ़नेवाले दोनों हीको  
पावेंगे । प्रकाश ऐसा केवलज्ञानका नाम है उसका आधार जो शुद्ध परमात्मा अनंत गुण-  
पर्याय सहित तीनकालका जाननेवाला लोकालोकका प्रकाशक ऐसा आत्मद्रव्य उसे सुरत  
ही पावेंगे ॥ ३३६ ॥

व्यवधानरहितत्वेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्यानां प्रकाशककेवलदर्शनज्ञानाभ्यां निर्वृत्तः केवलदर्शनज्ञानमयः । एवं गुणविशिष्टः सन् किं करोति । णंदइ स्वकीयस्वाभाविकानंतज्ञानादिगुणैः सह नंदति वृद्धिं गच्छति । फ । तित्यु जि तत्रैव मोक्षपदे । पुनरपि किं विशिष्टः सन् । मुकु ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मनिर्मुक्तो रहितः अव्यावाधाद्यनंतगुणैः सहितश्चेति भावार्थः ॥ ३३४ ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सिद्धपरिमेष्टिव्याख्यानपुराणत्वेन सूत्रत्रयेण चतुर्थमंतरस्थलं गतं ।

अद्यान्तरं परमात्मप्रकाशभावनास्तपुरुषाणां फलं दर्शयन् सूत्रपर्यंतं व्याख्यानं करोति । तथाहि;—

जे परमप्पपयासु मुणि, भाविं भावहिं सत्यु ।

मोहु जिणेविणु सयल्लु जिय, ते बुज्झहिं परमत्यु ॥ ३३५ ॥

ये परमात्मप्रकाशं मुनयः भावेन भावयंति शास्त्रं ।

मोहं जित्वा सकलं जीव ते बुध्यंति परमार्थम् ॥ ३३५ ॥

भासहिं भावयंति प्यायंति । फे । मुणि मुनयः जे ये केचन । किं भावयंति । मत्यु शास्त्रं । कथंभूतं शास्त्रं । परमप्पपयासु परमात्मस्वभावप्रकाशत्वात्परमात्मप्रकाशमंत्रं । केन भावयंति । भाविं समन्तरागानपध्यानरहितशुद्धभावेन । किं कृत्वा पूर्वं । जिणेविणु जित्वा । फं । मोहु निर्मोहपरमात्मतत्त्वाद्रिलक्षणं मोहं । कतिमंग्योपेतं । सयल्लु समस्तं

रोगीने रहित हैं अग्निधरपुरमें सदा काल रहते हैं । जिनका ज्ञान संगारी जीवोंकी तरह विचाररूप नहीं है कि किसीको पहले जानें किसीको पीछे जानें उनका फेचक-ज्ञान और केवलदर्शन एक ही समयमें सब द्रव्य सब क्षेत्र सब काल और सब भावोंको जानता है । लोकाडोक प्रकाशी आत्मा निरंतर भाव अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनंतगुण और अनंत वीर्य मर्द है । ऐसे अनंत गुणोंके सागर भगवान् सिद्ध परमेशी मद्रथ स्वदेश स्वकाल समावरूप चतुष्टयमें निवास करने हुए सदा आनंदरूप लोकेके सिंहास निराजते हैं जिनका कर्मा अंत नहीं उभी सिद्धपदमें सदा काल निराजने हैं फेचकज्ञान दर्शनकर षट् २ में व्यापक हैं । सकल कर्माधिारहित महा निरपाधि निरावाधना आदिदे अनंतगुणों सहित कोशमें आनंद विराज करने हैं ॥ ३३४ ॥ इन तरह पीवीण दोस्तके मद्रथत्वमें सिद्ध परमेशीके व्याख्यानका मुख्यतकर तीनदोहाओंमें पीवा अत्यन्त करी ।

जाने सदा दोहाओंमें परमात्मप्रकाशका भावने में उन पुरुषोंके फेचको दिखाने हुए व्याख्यान करने हैं — ये मुनयः भावेन भावयंति शास्त्रं [ परमात्मप्रकाशं ] [ मोहं ] [ जित्वा ] [ सकलं ] [ जीव ] [ ते ] [ बुध्यंति ] [ परमार्थम् ] [ ३३५ ]

निरवशेषं जिय दे जीबेनि ते न एवं गुणविनिष्ठास्तपोधनाः मुञ्जहिं पुष्यंति । कं ।  
परमात्पु परमार्येण्द्वयान्यं विदानंदैक्यभावं परमात्मानमिति भावार्थः ॥ ३३५ ॥

अथ,—

अणु जि भसिए जे मुणहिं, इहु परमप्पपयासु ।  
लोपालोयपयामयण पावहिं तेवि पयासु ॥ ३३६ ॥

अन्यदपि भक्त्या ये मन्यंते इमं परमात्मप्रकाशं ।

लोकालोकप्रकाशकं प्राप्नुवंति तेपि प्रकाशम् ॥ ३३६ ॥

अणु जि इत्यादि । अणु जि अन्यदपि विशेषफलं कथ्यते भसिए जे मुणहिं  
मपला ये मन्यंते जानंते । कं । परमप्पपयासु इमं मलश्रीभूतं परमात्मप्रकाशमथमर्थतस्तु  
परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यं परमात्मतत्त्वं पावहिं प्राप्नुवंति तेपि तेपि । कं । पयासु प्रकाश-  
शब्दवाच्यं बेयलज्ञानं तदाधारपरमात्मानं वा । कथंभूतं परमात्मप्रकाशं । लोपालोयप-  
यासपय अनंतगुणपर्यायसहितत्रिकालविषयलोकालोकप्रकाशकमिति तात्पर्यं ॥ ३३६ ॥

अम्माम करते हैं [ जीव ] हे जीव [ ते ] वे [ सकलं मोहं ] समस्त मोहको [ जित्वा ]  
जीतकर [ परमार्यं मुष्यंति ] परमतत्त्वको जानते हैं । भावार्थ—जो कोई सब परिम-  
हके त्यागी साधु परमात्मस्वभावका प्रकाशक इस परमात्मप्रकाश नामा ग्रंथको समस्त  
रागादि खोटे ध्यान रहित जो शुद्धभाव उससे निरंतर विचारते हैं वे निर्मोह परमात्म-  
तत्त्वसे विपरीत जो मोह नामा कर्म उसकी समस्त प्रकृतियोंको मूलसे उखाड़ देते हैं  
निध्यात्तरागादिकोंको जीतकर निर्मोह निराकुल चिदानंद स्वभाव जो परमात्मा उसको  
अच्छीतरह जानते हैं ॥ ३३५ ॥

आगे फिर भी परमात्मप्रकाशके अभ्यासका फल कहते हैं;—[ अन्यदपि ] और भी  
कहते हैं [ ये ] जो कोई भव्य जीव [ भक्त्या ] भक्तिसे [ इमं परमात्मप्रकाशं ]  
इस परमात्माप्रकाश शास्त्रको [ मन्यंते ] पढ़ें सुनें इसका अर्थ जानें [ तेपि ] वे भी  
[ लोकालोकप्रकाशकं ] लोकालोकको प्रकाशनेवाले [ प्रकाशं ] केवलज्ञान तथा उसके  
आधारभूत परमात्मतत्त्वको शीघ्र ही पामकेंगे । अर्थात् परमात्मप्रकाश नाम परमात्मत-  
त्त्वका भी है और इस ग्रंथका भी है सो परमात्मप्रकाशग्रंथके पढ़नेवाले दोनों हीको  
पावेंगे । प्रकाश ऐसा केवलज्ञानका नाम है उसका आधार जो शुद्ध परमात्मा अनंत गुण-  
पर्याय सहित तीनकालका जाननेवाला लोकालोकका प्रकाशक ऐसा आत्मद्रव्य उमे तुरन्त  
ही पावेंगे ॥ ३३६ ॥





यह व्यवहारेणास्य परमात्मप्रकाशामिधानमर्थस्य परमात्मेन तु परमात्मप्रकाशमन्वदाच्यस्य निर्देष्टुपरमात्मनः । ते के । जे बीहिया ये भीताः । केयां । भवद्गुणग्रहं रागादिविषय-रहितपरमात्मादरूपशुद्धात्मभावनोत्पत्त्यपारमार्थिकमुखविलक्षणानां नारकादिभवद्गुणानां । पुनरपि किं कुर्वति । जे इच्छति ये इच्छति । किं । पठ पदं स्थानं । कथंभूतं । पित्र्याणु निर्तुनिगतपरमात्माधारभूतं निर्वाणमन्वदाच्यं मुक्तिस्थानमित्यभिप्रायः ॥ ३३८ ॥

अथ,—

जे परमस्पर्हं भक्तिपर, विस्रयण जे विरमंति ।

ते परमस्पर्पयासयहं, मुणिवर जोग्ग ह्यंति ॥ ३३९ ॥

ये परमात्मनो भक्तिपराः विषयेभ्यः ये विरमंति ।

ते परमात्मप्रकाशकस्य मुनिवरा योग्या भवंति ॥ ३३९ ॥

हवंति भवंति जोग्ग योग्याः । के ते । मुणिवर मुनिप्रधानाः । के । ते ते पूर्वोक्ताः । कस्य योग्या भवंति । परमस्पर्पयासयहं व्यवहारेण परमात्मप्रकाशमन्वदाच्यस्य परमात्मेन तु परमात्मप्रकाशमन्वदाच्यस्य शुद्धात्मस्वभावस्य । कथंभूता ये । जे परमस्पर्हं भक्तिपर ये परमात्मनो भक्तिपराः । पुनरपि किं कुर्वति ये । विगयण जे विरमंति निर्द्वेषयपरमात्म-

आगे परमात्मप्रकाश शब्दसे कहा गया जो प्रकाशरूप शुद्ध परमात्मा उगर्षी भावनाके करनेवाले महा पुरुषोंके लक्षण जाननेके लिये तीन दोहाओंमें व्याख्यान करा है—[ ते परं ] ये ही महापुरुष [ अस्य परमात्मप्रकाशकस्य ] इस परमात्मप्रकाशकके अभ्यास करनेके [ योग्याः विजानीहि ] योग्य जानो [ ये ] जो [ भवद्गुणग्रहः ] चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंसे [ भीताः ] डर गये हैं और [ निर्वाणं पदं ] मोक्षपदको [ इच्छंति ] चाहते हैं। भावार्थ—व्यवहारनयपर परमात्मप्रकाश नामा भवर्षी और निश्चयनयकर निर्द्वेषपरमात्मतत्त्वकी भावनासे योग्य ये ही हैं जो रागादि विषय रहित परमात्मनोत्पत्त्यपारमार्थिक मुखविलक्षण मुनिवरा मुनिप्रधान मुनिके लक्षण जाननेके लिये तीन दोहाओंमें व्याख्यान करा है—[ ते परं ] ये ही महापुरुष [ अस्य परमात्मप्रकाशकस्य ] इस परमात्मप्रकाशकके अभ्यास करनेके [ योग्याः विजानीहि ] योग्य जानो [ ये ] जो [ भवद्गुणग्रहः ] चतुर्गतिरूप संसारके दुःख उनसे डर गये हैं जिनको चतुर्गतिके भ्रमणवा डर है और जो मोक्षपदको चाहते हैं ॥ ३३८ ॥

आगे फिर भी उन्हीं पुरुषोंकी महिमा बढते है । [ ये ] जो [ परमात्मनः भक्तिपराः ] परमात्माकी भक्ति करनेवाले [ ये ] जो मुनि [ विषयेभ्यः विरमंति ] विषयोंसे विरमते [ योग्याः ] योग्य [ मुनिवरा ] मुनिवरा [ परमात्मप्रकाशकस्य ] परमात्मप्रकाशकके अभ्यास करनेवाले [ भवंति ] भवते । [ भावार्थ ] परमात्मप्रकाश नामका अर्थ आगे जानिये ॥ ३३९ ॥

तत्त्वानुभूतिसमुत्पन्नातीन्द्रियपरमानंदमुखरसास्वादवृत्ताः संतः मुलभान्मनोहरानपि विषयात्  
रमंत इत्यभिप्रायः ॥ ३३९ ॥

अथ;—

णाणवियक्खणु, सुद्धमणु, जो जणु एहउ कोइ ।

सो परमप्पपयासपहं, जोग्गु भणंति जि जोइ ॥ ३४० ॥

ज्ञानविचक्षणः शुद्धमना यो जन ईदृशः कश्चिदपि ।

तं परमात्मप्रकाशकस्य योग्यं भणंति ये योगिनः ॥ ३४० ॥

भणंति कथयंति जि जोइ ये परमयोगिनः । कं भणंति । जोग्गु योग्यं । कस्य ।  
परमप्पपयासपहं व्यवहारनयेन परमात्मप्रकाशामिधानशास्त्रस्य निश्चयेन तु परमात्मप्रका-  
शशब्दवाच्यस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य । कं पुरुषं योग्यं भणंति । सो तं । तं कं । जो जणु  
एहउ कोइ यो जनः इत्थंभूतः कश्चित् । कथंभूतः । णाणवियक्खणु स्वसंवेदनज्ञानविच-  
क्षणः । पुनरपि कथंभूतः । सुद्धमणु परमात्मानुभूतिविलक्षणरागद्वेषमोहरूपसमन्तविक-  
ल्पजालपरिहारेण शुद्धात्मा इत्यभिप्रायः ॥ ३४० ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्वल्पमध्ये  
परमाराधकपुरुषलक्षणकथनरूपेण सूत्रत्रयेण पद्यमंतरम्यत्वं गतम् ।

तत्पर है वे विषय रहित जो परमात्मतत्त्वकी अनुभूति उससे उपार्जन किया जो अती-  
न्द्रिय परमानंदसुरा उसके रसके आस्वादसे तृप्त हुए विषयोंमें नहीं रमते हैं । जिनको  
मनोहर विषय आकर प्राप्त हुए हैं तौभी वे उनमें नहीं रमते ॥ ३३९ ॥

आगे फिर भी यही कथन करते हैं;—[ यः जनः ] जो प्राणी [ ज्ञानविचक्षणः ]  
स्वसंवेदनज्ञानकर विचक्षण ( बुद्धिमान ) है और [ शुद्धमनाः ] जिसका मन परमा-  
त्माकी अनुभूतिमें विपरीत जो रागद्वेषमोहरूप समस्त विकल्पजाल उनके त्यागसे शुद्ध  
है [ कश्चिदपि ईदृशः ] ऐसा कोई भी सत्पुरुष हो [ तं ] उसे [ ये योगिनः ] जो  
योगीधर हैं वे [ परमात्मप्रकाशकस्य योग्यं ] परमात्मप्रकाशके आराधने योग्य [ भणंति ]  
कहते हैं । भावार्थ—व्यवहारनयकर यह परमात्मप्रकाश नामा द्रव्यमूत्र और निश्चयन-  
यकर शुद्धात्मस्वभाव सूत्र उसके आराधनेको वे ही पुरुष योग्य हैं जो कि आत्मज्ञानके  
प्रभावमें महा प्रीति हैं और जिनके निश्चयान्व राग द्वेषादिमन्त्रक रहित शुद्ध भाष हैं ।  
ऐसे पुरुषोंके निश्चय दूसरा कोट भी परमात्मप्रकाशके आराधने योग्य नहीं है ॥ ३४० ॥  
इस प्रकार बीसवीं दोहाओंके महाव्यत्यये आराधक पुरुषके लक्षण नाम दोहाओंमें कर  
उटा अन्तर्गत समान है ।

अथ शास्त्रफलकथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं तदनंतरमौद्धत्यपरिहारेण च सूत्रद्वयपर्यंतं व्याख्यानं करोति । तथाथा;—

लक्षणछंदविचित्रियउ, एहू परमप्पपयासु ।

कुणइ सुहाविं भावियउ, चउगइदुक्खविणासु ॥ ३४१ ॥

लक्षणछंदोविवर्जितः अयं परमात्मप्रकाशः ।

करोति सुभावेन भावितः चतुर्गतिदुःखविनाशं ॥ ३४१ ॥

लक्षण इत्यादि । लक्षणछंदविचित्रियउ लक्षणछंदोविवर्जितोऽयं । अयं कः । इहू परमप्पपयासु एष परमात्मप्रकाशः । एवंगुणविशिष्टोऽयं किं करोति । कुणइ करोति । कं । चउगइदुक्खविणासु चतुर्गतिदुःखविनाशं । कथंभूतः सन् । भावियउ भाविनः । केन । सुहावई शुद्धस्वभावेनेति । तथाहि । यद्यप्ययं परमात्मप्रकाशग्रंथः शास्त्रक्रमव्यवहारेण दोहकछंदसा प्राकृतलक्षणेन च युक्तः तथापि निश्चयेन परमात्मप्रकाशगान्धवाग्यशुद्धामस्वरूपापेक्षया लक्षणछंदोविवर्जितः । एवंभूतः सन्नयं किं करोति । शुद्धभावनया भावितःसन् शुद्धात्मसंवित्तिमगुत्पन्नरागादिविकल्पपरहितपरमानंदैकलक्षणसुखविपरीतानां चतुर्गतिदुःखानां विनाशं करोतीति भावार्थः ॥ ३४१ ॥

अथ श्रीयोगीन्द्रदेव औद्धत्यं परिहरति,—

इत्थु ण लिच्छवउ पंडिच्चिं, गुणदोसुचि पुणुत्तु ।

भदपभायरकारणइं, मह पुणु पुणुचि पउत्तु ॥ ३४२ ॥

आगे शास्त्रके फलके कथनकी मुख्यताकर एक दोहा और उद्धृतपनेके त्यागकी मुख्यताकर दो दोहे इसतरह तीनदोहाओंमें व्याख्यान करते हैं;—[अयं परमात्मप्रकाशः] यह परमात्माप्रकाश [सुभावेन भावितः] शुद्ध भावोकर भाषा हुआ [चतुर्गतिदुःखविनाशं] चारों गतीके दुःखोंका विनाश [करोति] करता है । जो परमात्मप्रकाश [लक्षणछंदोविवर्जितः] यद्यपि व्यवहारनयकर प्राकृतरूप दोहा छंदोकर सहित है और अनेक लक्षणोंकर सहित है तौभी निश्चयनयकर परमात्मप्रकाश जो शुद्धात्मस्वरूप यह लक्षण और छंदोंकर रहित है । भावार्थ—शुभलक्षण और मबंध ये दोनों परमात्मामें नहीं हैं । परमात्मा शुभाशुभलक्षणोंकर रहित है और जिसके कोई मबंध नहीं अनंतरूप है उपयोगलक्षणमई परमानंदलक्षणस्वरूप है सो भावोसे उसको आराधो, वही चतुर्गतिके दुःखोंका नाश करने वाला है ॥ शुद्ध परमात्मा तो व्यवहार लक्षण और श्रुतरूप छंदोंसे रहित है इनमें भिन्न निजलक्षणमई है और यह परमात्मप्रकाशना अध्यात्म ग्रंथ यद्यपि दोहकछंदरूप है और प्राकृतलक्षणरूप है परंतु इसमें स्वभावदोहकी मुख्यता है छंद अलकारादिका मुख्यता नहीं है ॥ ३४१ ॥

अत्र न ग्राह्यः पंडितैः गुणो दोषोपि पुनरुक्तः ।

मदृप्रमाकरकारणेन मया पुनः पुनरपि प्रोक्तम् ॥ ३४२ ॥

इत्थु इत्यादि । इत्थु अत्र ग्रंथे ष लेश्च न ग्राह्यः । कैः । पंडितैर्हि पंडितैर्विचिन्तिः । कोसौ । गुण दोषोपि गुणो दोषोपि । कथंभूतः । पुनरुक्तः पुनरुक्तः । कस्मान्न ग्राह्यः । यतः मदृ पुणु पुणुवि पउत्तु मया पुनः पुनः प्रोक्तं । किं तन् । वीतरागपरमात्मनस्त्वं । किमर्थं । मदृप्रहायरकारणं प्रमाकरभट्टनिमित्तेनेति । अत्र भावनाग्रंथे समाधिजनकादिवन् पुनरुक्तदृषणं नाम्नि इति । तदपि कस्मादिति चेन् । अर्थं पुनः पुनश्चितनलक्षणमिति वचनादिति मत्वा प्रमाकरभट्टव्याजेन समसजनानां मुखबोधार्थं वदिरंतः परमात्मभेदेन तु त्रिविधात्मनस्त्वं बहुधाप्सुचमिति भावार्थः ॥ ३४२ ॥

अथः—

जं मद् किंपिपि जंपियउ, जुत्ताजुत्तुचि इन्धु ।

तं वरणाणि स्वमंतु मद्, जे युज्झहि परमत्थु ॥ ३४३ ॥

यन् मया किमपि जल्पितं युक्तयुक्तमपि अत्र ।

तन् वरज्ञानिनः क्षाम्यंतु मम ये बुध्यन्ते परमार्थम् ॥ ३४३ ॥

जं इत्यादि । जं मद् किंपिपि जंपियउ क्मया किमपि जल्पितं । किं जल्पितं । जुत्ताजुत्तुचि शब्दविषये अर्थविषये वा युक्तयुक्तमपि इत्थु अत्र परमान्नरकागानिपानग्रंथे रामंतु क्षमां कुर्वंतु । किं तन् । पूर्वोक्तदृषणं । के । वरणाणि वीतरागनिर्विकल्पममंवेदन-

आगे श्री योगीश्वरेण उद्धतपनेका त्याग दित्त्याते हैः—[ अत्र ] श्री योगीश्वरेण कहेते है अशो मय्यत्रीव ही इम ग्रंथमें [ पुनरुक्तः ] पुनरुक्तका [ गुणो दोषोपि ] दोष भी [ पंडितैः ] आप पंडितजन [ न ग्राह्यः ] मद्दण नहीं करें और कविद्वयका पुत्र भी न छे क्योकि [ मया ] मैंने [ मदृप्रमाकरकारणेन ] प्रमाकर भट्टके ग्रंथोपदेशविषये [ पुनः पुनरपि प्रोक्तं ] वीतरागपरमानंदरूप परमात्म तत्त्वका कथन बार बार किया है । भावार्थ—इम शब्दात्मभावनाके ग्रंथमें पुनरुक्तका दोष नहीं लगता । समाधिग्रंथ ग्रंथी

ज्ञानयुक्ता विनिष्टज्ञानिनः । कस्य । मद्गु मम योगीन्द्रदेवाभिधानस्य । कथंभूता ये ज्ञानिनः ।  
 जे बुद्धार्हिं ये केचन बुध्यन्ते जानन्ति । कं । परमत्पु रागादिदोषरहितमनंतज्ञानदर्शनसुर-  
 वीर्यमहितं च परमार्थशब्दवाच्यं शुद्धात्मानमिति भावार्थः ॥ ३४३ ॥ इति सूत्रत्रयेण  
 सप्तमं गतरस्यलं गतं । एवं सप्तभिरंतरस्यलैः अतुर्विगतिसूत्रप्रमितं महास्यलं समाप्तम् ।

अथैकवृत्तेन प्रोत्साहनार्थं पुनरपि फलं दर्शयति;—

जं तत्त्वं षाणरूपं परममुनिगणा णिच ज्ञापन्ति चित्ते

जं तत्त्वं देह्यत्तं णिवसइ भुवणे सब्वदेहीण देहे ।

जं तत्त्वं दिव्यदेहं तिहुवणगुरुगं सिज्जणं संतजीये

तं तत्त्वं जस्स सुद्धं फुरइ णियमणं पावणं सो हि सिद्धिं ॥ ३४४ ॥

यत् तत्त्वं ज्ञानरूपं परममुनिगणा नित्यं ध्यायन्ति चित्ते

यत् तत्त्वं देहस्यकं निवसति भुवने सर्वदेहिना देहे ।

यत् तत्त्वं दिव्यदेहं त्रिभुवनगुरुकं सिध्यति शांतजीये

तत् तत्त्वं यस्य शुद्धं स्फुरति निजमनसि मामोति स हि सिद्धिम् ॥ ३४४ ॥

पावणं सो प्राप्नोति स हि सुद्धं । कं । सिद्धिं मुक्तिं । यस्य किं । जस्य निजमनसे

फुरइ यस्य निजमनसि स्फुरति प्रतिभाति । किं कर्मतापत्रं । तं तत्त्वं तत्त्वत्वं । कथंभूतं ।

[युक्तायुक्तमपि जल्पितं] युक्त अथवा अयुक्त शब्द कहा होवे तो [तत्] उमें [ये परज्ञानिनः] जो महान ज्ञानके धारक [परमार्थ] परम अर्थको [बुध्यन्ते] जानते है वे यंज्ञित जन [मम शार्व्यत्तु] मेरे ऊपर धना करें । भावार्थ—मेरी छछस्वकी बुद्धि है जो कदाचित् मेने शब्दमें अर्थमें तथा छंद अलंकारमें अयुक्त कहा हो बट मेरा दोष क्षमा करो । सुधार लो । जो विवेकी परमअर्थको अच्छी तरह जानते है ये गुणगण रूपा बने मेरा दोष न लो । यह प्रार्थना योगीन्द्राचार्यने महासुनियोरी की । जो महासुनि अपने सुद्ध-स्वरूपको अच्छी तरह अपनेमें जानते है । जो निजस्वरूप रागादि दोष रहित अनंत दर्शन अनंत सुरा अनंत वीर्यकर सहित है ऐसे अपने स्वरूपको अपनेमें ही देखते है, जानते है और अनुभवते है ये ही इस ग्रंथके सुननेके योग्य है और सुधरनेके योग्य है ॥ ३४३ ॥ इस प्रकार तीन दोहाओंमें सानदा अंतरस्यल कहा । इस तरह चौदह दोहाओंका महास्यल पूर्ण हुआ ।

आगे एक गच्छरा नामक । १२१ [१२] नीं इस अथक पदनेक ५२ ५२२ है — तत्त्वं  
 तत्त्वं [तत्त्वं] निज आत्मनस्त्वं । यस्य निजमनसि । ३४४ ॥ [स्फुरति] ५३  
 मान हो जाना है [स हि] जो ही मं । सिद्धिं प्राप्नोति ] ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥



दाम्पत्यं विद्यादानिनः । वस्य । मद्गुणस्य योगीन्द्रैकाभिधानम् । कथंभूता ये शानिनः ।  
 वे दृष्टवर्ति ये येन च धुप्यंते जानति । कं । परमत्सु रागादिदोषरहितमननहाजदर्शनमुख-  
 दीर्घमतिं च परमार्थानन्दवाच्यं शुद्धामानमिति भावार्थः ॥ ३४३ ॥ इति सूत्रत्रयेण  
 मन्मथंनन्दनं गतं । एवं मन्मथिर्नन्दनं अनुविधानीमूत्रप्रमितं महास्थलं समाप्तम् ।

अथैकत्वेन प्रोक्तानार्थं पुनरपि कथं दर्शयति,—

जं तत्त्वं णाणस्त्वं परममुनिगणा णिच ध्यायंति चित्ते  
 जं तत्त्वं देहस्यत्त्वं णियमस्य भुवने सच्च्यदेहीण देहे ।  
 जं तत्त्वं दिव्यदेहं निहृद्यणगुरुगं सिज्जमणं संतजीये  
 तं तत्त्वं जस्स सुखं पुरइ णियमणे पावणं सो हि सिद्धिं ॥ ३४४ ॥

यत् तत्त्वं ज्ञानरूपं परममुनिगणा नित्यं ध्यायंति चित्ते  
 यत् तत्त्वं देहस्यत्त्वं निवसति भुवने सर्वदेहिना देहे ।  
 यत् तत्त्वं दिव्यदेहं त्रिभुवनगुरुकं सिध्यति शांतजीये  
 तत् तत्त्वं यस्य शुद्धं स्फुरति निजमनसि प्राप्नोति स हि सिद्धिम् ॥ ३४४ ॥

पावणं सो प्राप्नोति स हि सुखं । कं । सिद्धिं मुक्तिं । यस्य किं । जस्स णियमणे  
 पुरइ यस्य निजमनसि स्फुरति प्रतिभाति । किं कर्मतापत्रं । तं तत्त्वं तत्त्वं । कथंभूतं ।

[युक्तापुक्तमपि जल्पितं] युक्त अथवा अयुक्त शब्द कहा होवे तो [तत्] उसे [ये  
 परमानिनः] जो महान ज्ञानके धारक [परमार्थ] परम अर्थको [धुप्यंते] जानते हैं  
 वे पंडित जन [मम ध्यायंतु] मेरे ऊपर क्षमा करें । भावार्थ—मेरी छत्रस्यकी बुद्धि है  
 जो कदाचित् मेरे शब्दमें अर्थमें तथा छंद अलंकारमें अयुक्त कहा हो वह मेरा दोष क्षमा  
 करो । सुधार लो । जो विवेकी परमअर्थको अच्छी तरह जानते हैं वे गुप्तपर कृपा करो  
 मेरा दोष न लो । यह प्रार्थना योगीन्द्राचार्यने महामुनियोंसे की । जो महामुनि अपने शुद्ध-  
 स्वरूपको अच्छी तरह अपनेमें जानते हैं । जो निजस्वरूप रागादि दोष रहित अनंत  
 दर्शन अनंत सुख अनंत वीर्यकर सहित हैं ऐसे अपने स्वरूपको अपनेमें ही देखते हैं,  
 जानते हैं और अनुभवते हैं वे ही इस ग्रंथके मुननेके योग्य हैं और सुधारनेके योग्य  
 हैं ॥ ३४३ ॥ इस प्रकार तीन दोहाओंमें सातवा अंतरखल कहा । इस तरह चौबीस  
 दोहाओंका महाखल पूर्ण हुआ ।

आगे एक मन्मथा नामके छंदमें फिर भी इस ग्रंथके पढ़नेका फल कहते हैं,—[तत्]  
 यह [तत्त्वं] निज आत्मतत्त्व [यस्य निजमनसि] जिनके मनमें [स्फुरति] प्रकाश-  
 मान हो जाना है [स हि] वो ही साधु [सिद्धिं प्राप्नोति] सिद्धिको पाना है । केना





जयतु सर्वोत्कर्षेण शुद्धिं गच्छतु । कोसौ । दिव्यकाओ परमौदारिकगरीरामिधान-  
 दिव्यकायस्तदाधारो भगवान् । कथंभूतः । भासओ दिवाकरमहत्मादप्यधिकतेजस्वाङ्गामकः  
 प्रकाशकः । केपां कायः । परमपयगयाणं परमानंतज्ञानादिगुणारवदं यद्दृत्पदं तत्र  
 गतानां । न केवलं दिव्यकायो जयतु । दिव्यजोओ द्वितीयशुद्ध्यानामिधानो वीनरागो  
 निर्विकल्पममाधिरूपो दिव्ययोगः । कथंभूतः । मोक्षरदो मोक्षप्रदायकः । क जयतु ।  
 मणसि मनसि । केपां । मुणिवराणं मुनिपुंगवानां । न केवलं योगो जयतु । केवलौ  
 कोपि बोहो केवलज्ञानामिधानः कोप्यपूर्वो बोधः । कथंभूतः । मित्ररूपो मित्रगण्यवाच्यं  
 यदनंतसुखं तत्स्वरूपः । पुनरपि कथंभूतः । दुदृहो जो ह्र लोए दुर्लभो दुप्यायः यः  
 सृष्टं । क । लोके । केपां दुर्लभः । विसयसुहरयाणं विषयसुग्यातीतपरमान्मभावनेत्यप्र-  
 परमानंदैकरूपसुखास्वाद्दहितत्वेन पंचेंद्रियविषयासक्तानामिति भावार्थः ॥ ३४५ ॥

इति 'परु जाणंतुवि परममुग्नि परमंसगु चयंनि' इत्याद्येकाशीतिमुग्रपर्यंतं सामान्यभेद-  
 भावना, तदनंतरं 'परमममाहि महासरहि' इत्यादि चतुर्विंशतिमुग्रपर्यंतं महाशयलं, तदनंतरं  
 पृथङ्गं चेति सर्वसामुदायेन सप्ताधिकमुग्रगतेन द्वितीयमहाधिकारे श्रुतिप्रमाणेति ॥  
 एवमत्र परमात्मप्रकाशामिधानग्रंथे प्रथमतस्त्वायन् 'जे जाया ज्ञानगियाए, इत्यादि त्रयो-  
 विंशत्यधिकमुग्रगतेन प्रक्षेपकत्रयमहितेन प्रथममहाधिकारो गतः । तदनंतरं चतुर्माधि-  
 काशयनेन प्रक्षेपकपंचकमहितेन द्वितीयोपि महाधिकारो गतः । एवं पंचाधिकारिज्ञान-

आगे ग्रंथके अंतर्मगलकेलिये आशीर्वादरूप नमस्कार करते है;—[ दिव्यकायः ]  
 त्रिमया ज्ञान आनंदरूप शरीर है अथवा [ परमपदगतानां भागकः ] अरुंतपदको  
 प्राप्त हुए जीवोंका प्रकाशमान परमौदारिक शरीर है ऐसा परमात्म तत्त्व [ जयतु ]  
 सर्वोत्कर्षणसे वृद्धिको प्राप्त होवे । जो परमौदारिक शरीर ऐसा है कि त्रिमया तंत्र एका  
 स्थानसे अधिक है अर्थात् सकल प्रकाशी है । जो परमपदको प्राप्त हुए केवली है उनको  
 तो साक्षात् दिव्यकाय पुरुषाकार भासता है [ मुनिवराणां ] और जो महाशयल है उनको  
 [ मनसि ] मनमें [ दिव्ययोगः ] द्वितीयशुद्ध्यानां रूप पीतराग निर्विकल्पममाधि-  
 काश रहा है । [ मोक्षरदः ] और मोक्षदा देनेवाला है । [ केवलः कोपि बोधः ]  
 जिसका केवल ज्ञान स्वभाव है ऐसी अपूर्व ज्ञानज्योति [ शिवरूपः ] साक्षात् स्वरूप  
 है । [ लोके ] लोकमें [ विषयसुहरयानां ] शिवस्वरूप अनंत परमात्मको भावने  
 उत्पन्न जो परमानंद अतींद्रियसुख उगममें प्रपणित जो पांच इंद्रियों [ २५५ ] उन्ने को  
 आसक्त है उनको [ यः हि ] जो परमात्मपर [ दुर्लभः ] ... .. आकाश—  
 इस लोकमें विषयी जीव [ २५५ ] ... ..  
 होवे ॥ ३४५ ॥

सुद्धं रागादिरहितं । पुनरपि कथंभूतं यन् । जं तत्तं णाणरूवं यदात्मतत्त्वं ज्ञानरूपं ।  
 पुनरपि किं विशिष्टं यन् । णिच्च क्षायंति नित्यं ध्यायंति । क । चित्ते मनसि । फे  
 ध्यायंति । परममुनिगणा परममुनिसमूहाः । पुनरपि किं विशिष्टं यन् । जं तत्तं देहचत्तं  
 यत्परमात्मतत्त्वं देहत्वकं देहाद्धिन्नं । पुनरपि कथंभूतं यन् । णिवसइ निवसति । क ।  
 भुवणे सब्बदेहीणदेहे त्रिभुवने सर्वदेहिनां संसारिणां देहे । पुनरपि कीदृशं यन् । जं तत्तं  
 दिव्यदेहं यन् शुद्धात्मतत्त्वं दिव्यदेहं दिव्यं केवलज्ञानादिशरीरं । शरीरमिति कोपेः ।  
 स्वरूपं । पुनश्च कीदृशं यत् । तिहुयणगुरुगं अब्यावाधानंतमुत्पादिगुणेन त्रिभुवनादि  
 गुरुं पूज्यमिति त्रिभुवनगुरुकं । पुनरपि किं रूपं यन् । सिज्झए सिद्धवति निष्पात्तिं यानि ।  
 क । संतजीवे त्यातिपूजालाभादिसमसमनोरथविकल्पजालरहितत्वेन परमोपशांतजीव-  
 स्वरूपे इत्यभिप्रायः ॥ ३४४ ॥

अथ ग्रंथस्यावसाने मंगलार्थमाशीर्वादरूपेण नमस्कारं करोति;—

परमपयगयाणं भासओ दिव्यकाओ  
 मणसि मुणियराणं मुक्खदो दिव्वजोओ ।  
 विसयसुहरयाणं बुल्लहो जो हू लोए  
 जयउ सिवसरूयो केवलो कोवि बोहो ॥ ३४५ ॥

परमपद्गतानां भासको दिव्यकायः  
 मनसि मुनिवराणां मोक्षदो दिव्ययोगः ।  
 विषयमुसरतानां दुर्लभो यो हि लोके  
 जयतु शिवस्वरूपः केवलः कोपि बोधः ॥ ३४५ ॥

हे बहू तत्त्व ! जो कि [ शुद्धं ] रागादि मन्तरहित है [ ज्ञानरूपं ] और ज्ञानरूप है  
 त्रिमको [ परममुनिगणाः ] परममुनीश्वर [ नित्यं ] सदा [ चित्ते ध्यायंति ] अपने  
 चित्तमें ध्याते हैं [ यन् तत्त्वं ] जो तत्त्वं [ भुवने ] इस लोकमें [ सर्वदेहिनां देहे ]  
 सब प्राणियोंके शरीरमें [ निवसति ] मौजूद है [ देहत्वकं ] और आप देहसे रहित है  
 [ यन् तत्त्वं ] जो तत्त्वं [ दिव्यदेहं ] केवलज्ञान और आनंदरूप अनुपम देहको धारण  
 करता है [ त्रिभुवनगुरुकं ] तीनभुवनमें श्रेष्ठ है [ संतजीवे मिध्यति ] त्रिमको आत्म-  
 धर शरीरधारिणोंमें सर्वप्रथम गिठपद पाते हैं । भावार्थ—वेमा बहू जैनपुत्र त्रिमको  
 चित्तमें प्रकट हुआ है वही मां नृपति का पात्र है । अथावत्पर अनन्युपम आदि मुनी-  
 का बहू तत्त्व संतजीवका पुत्र है मन पुत्रपौत्र ही हृदयमें बहू तरंग गिठ होना है ।  
 जैन है मनस जो अत्यंत बहू तरंगता पाएगा और लभादि समस्त मनोरथ सिद्ध  
 करने में सक्षम है । इत्यादि अर्थ परमपद्गतानां रूप वा इत्यादि ॥ ३४५ ॥

जयउ सर्वोत्कर्षेण श्रद्धिं गच्छतु । कोमौ । दिव्यकाश्रो परमौदारिकशरीरामिधान-  
 दिव्यकायस्वदाधारो भगवान् । कथंभूतः । भासओ दिवाकरमह्यमद्वयविक्रमेऽम्बाङ्गाम्बः  
 प्रकाशकः । केपां कायः । परमपयगयाणं परमानंतमानादिगुणाग्रवं यद्वर्त्तयदं ऋ  
 गदानां । न केवलं दिव्यकायो जयतु । दिव्यजोश्रो द्वितीयशुश्रूषानामिधानो यीगगो  
 निर्विकल्पसमाधिरूपो दिव्ययोगः । कथंभूतः । मोशरदो मोश्रप्रदायकः । क. जयतु ।  
 मणसि मनसि । केपां । मुणिवराणं मुनिपुंगवानां । न केवलं योगो जयतु । केदलो  
 कोपि घोहो केवलज्ञानामिधानः कोष्यपूर्वो घोधः । कथंभूतः । मित्रमरुचो मित्रमरुचयदं  
 यदनंतमुग्रं तन्मयरूपः । पुनरपि कथंभूतः । दुददो जो दृ लोण दुर्लभो दुग्दायः यः  
 सृष्टं । क. लोके । केपां दुर्लभः । विसयमुहरयाणं विषयमुग्रगौतपरमात्मज्ञानोपक-  
 परमानंदैकरूपसुरसास्त्रादरहितत्वेन पंचेंद्रियविषयाग्रत्नानामिति भावार्थः ॥ ३३५ ॥

इति 'परु जाणंतुवि परममुणि परमंसग्गु पयंति' इत्याद्येकाशीतिगुप्रपंचेन साक्षात्पंचेन-  
 भावना, तदन्तर्गतं 'परमसमाहि महासरदि' इत्यादि चतुश्चिन्तितगुप्रपंचेन साक्षात्पंचेन, तदन्तर्गतं  
 वृत्तद्वयं चेति सर्वसमुदायेन समाधिकसुप्रपंचेन द्वितीयमहाधिकारं प्रतिपादयति ॥  
 एवमत्र परमारमप्रकाशामिधानप्रथे' प्रथमतया यत् 'जे जाया साणगियण, इत्थदि कपो'  
 विन्यधिकसुप्रपंचेन प्रथेपकप्रथमहितेन प्रथममहाधिकारो गणः । तदन्तर्गतं चतुर्दशविंश  
 सावद्वयेन प्रथेपकपंचकमहितेन द्वितीयोपि महाधिकारो गणः । एवं पचाधिकारविशेष-

आगे प्रथमे अंतर्मगलकेलिये आशीर्यादरूप नमस्कार करते हैं,— [ दिव्यकाशः ]  
 त्रिकोण ज्ञान आनंदरूप शरीर है अथवा [ परमपदगतानां भागकः ] ७२७७२३  
 मास हुए जीवोंका प्रकाशमान परमौदारिक शरीर है ऐसा प्रमाण ७२४ [ जयतु ]  
 सर्वोत्कर्षपनेसे श्रद्धिको प्राप्त होवे। जो परमौदारिक शरीर ऐसा है कि त्रिकोण ७२४ ७२५  
 सुयोसे अधिक है अर्थात् सकल प्रकाशी है । जो परमपदको प्राप्त हुए शरीर है ७२५  
 को साक्षात् दिव्यकाय पुरुषाकार भासता है [ मुणिवराणां ] और जो ७२५ ७२६ है ७२६  
 [ मनसि ] मनमें [ दिव्ययोगः ] द्वितीयशुश्रूषानामिधानस्य यीगगो ७२६ ७२७ ७२८  
 भाग रहा है । [ मोशरदः ] और मोशका देनेवाला है । [ केदलोः कोपि घोहः ]  
 त्रिकोण केवल ज्ञान स्वभाव है ऐसी अपूर्व ज्ञानयोति [ मित्रमरुचः ] ७२७ ७२८ ७२९  
 है । [ लोके ] लोकमें [ विसयमुहरयानां ] विषयस्य अन्तः ७२८ ७२९ ७३०  
 उत्पन्न जो परमानंद अतीन्द्रियसुग उग्रम विदित जो ७२९ ७३० ७३१ ७३२ ७३३  
 भासता है उनको [ यः हि ] जो परम ७३३ [ दुर्लभः ] ७३३ ७३४ ७३५ —  
 इस लोकमें विषयी जो ७३४ ७३५ ७३६ ७३७ ७३८ ७३९ ७४० ७४१ ७४२  
 होवे ॥ ३३५ ॥

हितगतत्रयप्रमित श्रीयोगीन्द्रदेवविरचिन दोहकमूत्राणां विवरणभूता परमात्मप्रकाशशक्तिः  
समाप्ता ॥

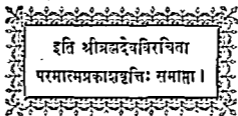
इसप्रकार इस परमात्मप्रकाशनामा ग्रंथमें पहले 'जे जाया ज्ञानगीण' इत्यादि एकसौ तेवीस दोहा तीन प्रक्षेपकों सहित ऐसे १२६ दोहाओंमें पहला अविचार समाप्त हुआ । एकसौ चौदह दोहा तथा ५ प्रक्षेपक सहित दूसरा महाधिकार कदा । और 'परु जाण-  
तुंवि' इत्यादि एकसौ सात दोहाओंमें तीसरा महाधिकार कदा । प्रक्षेपक और अंतके दो  
छंद उन सहित तीसरी पैंतालीस ३४५ दोहाओंमें परमात्मप्रकाशका व्याख्यान ब्रह्मदेवकृत



पंचेंद्रियविषयव्यापारमनोवचनकायव्यापारभावकर्मद्रव्यकर्मनो कर्मख्यातिपूजाभामहत्प्रभुता-  
नुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिध्याशाल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितशून्योऽहं, जगत्त्रये  
कालत्रयेपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयनयेन । तथा सर्वेपि जीवाः,  
इति निरंतरं भावना कर्तव्येति ॥ प्रथमंख्या ४००० ।

पंडेवरामहिं णरवरहिं, पुञ्जिउ भसिभरेण ।

सिरिसासणु जिगभासियउ, णंदउ सुक्खमणहिं ॥ १ ॥

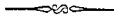


गुप्तोक्ति सैद्धांतोक्तं वृद्धिको प्राप्त होवे ॥ यह परमात्मप्रकाश ग्रंथका व्याख्यान प्रभाकर  
महर्षे संवोधनेकेलिये श्रीयोगीन्द्रदेवने किया उसपर श्री ब्रह्मदेवने संस्कृतटीका की । श्री  
योगीन्द्रदेवने प्रभाकरमहर्षे समझानेकेलिये तीनसौ तैतालीस दोहा किये उसपर श्री ब्रह्म-  
देवने संस्कृतटीका पांच हजार चार प्रमाण की । उसपर दौलतरामने भाषावचनिकाके  
श्लोक अष्टमटिमा नव्वै संख्याप्रमाण किये ।

इमप्रकार श्री योगीन्द्राचार्य विरचित परमात्मप्रकाशकी  
पं० दौलतराम कृत भाषाटीका समाप्त हुई.



## अथ परमात्मप्रकाशस्य विषयानुक्रमणिका ।



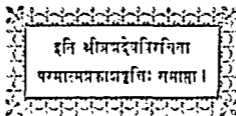
विषय	पृ.सं. दो.सं.	विषय	पृ.सं. दो.सं.
मंगलाचरण ....	... ११	निश्चय सम्यग्दृष्टिका स्वरूप	८२।७७
त्रिविधात्माधिकार ॥ १ ॥		मिथ्यादृष्टिके लक्षण ....	८३।०८
श्रीयोगीन्द्रगुरुसे प्रभाकरभट्टका		सम्यग्दृष्टिकी भावना ....	८९।८६
प्रश्न ....	१६।८	भेदविज्ञानकी मुख्यतासे आत्माका	
श्रीगुरुका तीन प्रकार आत्माके		कथन ....	९६।९४
कथनका उपदेशरूप उत्तर	१९।११	मोक्षाधिकार ॥ २ ॥	
बहिरात्माका लक्षण ....	२२।१३	मोक्षके वारेमें प्रश्न ....	१२८।१२७
अंतरात्माका स्वरूप ....	२३।१४	मोक्षके विषयमें उत्तर	१२८।१२८
परमात्माका लक्षण ....	२४।१५	मोक्षका फल ....	१३९।१३७
परमात्माके स्वरूप जाननेकी		मोक्षमार्गका व्याख्यान	१३९।१३८
रीति ....	२६।१७	अभेदरत्नत्रयका व्याख्यान	१६७।१५७
शक्तिरूपसे सब जीवोंके शरीरमें		परम उपशमभावकी मुख्यता	१७८।१६५
परमात्मा विराजमान है	३३।२६	निश्चयसे पुण्यपापको एकपना	१९४।१८०
जीव और अजीवमें लक्षण-		शुद्धोपयोगकी मुख्यता	२०९।१९४
भेदसे भेद है ....	३६।३०	( चूलिकाव्याख्यान )	
शुद्धात्माका मुख्य लक्षण ...	३७।३१	परद्रव्यके संबंधका त्याग	२५२।२३५
शुद्धात्माके ध्यानसे संसार-		त्यागका दृष्टांत ....	२५४।२३७
भ्रमणका रुकना....	३८।३२	मोहका त्याग ....	२५५।२३८
जीवको अपने २ देहके प्रमाण		इंद्रियोंमें लंपटी जीवोंका	
माननेमें अपने मत और		विनाश ...	२५८।२४२
परमतका विचार ....	५४।५१	लोभकृपायमें दोष ...	२६०।२४३
द्रव्य गुण पर्यायकी मुख्यतासे		द्वेष्टका त्याग ....	२६१।२४४
आत्माका कथन ....	५९।५६	जीवहिंसाका दोष ...	२६८।२५५
द्रव्यगुणपर्यायका स्वरूप ...	६१।५७	जीवरक्षासे लाभ	२७१।२५७
जीवकर्मके संबंधका विचार	६४।५९	अभ्रुवभावना	२७३।२५९
आत्माका परयत्नुसे भिन्नपनेका		जीवकी शिक्षा	२७८।२६३
कथन ....	७४।६८	पंचेन्द्रियको जीतना	२८१।२६६



पंचेन्द्रियविरयव्यापारमनोवचनदायव्यापारभाषकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरयानिपूजासामट्टपुता-  
नुमूनभोगाकांक्षाभ्यनिदानमायामिध्यागस्यप्रयारिमर्षविभाषपरिणामरहितगूयोऽहं, जगत्त्रये  
कालप्रदेनि मनोवचनकार्यैः कृतकारितानुमनैश्च शुद्धनिश्चयनयेन । तथा सर्वेपि जीवाः,  
इति निरंतरं भावना कर्तव्येति ॥ प्रथमंन्या ५००० ।

पंडेतरानदि परवरदि, पुत्रिड भमिभरेण ।

मिरिमामनु जिनभामियड, पंडड मुत्तवगणदि ॥ १ ॥



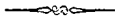
दुर्भेद निवृत्तभेदक वृत्तिको प्राप्त होवे ॥ यद् परमात्मप्रकाश प्रथका व्याख्यान प्रभाकर  
ब्रह्मे संवेगनेकप्रिये श्रीयोगीन्द्रदेवने किया उगपर भी प्रमदेवने संभूतटीका की । भी  
को श्रीदेवने प्रमदप्रवृत्ते समझानेकप्रिये तीनमी सेनालीम दोरा किये उगपर भी प्रम-  
देवने संभूतटीका पाच ह्यार सात प्रमाण की । उगपर दौन्दनगमने मायावचनिकाके  
कोड अहमदिमै नये संख्याप्रमाण किये ।

इत्यन्तर श्री योगीन्द्राचार्य विरचित परमात्मप्रकाशकी

पं० दौन्दनगम ४१ भाषाटीका समाप्त हुई.



## अथ परमात्मप्रकाशस्य विषयानुक्रमणिका ।

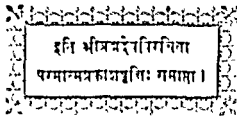


विषय	पृ.सं. दो.सं.	विषय	पृ.सं. दो.सं.
मंगलाचरण ....	... १११	निश्चय सम्यग्दृष्टिका स्वरूप	८२।७७
त्रिविधात्माधिकार ॥ १ ॥	१११	निष्प्यादृष्टिके लक्षण ....	८३।७८
क्षीदोगीन्द्रगुरसे प्रभाकरमट्टका		सम्यग्दृष्टिकी भावना ....	८९।८६
प्रश्न ....	१६।८	भेदविज्ञानकी मरुत्पतासे आत्माका	
क्षीगुरुका तीन प्रकार आत्माके		कथन ....	९६।९४
कथनका उपदेशरूप उत्तर	१९।११	<b>मोक्षाधिकार ॥ २ ॥</b>	
सहिरात्माका लक्षण ....	२२।१३	मोक्षके वारेमें प्रश्न ....	१२८।१२७
अंतरात्माका स्वरूप ....	२३।१४	मोक्षके विषयमें उत्तर	१२८।१२८
परमात्माका लक्षण ....	२४।१५	मोक्षका फल ....	१३९।१३७
परमात्माके स्वरूप जाननेकी		मोक्षमार्गका व्याख्यान	१३९।१३८
रीति ....	२६।१७	अभेदरत्नत्रयका व्याख्यान	१६७।१५७
शक्तिरूपसे सब जीवोंके शरीरमें		परम उपशमभावकी मुख्यता	१७८।१६५
परमात्मा विराजमान है	३३।२६	निश्चयसे पुण्यपापको एकपना	१९४।१८०
जीव और अजीवमें लक्षण-		शुद्धोपयोगकी मुख्यता	२०९।१९४
भेदसे भेद है ....	३६।३०	<b>( चूलिकाव्याख्यान )</b>	
शुद्धात्माका मुख्य लक्षण ...	३७।३१	परद्रव्यके संबंधका त्याग	२५२।२३५
शुद्धात्माके ध्यानसे संसार-		त्यागका दृष्टांत ...	२५४।२३७
भ्रमणका रुकना....	३८।३२	मोहका त्याग ....	२५५।२३८
जीवको अपने २ देहके प्रमाण		इंद्रियोंमें लंपटी जीवोंका	
माननेमें अपने मत और		विनाश ...	२५८।२४२
परमतका विचार ....	५४।५१	लोभकपायमें दोष ...	२६०।२४३
द्रव्य गुण पर्यायकी मुख्यतासे		खेहका त्याग ....	२६१।२४४
आत्माका कथन ...	५९।५६	जीवहिसाका दोष ...	२६८।२५५
द्रव्यगुणपर्यायका स्वरूप ....	६१।५७	जीवरक्षासे लाभ .	२७१।२५७
जीवकर्मके सबधका विचार	६४।५९	अध्रुवभावना	२७३।२५९
आत्माका परवस्तुसे भिन्नपनेका		जीवको शिक्षा .	२७८।२६३
कथन ...	७४।६८	पंचेन्द्रियको जीतना	२८१।२६६

पंचेन्द्रियविषयव्यापारमनोवचनहाव्यापारभावकर्मद्रव्यकर्मनो कर्मस्यैवातिपूजान्याभरदृष्ट्या-  
नुभूतभोगकर्मकारुणिकदानमायाभिष्यासत्यप्रयतिमर्विभावरतिनामरहितगुणोऽयं, जगद्वे  
द्यात्प्रयेति मनोवचनकार्यैः कृतकारितानुमत्तैश्च मुद्गनिभवनयेन । तथा सर्वेति जीवाः,  
इति निरंदरं भावना कर्तव्येति ॥ संयमंश्वा ४००० ।

पंडेवरानदि परररदि, पुनित भगिभरेन ।

निरिमाम्नु तिमभागियड, णंरड मुक्कगणदि ॥ १ ॥



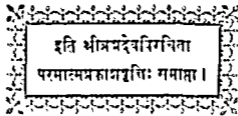
अथ परमानन्दमन्त्रान्य त्रिपद्यानुक्रमणिका ।

विषय	पृ. सं. दो. सं.	विषय	पृ. सं. दो. सं.
सिद्धिप्राप्तिका ..... ..	१११	निश्चय सम्पत्ति का मन्त्र	८२१७७
त्रिदिशायाधिकार ॥ १ ॥		निश्चयदृष्टिके लक्षण ....	८२१७८
श्रीश्रीश्रीश्रीश्री महाशक्ति का		सम्पत्ति की भावना ....	८२१८६
मन्त्र ..... ..	१६१८	भेदविज्ञान की मुख्यतामे आत्मिका	
श्रीश्रीश्रीश्री महाशक्ति का भावने		वचन .... ..	९६१९७
रक्षण का उपदेश रूप उत्तर	१९१११	मोक्षाधिकार ॥ २ ॥	
श्रीश्रीश्रीश्री महाशक्ति का लक्षण ....	२२१११	मोक्षके बारेमे मन्त्र ....	१२८१२३७
श्रीश्रीश्रीश्री महाशक्ति का स्वरूप ....	२२११४	मोक्षके विषयमे उत्तर	१२८१२२८
परमानन्द का लक्षण ....	२४११५	मोक्ष का फल .... ..	१३९११३७
परमानन्दके स्वरूप ज्ञान की		मोक्षमार्ग का व्याख्यान	१३९११३८
शक्ति ..... ..	२६११७	अभेदरत्नत्रय का व्याख्यान	१६७११५७
शक्ति रूपमे सब जीवोंके शरीरमे		परम उपशमभाव की मुख्यता	१७८११६५
परमानन्द विराजमान है	२३१२६	निश्चयसे पुण्यपापको एकपना	१९४११८०
श्रीश्रीश्रीश्री महाशक्ति के लक्षण-		मुद्रोपयोग की मुख्यता	२०९११९४
भेदमे भेद है .... ..	२६१३०	( षूटिका व्याख्यान )	
मुद्राभाषा मुख्य लक्षण ...	२७१३१	परब्रह्मके संबंध का त्याग	२५२१२३५
मुद्राभाषाके ध्यानमे संसार-		त्याग का दर्शन ... ..	२५४१२३७
भ्रमण का रचना .... ..	२८१३२	मोक्ष का त्याग .... ..	२५५१२३८
जीवको अपने २ देहके प्रमाण		इंद्रियोंमे लपटी जीवोंका	
माननेमे अपने मत और		विनाश ... ..	२५८१२४२
परमत्त का विचार ...	५४१५१	लोक रूपपापमे दोष ...	२६०१२४३
श्रेष्ठ गुण पर्याय की मुख्यतासे		ब्रह्म का त्याग .... ..	२६११२४४
आत्मिका वचन	५९१५६	जीवहिंसा का दोष ...	२६८१२५५
श्रेष्ठ गुण पर्याय का स्वरूप	६११५७	जीवरक्षामे लाभ .	२७११२५७
जीवकर्मके सन्धका विचार	६४१५९	अश्रुभावना	२७३१२५९
आत्मिका परब्रह्ममे मिलपनेका		जीवकी शिक्षा	२७८१२६३
वचन	७४१६८	पंचेन्द्रियको जीतना	२८११२६६

पंचेन्द्रिविषयव्यापारमनोवचनकायव्यापारभावकर्मद्रव्यकर्मनो कर्मरथातिपूजात्तामदृष्टधुता-  
नुभूतभोगाकांशारूपनिदानमायानिध्यागल्यत्रयादिमर्विभावपरिणामरहितगूढोष्टं, उगवये  
काष्ठत्रयेण मनोवचनकायैः कृतकारितानुमनैश्च शुद्धनिश्चयनयेन । तथा सर्वेषु जीवाः,  
इति निरंतरं भावना कर्तव्येति ॥ ग्रंथसंख्या ४००० ।

पंडेवरानहि परवरहि, पुनिउ भसिभरेण ।

भिरिमामनु जिगभासियउ, णंदउ मुस्समाणहि ॥ १ ॥



दुर्भेदं किञ्चाभीह्वं वृद्धिर्को प्राप्त होवे ॥ यह परमात्मप्रकाश ग्रंथका व्याख्यान समाप्त  
महोदय श्रीयोगीन्द्रदेवने किया उगपर श्री प्रमददेवने संस्कृतटीका की । श्री  
योगीन्द्रदेवने प्रनाचमहोदय समझनेकेलिये तीनमौ लेखनीय दोहा किये उगपर श्री प्रम-  
ददेवने संस्कृतटीका पाच हवाय चार प्रमाण की । उगपर दोउतगमने भाषावचनिकाके  
दोह अदृष्टिमे तमै मण्याप्रमाण किये ।

इसप्रकार श्री योगीन्द्राचार्य विगिन परमात्मप्रकाशकी  
पं० दोउतगम हुन भाषाटीका समाप्त हुई.



विषय	पृ.सं. दो.सं.
इंद्रियसुखको अनित्यपना	२८३।२६९
मनको जीतनेसे इंद्रियोंका जीतना .... ..	२८५।२७१
सम्यक्त्वकी दुर्लभता ....	२८८।२७४
गृहवास व ममत्वमें दोष	२९०।२७५
देहसे ममत्वत्याग ....	२९१।२७६
देहकी भलिनताका कथन	२९३।२७२
आत्माधीन सुखमें प्रीति	२९८।२८५
चित्त स्थिर करनेसे आत्मस्व- रूपकी प्राप्ति ....	३००।२८७
निर्विकल्प समाधिका कथन	३०४।२९२
दानपूजादि श्रावकधर्मपरंपरा मोक्षका कारण है ....	३१२।२९९

विषय	पृ.सं. दो.सं.
चिंतारहित ध्यानमुक्तिका कारण	३१३।३००
यह आत्माही परमात्मा है	३१८।३०५
देह और आत्माकी भेदभावना	३२०।३०८
सर्वचिंताओंका निषेध	३२७।३१८
परमसमाधिका व्याख्यान	३२९।३२०
अर्हतपदका कथन ....	३३४।३२६
परमात्मप्रकाश शब्दका अर्थ	३३७।३२९
सिद्धस्वरूपका कथन ....	३३९।३३२
परमात्मप्रकाशका फल	३४२।३३५
परमात्मप्रकाशके योग्य पुरुष	३४४।३३८
परमात्मप्रकाशशास्त्रका फल	३४९।३४४
अंतिम मंगल .... ..	३५०।३४५



विषय	पृ.सं. दो.सं.
इंद्रियसुखको अनित्यपना	२८३।२६९
मनको जीतनेसे इंद्रियोंका	
जीतना .... ..	२८५।२७१
सम्यक्त्वकी दुर्लभता ....	२८८।२७४
गृहवास व ममत्वमें दोष	२९०।२७५
देहसे ममत्वत्याग ....	२९१।२७६
देहकी मलिनताका कथन	२९३।२७९
आत्माधीन सुखमें प्रीति	२९८।२८५
चित्त स्थिर करनेसे आत्मस्व-	
रूपकी प्राप्ति ....	३००।२८७
निर्विकल्प समाधिका कथन	३०४।२९२
दानपूजादि श्रावकधर्मपरंपरा	
मोक्षका कारण है ....	३१२।२९९

विषय	पृ.सं. दो.सं.
चिंतारहित ध्यानमुक्तिका कारण	३१३।३००
यह आत्माही परमात्मा है	३१८।३०५
देह और आत्माकी भेदभावना	३२०।३०८
सर्वचिंतार्थोंका निषेध	३२७।३१८
परमसमाधिका व्याख्यान	३२९।३२०
अर्हतपदका कथन ....	३३४।३२६
परमात्मप्रकाश शब्दका अर्थ	३३७।३२९
सिद्धस्वरूपका कथन ....	३३९।३३२
परमात्मप्रकाशका फल	३४२।३३५
परमात्मप्रकाशके योग्य पुरुष	३४४।३३८
परमात्मप्रकाशशास्त्रका फल	३४९।३४४
अंतिम मंगल .... ..	३५०।३४५

